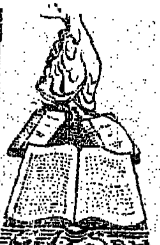


सस्ता साहित्य-प्रकाशन

इतिहास
के
महापुरुष

जवाहरलाल नेहरू

●

१९६०
सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मण्डल
नई दिल्ली

पहली बार : १९६०
मूल्य
तीन रुपये

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स,
(दि टाइम्स ऑफ इंडिया प्रेस)
दिल्ली

प्रकाशकीय

पं० जवाहरलाल नेहरू की वैसे तो सभी पुस्तकें बहुत ही लोकप्रिय है, लेकिन उनकी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की पुस्तकों में 'विश्व इतिहास की झलक' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पाठक जानते है कि वह इतिहास की कोई सामान्य पुस्तक नही है, उसमे लेखक ने संसार के इतिहास का एक नये दृष्टिकोण से सिंहावलोकन किया है और इस प्रकार भारत के ही नहीं, संसार के पाठकों के लिए वह एक विशिष्ट ग्रंथ बन गया है।

प्रस्तुत पुस्तक की सामग्री इसी ग्रंथ से ली गई है। विद्वान लेखक ने अपने विशाल ग्रंथ में ऐसे अनेक महापुरुषों का वर्णन किया है, जिन्होंने इतिहास की धारा को एक नया मोड़ दिया अथवा अध्यात्म, दर्शन, साहित्य, कला और संस्कृति के क्षेत्र में इतना ऊंचा काम किया कि उनका नाम सदा के लिए अमर हो गया।

इस पुस्तक का आरंभ आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले के दो महापुरुष बुद्ध और महावीर के वर्णन से होता है और फिर संसार के चुने हुए राजनेताओं, शासकों, तत्त्ववेत्ताओं, साहित्य और कला के उन्नायकों आदि का विवेचन करते हुए तुर्की के महान नेता मुस्तफा कमाल पाशा के साथ इसका अंत हो जाता है। इसमें कोई संदेह नही कि जिन चरित्रों को इस पुस्तक में लिया गया है, उनके जीवनवृत्त आज भी हमें प्रेरणा देते हैं।

स्वतंत्र देश के प्रत्येक नागरिक के लिए विश्व के इतिहास की जानकारी आवश्यक है; विशेषकर नई पीढ़ी के लिए, जो देश का नवनिर्माण

करती है। इस पुस्तक का प्रकाशन इसी विचार से किया जा रहा है कि हमारे युवक इसे पढ़ें और इतिहास के महापुरुषों के जीवन तथा कार्यों से प्रेरणा लेकर देश के महान दायित्व के योग्य अपने को बनावें।

पुस्तक की सामग्री का चयन और सम्पादन हिन्दी के सुलेखक श्री विष्णु प्रभाकर ने किया है।

हमें विश्वास है कि हमारी शिक्षा-संस्थाए इस पुस्तक के पढ़ने का युवकों को विशेष रूप से अवसर प्रदान करेंगी।

—मंत्री

विषय-सूची

इ ति हा स

के

महापुरुष

इतिहास के महापुरुष

: १ :

महावीर और बुद्ध

भारत में महावीर और बुद्ध हुए। महावीर ने आजकल का प्रचलित जैनधर्म चलाया। इनका असली नाम वर्द्धमान था। महावीर तो उन्हें दी गई महानता की एक पदवी है। जैन लोग ज्यादातर पश्चिमी भारत और काठियावाड़ में रहते हैं। दक्षिण, काठियावाड़ और राजस्थान में आबू पहाड़ पर इनके बड़े सुन्दर मंदिर हैं। अहिंसा में इनकी बड़ी श्रद्धा है और ये ऐसे कामों के बिल्कुल खिलाफ हैं, जिनसे किसी भी जीव को तकलीफ पहुंचे। इस सिलसिले में यह जानकारी दिलचस्प होगी कि पाइथागोरस कट्टर निरामिष-भोजी था। उसने अपने शिष्यों के लिए भी यह नियम बना दिया था कि कोई मांस न खाय।

गौतम बुद्ध क्षत्रिय थे और एक राजवंश के राजकुमार थे। सिद्धार्थ उनका नाम था। उनकी माता का नाम महारानी माया था। प्राचीन जातक-कथा में लिखा है कि महारानी माया "पूर्ण चन्द्र की तरह उल्लास के साथ पूजने योग्य, पृथ्वी के समान दृढ़ और स्थिर-निश्चयवाली तथा कमल के समान पवित्र हृदयवाली थी।"

माता-पिता ने गौतम को हर तरह के ऐश-आराम में रखा और यह कोशिश की कि दुःख-दर्द और रोग-शोक के दृश्यों से वह बिल्कुल दूर रहें। लेकिन यह सम्भव नहीं हो सका—और कहा जाता है कि उन्होंने एक कंगाल, एक रोगी और एक मुर्दा देखा, जिनका उनके हृदय पर बहुत असर हुआ। इसके बाद राजमहल में उन्हें ज़रा भी शांति नहीं रही और ऐश-आराम के सारे साधन, जिनसे वह चारों ओर घिरे रहते थे, यहांतक कि

उनकी सुन्दर युवा पत्नी, जिसे वह प्यार करते थे, दुःख-तप्त मानवता की ओर से उनका चित्त न हटा सके। उनके हृदय की यह चिन्ता और इन दुःखों को दूर करने के उपाय खोजने की इच्छा दिन-पर-दिन बढ़ती ही गई। यहां-तक कि वह इस हालत को बरदाश्त न कर सके और अंत में एक रात म चुप-चाप अपने राजमहल और प्रियजनों को छोड़कर, जिन प्रश्नों ने उन्हें परेशान कर रखा था, उनके समाधान की खोज में, इस लम्बी-चौड़ी दुनिया में अकेले निकल पड़े। इस समाधान की खोज में उन्हें बहुत वक्त लगा और बहुत तकलीफें उठानी पड़ीं। आखिर बहुत वर्षों बाद, गया में एक बट-वृक्ष के नीचे बैठे हुए उन्हें 'बुधत्व' प्राप्त हुआ और वह बुद्ध हो गये। जिस पेड़ के नीचे वह बैठे थे, वह 'बोधि-वृक्ष' के नाम से मशहूर हो गया। प्राचीन काशी की छाया में बसे हुए सारनाथ के, जो उस जमाने में इतिपत्तन या ऋषिपत्तन कहलाता था, हरिण क्षेत्र में बुद्ध ने अपने सिद्धांतों का प्रचार शुरू किया। उन्होंने सद्जीवन का रास्ता बताया। देवताओं के नाम पर की जानेवाली पशु-बलि वगैरह की उन्होंने निन्दा की और इस बात पर जोर दिया कि इन बलिदानों के बजाय मनुष्य को क्रोध, द्वेष, ईर्ष्या और बुरे-बुरे विचारों का बलिदान करना चाहिए।

बुद्ध के जन्म के समय, भारत में पुराना वैदिक धर्म प्रचलित था, लेकिन वह बहुत बदल गया था और अपने ऊंचे आदर्शों से नीचे गिर चुका था। ब्राह्मण-पुरोहितों ने तरह-तरह के कर्म-काण्ड, पूजापाठ और अंधविश्वास जारी कर दिये थे। जाति का बंधन बहुत कड़ा होता जा रहा था और आम लोग शकुन, मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोने और स्यानों से डरते थे। इन तरीकों से पुरोहितों ने जनता को अपनी मुट्ठी में कर रखा था और क्षत्रिय राजाओं की सत्ता को चुनौती देने लगे थे। इस तरह क्षत्रियों और ब्राह्मणों में संघर्ष चल रहा था। उसी समय बुद्ध एक बहुत बड़े लोकप्रिय सुधारक के रूप में प्रकट हुए और उन्होंने पुरोहितों के इन अत्याचारों पर और पुराने वैदिक धर्म में जो खराबियां आ गई थीं, उनपर हमला बोल दिया। उन्होंने शुद्ध जीवन बिताने और भले काम करने पर ज़ोर दिया और पूजा-पाठ वगैरह का निषेध किया। उन्होंने बौद्धधर्म को माननेवाले भिक्खु और भिक्खु-नियों की संस्था 'बौद्ध-संघ' का भी संगठन किया।

कुछ दिनों तक धर्म के रूप में बौद्धधर्म का प्रचार भारत में बहुत नहीं हुआ। आगे चलकर यह खूब फैला और फिर भारत में एक अलग धर्म के रूप में यह करीब-करीब मिट-सा गया। जहां लंका से लेकर चीन तक दूर-दूर के मुल्कों में यह धर्म सर्वोपरि हो गया, वहां अपनी जन्मभूमि भारत में यह फिर ब्राह्मणधर्म या हिन्दूधर्म में समा गया। लेकिन ब्राह्मणधर्म पर इसका बहुत बड़ा असर पड़ा और इसने हिन्दूधर्म में से बहुत-से अन्धविश्वास और पाखंड हटा दिये।

: २ :

सुकरात

सुकरात तत्वज्ञानी था और हमेशा सत्य की खोज में रहता था। उसके लिए सच्चा ज्ञान ही एक ऐसी चीज थी, जिसे वह प्राप्त करने योग्य समझता था। वह अपने मित्रों और जान-पहचान के लोगों से अक्सर कठिन समस्याओं पर चर्चाएं करता रहता था, ताकि बहस-मुबाहिसे में शायद कोई सचाई निकल आये। उसके कई शिष्य थे, जिनमें सबसे महान अफलातून था। अफलातून ने कई किताबें लिखी हैं, जो आज भी मिलती हैं। इन्हीं किताबों से हमें सुकरात का बहुत-कुछ हाल मालूम होता है। यह तो साफ है कि सरकारें ऐसे आदमियों को पसन्द नहीं किया करतीं, जो हमेशा नई-नई खोज में लगे रहते हों। वे सचाई की तलाश पसन्द नहीं करतीं। एथेन्स की सरकार को—यह पेरिक्लीज के जमाने के थोड़े दिन बाद की बात है—सुकरात का रंग-ढंग पसन्द नहीं आया। उसपर मुकदमा चलाया गया और उसे मौत की सजा दी गई। सरकार ने उससे कहा कि अगर वह लोगों से बहस-मुबाहिसा करना छोड़ दे और अपनी चाल-ढाल बदल दे तो उसे छोड़ दिया जा सकता है। लेकिन सुकरात ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया और जिस बात को अपना फर्ज समझता था, उसे छोड़ने के बजाय उस जहर के प्याले को अच्छा समझा, जिसे पीकर वह मर गया। मरते वक्त उसने अपने पर इलजाम लगानेवालों, न्यायाधीशों और एथेन्सवासियों को सम्बोधित करते हुए कहा :

"अगर आप लोग मुझे इस शर्त पर रिहा करना चाहते हों कि मैं सत्य की अपनी खोज को छोड़ दूं तो मैं यह कहूंगा कि हे एथेन्सवासियो, मैं आप लोगों को धन्यवाद देता हूं; पर मैं आपकी बात मानने के बजाय ईश्वर का हुक्म मानूंगा, जिसने, जैसाकि मेरा विश्वास है, मुझे यह काम सौंपा है और जबतक मेरे दम-में-दम है, मैं अपनी दार्शनिक चर्चा से बाज नहीं आऊंगा। मैं अपना यह तरीका बराबर जारी रखूंगा कि जो कोई मुझे मिलेगा, उसे रोककर मैं यही पूछूंगा—'क्या तुम्हें इस बात में शर्म नहीं लगती कि तुमने अपना ध्यान धन और इज्जत के पीछे लगा रखा है और सचाई या ज्ञान की या अपनी आत्मा को उच्च बनाने की तुम्हें कोई चिन्ता नहीं है?' मैं नहीं जानता कि मौत क्या चीज है। मुमकिन है, वह अच्छी चीज हो—मैं उससे नहीं डरता। लेकिन मैं यह अच्छी तरह जानता हूं कि अपनी जिम्मेदारी की जगह को छोड़कर भाग जाना बुरा काम है। और इसलिए मैं जिस चीज को निश्चयपूर्वक बुरी मानता हूं, उससे उस चीज को बेहतर समझता हूं, जो मुझे अच्छी दिखाई पड़ती है।"

अपनी जिन्दगी में सुकरात ने सत्य और ज्ञान के प्रचार का काम किया, लेकिन इससे भी ज्यादा काम उसने अपनी मौत के द्वारा कर दिया।

दुनिया में बहुत-सी मुसीबतें और अन्याय पाये जाते हैं। बहुत-से लोग इस दशा से पूरी तरह असन्तुष्ट हैं और इसे बदलना चाहते हैं। अफलातून ने शासन-सम्बन्धी समस्याओं पर विचार किया था और इस विषय पर उसने लिखा भी है। इस प्रकार उस जमाने में भी लोग इस बात पर विचार किया करते थे कि किसी देश के समाज को या सरकार को कैसे ढाला जाय, जिससे चारों ओर ज्यादा सुख-शान्ति हो।

जब अफलातून बूढ़ा होने लगा तो एक दूसरा यूनानी, जो बाद में बहुत मशहूर हो गया, आगे आया। उसका नाम था अरस्तू। वह महान सिकन्दर का निजी शिक्षक रह चुका था और सिकन्दर ने उसके काम में बहुत मदद की थी। सुकरात और अफलातून की तरह अरस्तू तत्वज्ञान की समस्याओं में नहीं उलझता था। वह ज्यादातर कुदरत की चीजों के निरीक्षण और उसके तौर-तरीकों के समझने में लगा रहता था। इसको

प्रकृति-दर्शन या आजकल अक्सर विज्ञान कहते हैं। इस तरह अरस्तू को पहले जमाने का एक वैज्ञानिक मान सकते हैं।

: ३ :

सिकन्दर

सिकन्दर मकदूनिया का रहनेवाला था, जो यूनान के ठीक उत्तर में है। सिकन्दर का पिता फिलिप मकदूनिया का बादशाह था। वह बहुत काबिल था। उसने अपने छोटे-से राज्य को बहुत मजबूत बना लिया था और एक बहुत होशियार सेना संगठित कर ली थी। सिकन्दर 'महान' कहलाता है और इतिहास में बहुत मशहूर है। लेकिन उसने जो कर दिखाया, इसकी बहुत-कुछ वजह यह थी कि उसके पिता ने पहले ही से उसके लिए जमीन तैयार कर रखी थी। सिकन्दर वास्तव में बड़ा आदमी था या नहीं, यह कहना मुश्किल है। कम-से-कम मैं अपने अनुकरण करने लायक वीर उसे नहीं मानता। लेकिन थोड़ी ही जिन्दगी में उसने दो महाद्वीपों पर अपने नाम की छाप डाल दी और इतिहास में वह पहला विश्व-विजेता माना जाता है। दूर मध्य-एशिया के भीतर के देशों में सिकन्दर के नाम से वह अभीतक मशहूर है। असल में वह चाहे जैसा रहा हो, पर इतिहास ने उसके नाम को बड़ा शानदार बना दिया है। बीसियों शहर उसके नाम पर बसाये गये, जिनमें से बहुत-से आजतक भी मौजूद हैं। इनमें सबसे बड़ा शहर मिस्र का सिकन्दरिया (अलेग्जेंड्रिया) है।

जब सिकन्दर बादशाह हुआ, उसकी उम्र सिर्फ़ बीस साल की थी। महानता प्राप्त करने के हौसले से उसका दिल इतना भरा हुआ था कि वह अपने पिता द्वारा सुसंगठित सेना को लेकर अपने पुराने दुश्मन ईरान पर धावा करने के लिए बेताब हो रहा था। यूनानी लोग न तो फ़िलिप को चाहते थे, न सिकन्दर को; लेकिन उनकी ताकत को देखकर वे लोग कुछ दब-से गये थे। इसलिए सब यूनानियों ने ईरान पर धावा करनेवाली सेना का सेनापति पहले फिलिप को, और बाद में सिकन्दर को, मान लिया था। इस तरह उन्होंने इस नई ताकत के सामने सिर झुका दिया, जो उस समय पैदा

हो रही थी। थीब्स नाम के एक यूनानी शहर ने सिकन्दर का आधिपत्य नहीं माना और बग़ावत कर दी। इसपर सिकन्दर ने उसपर बड़ी क्रूरता और निर्दयता के साथ आक्रमण करके उस मशहूर शहर को नष्ट कर दिया, उसकी इमारतें ढहा दीं, बहुत-से नगर-निवासियों को क़त्ल कर डाला और हज़ारों को गुलाम बनाकर बेच दिया। इस क्रूर बर्ताव से उसने यूनान को और भयभीत कर दिया। सिकन्दर के जीवन में बर्बरता की यह और इसी तरह की दूसरी घटनाएं ऐसी हैं, जिनकी वजह से सिकन्दर हमारी नज़रों में तारीफ़ के क़ाबिल नहीं रह जाता। हमें उससे नफ़रत पैदा होती है और हम उससे दूर भागने की कोशिश करते हैं।

सिकन्दर ने मिस्र को, जो उस वक़्त ईरानी बादशाह के अधीन था, आसानी से जीत लिया। इसके पहले ही वह ईरान के बादशाह तीसरे दारा को, जो क्षयार्श का उत्तराधिकारी था, हरा चुका था। बाद में उसने ईरान पर फिर हमला किया और दारा को दूसरी बार हराया। शहंशाह दारा के विशाल महल को उसने यह कहकर तहस-नहस कर दिया कि क्षयार्श ने एथेन्स को जो जलाया था, उसीका यह बदला है।

फ़ारसी भाषा में एक पुरानी किताब है, जो फ़िरदौसी नामक कवि ने एक हज़ार वर्ष हुए लिखी थी। उसे 'शाहनामा' कहते हैं। यह ईरान के बादशाहों का एक सिलसिलेवार इतिहास है। इसमें दारा और सिकन्दर की लड़ाइयों का बहुत काल्पनिक ढंग से वर्णन किया गया है। उसमें लिखा है कि सिकन्दर से हार जाने पर दारा ने भारत से मदद मांगी। 'हवा की तरह तेज़ रफ़्तार से चलनेवाला ऊंट-सवार' पुरु या पोरस के पास पहुंचा, जो उस समय भारत के उत्तर-पश्चिम में राज्य करता था। लेकिन पोरस उसकी ज़रा भी मदद न कर सका। थोड़े दिनों बाद उसे ख़ुद ही सिकन्दर के हमले का मुक़ाबला करना पड़ा। फ़िरदौसी के इस शाहनामे में एक बड़ी दिलचस्प बात यह है कि उसमें भारत की तलवारों और कटारों का ईरानी राजाओं और सरदारों द्वारा इस्तेमाल किये जाने का बहुत काफ़ी ज़िक्र है। इससे पता चलता है कि सिकन्दर के ज़माने में भी भारत में बढ़िया फ़ौलाद की तलवारें बनती थीं, जिनकी विदेशी मुल्कों में बड़ी क़दर थी।

सिकन्दर ईरान से आगे बढ़ता गया। उस इलाक़े को, जहां आज ईरान,

काबुल और समरक़न्द हैं, पार करता हुआ वह सिन्ध नदी की उत्तरी घाटी तक पहुंच गया। वहींपर उसकी उस भारतीय राजा से मुठभेड़ हुई, जिसने पहले उसका मुक़ाबला किया। यूनान के इतिहास-लेखक उसका नाम अपनी भाषा में 'पोरस' बताते हैं। उसका असली नाम भी कुछ इसी तरह का रहा होगा, लेकिन हम नहीं जानते कि वह क्या था। कहते हैं कि पोरस ने बड़ी बहादुरी से मुक़ाबला किया और उसे जीतना सिकन्दर के लिए कोई आसान काम साबित नहीं हुआ। कहते हैं, वह बहुत लम्बे डील-डौल का और बड़ा बहादुर आदमी था। सिकन्दर पर उसकी हिम्मत और बहादुरी का इतना असर पड़ा कि हराने के बाद भी उसने पोरस को उसकी गद्दी पर क़ायम रखा। लेकिन अब वह राजा के बजाय यूनानियों के मातहत एक क्षत्रप यानी गवर्नर रह गया।

सिकन्दर उत्तर-पश्चिम के खैबर के दर्रे को पारकर रावलपिंडी से कुछ दूर उत्तर में तक्षशिला के रास्ते भारत में आया। आज भी इस पुराने शहर के खंडहर देखने को मिल सकते हैं। पोरस को हराने के बाद सिकन्दर ने दक्षिण की ओर गंगा की तरफ़ बढ़ने का इरादा किया था। लेकिन बाद में उसने ऐसा नहीं किया और सिन्ध नदी की घाटी में से होकर वह वापस चला गया। यह एक दिलचस्प ख़याल है कि अगर सिकन्दर भारत के अन्दर के हिस्से की तरफ बढ़ा होता तो क्या हुआ होता। क्या उसकी विजय जारी रहती? या भारतीय सेनाओं ने उसे शिकस्त दे दी होती? पोरस के-से एक सरहदी राजा ने जब उसे इतना परेशान किया तो यह बहुत मुमकिन था कि मध्य-भारत के बड़े-बड़े राज्य सिकन्दर को रोकने के लिए काफ़ी मज़बूत साबित होते। लेकिन सिकन्दर की इच्छा कुछ भी क्यों न रही हो, उसकी सेना ने उसे एक निश्चय पर पहुंचने को मजबूर कर दिया। बरसों से घूमते-घूमते उसके सिपाही बहुत थक गये थे और ऊब गये थे। शायद भारतीय सिपाहियों के रण-कौशल का भी उनपर असर पड़ा और वे हार की जोखिम नहीं उठाना चाहते थे। वजह चाहे जो रही हो, सेना ने वापस लौटने की ज़िद की और सिकन्दर को राजी होना पड़ा। लेकिन वापसी का सफ़र बहुत मुसीबत का साबित हुआ। रसद और पानी की कमी की वजह से फौज को बहुत नुकसान पहुंचा। इसके बाद ही, ईसा से

२३२ साल पहले, सिकन्दर बाबल पहुंचकर मर गया। ईरान पर हमला करने के लिए रवाना होने के बाद वह अपनी मातृ-भूमि को फिर नहीं देख पाया।

इस तरह सिकन्दर तेंतीस बरस की उम्र में मर गया। इस 'महान' आदमी ने अपनी छोटी-सी जिन्दगी में क्या किया ? इसने कुछ शानदार लड़ाइयां जीतीं। इसमें कोई शक नहीं कि वह बहुत बड़ा सेनानायक था। लेकिन साथ ही वह अभिमानी और घमंडी भी था और कभी-कभी बहुत निर्दयी और उग्र हो जाता था। अपनेको वह देवता के बराबर समझता था। क्रोध के आवेश में या क्षणिक उन्माद में उसने अपने कई सच्चे दोस्तों को क़त्ल कर दिया और बड़े-बड़े शहरों को, उनके रहनेवालों समेत, नष्ट कर डाला। अपने बनाये साम्राज्य में अपने पीछे वह कोई भी ठोस चीज, यहांतक कि अच्छी सड़कें भी, नहीं छोड़ गया। आकाश के टूटनेवाले तारे की तरह वह एकदम चमका और ग़ायब हो गया, और अपने पीछे अपनी स्मृति के अलावा और कुछ भी नहीं छोड़ गया। उसकी मौत के बाद उसके कुटुम्ब के लोगों ने एक-दूसरे को कत्ल कर दिया और उसका महान साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया। सिकन्दर को संसार-विजयी कहा जाता है और कहते हैं कि एक बार वह बैठा-बैठा इसलिए रो उठा कि उसके जीतने के लिए दुनिया में कुछ बाक़ी नहीं बचा था। लेकिन सच तो यह है कि उत्तर-पश्चिम के कुछ हिस्से को छोड़कर वह भारत को ही नहीं जीत सका था। चीन उस वक़्त भी बहुत बड़ा राज्य था और सिकन्दर उसके नजदीक तक भी नहीं पहुंच पाया था।

उसकी मृत्यु के बाद उसके सेनापतियों ने उसकी सल्तनत को आपस में बांट लिया। मिस्र टालमी के हिस्से में पड़ा। उसने वहां एक मज़बूत राज्य की नींव डाली और एक राज-वंश चलाया। इसकी हुकूमत में मिस्र, जिसकी राजधानी सिकेन्दरिया थी, बहुत शक्तिशाली राज्य बन गया। सिकन्दरिया बहुत बड़ा शहर था और विज्ञान, दर्शन तथा विद्या के लिए मशहूर था।

ईरान, इराक़ और एशिया-कोचक का एक हिस्सा दूसरे सेनापति सेल्यूकस के हिस्से में आया। भारत का उत्तर-पश्चिमी हिस्सा भी, जिसे सिकन्दर ने जीता था, इसीको मिला। लेकिन वह भारत के हिस्से

पर अपना अधिकार क़ायम नहीं रख सका और सिकन्दर की मौत के बाद यूनानी सेना यहां से भगा दी गई।

सिकन्दर भारत में ईसा से पहले ३२६वें साल में आया था। इसका आना क्या था, एक तरह का धावा था, जिसका भारत पर कोई असर नहीं पड़ा। कुछ लोगों का खयाल है कि इस धावे ने भारतीयों और यूनानियों में रब्त-जब्त शुरू करने में मदद दी। लेकिन सच तो यह है कि सिकन्दर से पहले भी पूर्व और पश्चिम के देशों में आपस में आमद-रफ़्त थी और भारत का ईरान और यूनान से बराबर सम्पर्क था। सिकन्दर के आने से यह सम्पर्क कुछ और बढ़ा जरूर होगा और भारतीय और यूनानी दोनों सभ्यताएं कुछ ज्यादा हद तक एक-दूसरे से मिल-जुल गई होंगी। 'इण्डिया' शब्द ही यूनानी 'इण्डोस' से बना है और 'इण्डोस' की उत्पत्ति 'इण्डस' अर्थात सिन्ध नदी से हुई है।

: ४ :

चन्द्रगुप्त मौर्य और चाणक्य

मगध एक बहुत पुराना राज्य था और उस जगह बसा हुआ था, जहां आजकल बिहार का प्रान्त है। इस राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी, जो आजकल पटना कहलाता है। जिस समय का हम जिक्र कर रहे हैं, उस समय मगध देश पर नन्द-वंश का राज्य था। जब सिकन्दर ने उत्तर-पश्चिम भारत पर धावा किया था, उस समय पाटलिपुत्र की राजगद्दी पर नन्दवंश का एक राजा राज्य करता था। उस समय वहां चन्द्रगुप्त नाम का एक नवयुवक भी था, जो शायद इस राजा का कोई रिश्तेदार था। मालूम होता है, वह बड़ा चतुर, उत्साही और महत्वाकांक्षी था। नन्द राजा ने उसे जरूरत से ज्यादा चालाक समझकर या उसके किसी काम से नाराज होकर अपने राज्य से निर्वासित कर दिया। शायद सिकन्दर और यूनानियों की कहानियों से आकर्षित होकर चन्द्रगुप्त उत्तर की ओर तक्षशिला चला गया। उसके साथ विष्णुगुप्त नाम का एक विद्वान और अनुभवी ब्राह्मण था, जिसे चाणक्य भी कहते हैं।

चन्द्रगुप्त और चाणक्य दोनों ही कोई नरम और दब्बू स्वभाव के न थे, जो भाग्य और होनहार के सामने सिर झुका देते। उनके दिमाग़ में बड़ी-बड़ी और हौसले से भरी योजनाएं थीं और वे आगे बढ़ना और सफलता प्राप्त करना चाहते थे। चन्द्रगुप्त शायद सिकन्दर के वैभव से चकित और आकर्षित हो गया था और उसके उदाहरण का अनुकरण करना चाहता था। चाणक्य के रूप में उसे एक आदर्श मित्र और सलाहकार मिल गया था। ये दोनों ही सजग रहते थे और ग़ौर से देखते रहते थे कि तक्षशिला में क्या हो रहा है।

जल्दी ही उनको मौका मिल गया। ज्योंही सिकन्दर के मरने की खबर तक्षशिला पहुंची, चन्द्रगुप्त ने समझ लिया कि काम करने का समय आ गया है। उसने आस-पास के लोगों को उभारा और उनकी मदद से यूनानियों की फौज पर, जिसे सिकन्दर छोड़ गया था, आक्रमण कर दिया और उसे भगा दिया। तक्षशिला पर कब्जा करने के बाद चन्द्रगुप्त और उसके सहायकों ने पाटलिपुत्र पर धावा किया और राजा नन्द को हरा दिया। यह ३२१ ई० पू०, अर्थात सिकन्दर की मृत्यु के सिर्फ़ पांच बरस बाद की बात है। इसी समय से मौर्य-वंश का राज्य शुरू होता है। यह साफ-साफ पता नहीं चलता कि चन्द्रगुप्त 'मौर्य' क्यों कहलाया। कुछ लोगों का कहना है कि उसकी मां का नाम मुरा था, इसलिए वह मौर्य कहलाया और कुछका यह कहना है कि उसका नाना राजा के मोरों का रखवाला था और मोर को संस्कृत में 'मयूर' कहते हैं। इस शब्द का मूल चाहे जो हो, यह चन्द्रगुप्त मौर्य के नाम से ही मशहूर है।

महाभारत तथा दूसरी पुरानी किताबों और कथाओं में हमें चक्रवर्ती राजाओं का जिक्र मिलता है, जिन्होंने सारे भारत पर राज्य किया। लेकिन हमें उस जमाने का ठीक हाल मालूम नहीं और न हम यही जानते हैं कि भारत या भारतवर्ष का विस्तार उस समय कितना था। यह मुमकिन है कि उस वक्त के जो किस्से चले आते हैं, उनमें पुराने राजाओं की शक्ति को बढ़ा-चढ़ाकर बताया गया हो। जो हो, चन्द्रगुप्त मौर्य का साम्राज्य इतिहास में भारत के मजबूत और विस्तृत साम्राज्य की पहली मिसाल है। यह एक बहुत शक्तिशाली और उन्नत शासन था।

चन्द्रगुप्त के राज्यकाल में सिकन्दर के सेनापति सेल्यूकस ने, जिसे विरासत में एशिया-कोचक से लेकर भारत तक के देशों का राज्य मिला था, अपनी सेना के साथ सिन्ध नदी पार कर भारत पर हमला किया। पर अपनी इस जल्दबाजी के लिए उसे बहुत जल्द पछताना पड़ा। चन्द्रगुप्त ने उसे बुरी तरह हरा दिया और जिस रास्ते से वह आया था, उसी रास्ते उसे अपना-सा मुंह लेकर लौट जाना पड़ा। यहां से कुछ प्राप्त करने के बजाय उलटा उसे काबुल और हिरात तक गांधार या अफगानिस्तान का एक बहुत बड़ा हिस्सा चन्द्रगुप्त को दे देना पड़ा। चन्द्रगुप्त ने सेल्यूकस की लड़की से शादी भी कर ली। उसका साम्राज्य अब सारे उत्तरी भारत में, अफगानिस्तान के एक हिस्से काबुल से बंगाल तक और अरब सागर से बंगाल की खाड़ी तक फैल गया। सिर्फ दक्षिण भारत उसके मातहत नहीं था। इस बड़े साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी।

सेल्यूकस ने चन्द्रगुप्त के दरबार में मेगस्थनीज को अपना राजदूत बनाकर भेजा था। मेगस्थनीज ने उस जमाने का बहुत ही दिलचस्प हाल लिखा है। लेकिन इससे ज्यादा दिलचस्प एक दूसरा वर्णन हमें मिलता है, जिसमें चन्द्रगुप्त के शासन का पूरा हाल है। किताब है कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र'। यह कौटिल्य और कोई नहीं, चाणक्य या विष्णुगुप्त है और अर्थशास्त्र का मतलब है 'सम्पत्ति का शास्त्र'।

'अर्थशास्त्र' में इतने विषय हैं और इतनी विभिन्न बातों पर इसमें चर्चा की गई है कि उसके बारे में विस्तार से बताना मुमकिन नहीं है। उसमें राजाओं के धर्म का, उसके मन्त्रियों और सलाहकारों के कर्तव्य का, राजपरिषद् का, शासन-विभागों का, वाणिज्य और व्यापार का, गांव और कस्बों के शासन का, कानून और अदालत का, सामाजिक रीति-रिवाजों का, स्त्रियों के अधिकार का, बूढ़े और असहाय लोगों के पालन का, शादी और तलाक का, टैक्स का, जल और थल-सेना का, लड़ाई और सुलह का, कूटनीति का, खेती-बाड़ी का, कातने और बुनने का, कारीगरों का, पासपोर्टों का, और जेलों तक का जिक्र है।

जब राजा राजगद्दी पर बैठते समय शासन का अधिकार पाता था तो उसे जनता की सेवा की शपथ लेनी पड़ती थी। उसे प्रतिज्ञा करनी

पड़ती थी—"अगर मैं तुम्हें सताऊं तो मैं स्वर्ग से, जीवन से और सन्तान से वंचित रहूं।" इस पुस्तक में राजा की दिनचर्या दी हुई है। उसके मुताबिक राजा को जरूरी काम के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए, क्योंकि जनता का काम न तो रुक सकता है, न राजा की सुविधा का इन्तजार कर सकता है। "अगर राजा चुस्त होगा तो उसकी प्रजा भी उतनी ही चुस्त होगी।" "अपनी प्रजा की खुशी में उसकी खुशी है, प्रजा के कल्याण में ही उसका कल्याण है; जो बात उसे अच्छी लगे, उसीको वह अच्छा न समझे, बल्कि प्रजा को जो अच्छी लगे, उसीको वह भी अच्छा समझे।" यह एक ध्यान देने लायक बात है कि प्राचीन भारत में राज्याधिकार का मतलब जनता की सेवा था। राजाओं का न तो कोई ईश्वरीय अधिकार माना जाता था और न उनके पास कोई निरंकुश सत्ता थी। अगर कोई राजा अत्याचार करता था तो जनता का हक था कि उसे हटा दे और उसकी जगह दूसरा राजा मुकर्रिर कर दे। उन दिनों यही सिद्धान्त और आदर्श था। फिर भी उस समय बहुत-से राजा ऐसे हुए, जो इस आदर्श से नीचे गिरे और जिन्होंने अपनी बेवकूफी से अपने देश और प्रजा को मुसीबतों में फंसाया था।

'अर्थशास्त्र' में इस पुराने सिद्धान्त पर भी जोर दिया गया है कि 'आर्य कभी भी गुलाम न बनाया जा सकेगा।" इससे जाहिर होता है कि उस जमाने में किसी-न-किसी तरह के गुलाम होते थे, जो या तो देश के बाहर से लाये जाते होंगे, या देश के रहनेवाले होंगे। लेकिन जहांतक आर्यों का सम्बन्ध था, इस बात पर पूरा ध्यान रखा जाता था कि वे किसी भी हालत में गुलाम न बनाये जायं।

मौर्य-साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र थी। यह बड़ा शानदार शहर था और गंगा के किनारे-किनारे नौ मील तक फैला हुआ था। इसकी चहारदीवारी में चौंसठ मुख्य फाटक थे और सैकड़ों छोटे दरवाजे थे। मकान ज्यादातर लकड़ी के बने हुए थे और चूंकि आग लगने का डर रहता था, इसलिए आग बुझाने का बहुत अच्छा इन्तजाम था। खास-खास सड़कों पर पानी से भरे हजारों घड़े हमेशा रखे रहते थे। हरएक गृहस्थ को भी अपने-अपने घर में पानी से भरे घड़े, सीढ़ी, कांटा और दूसरी जरूरी चीजें

रखनी पड़ती थी, जिससे आग बुझाने के लिए उनका उपयोग हो सके।

कौटिल्य ने शहरों के बारे में एक ऐसे नियम का जिक्र किया है, जो बहुत दिलचस्प मालूम होगा। अगर कोई आदमी सड़क पर कूड़ा फेंकता था तो उसपर जुर्माना होता था। इसी तरह अगर कोई सड़क पर कीचड़ या पानी इकट्ठा होने देता था तो उसपर भी जुर्माना किया जाता था। अगर इन कायदों पर अमल होता रहा होगा तो पाटलिपुत्र या दूसरे और शहर बहुत सुन्दर तथा साफ़-सुथरे रहे होंगे।

पाटलिपुत्र में इन्तजाम करने के लिए एक म्युनिसिपल कौन्सिल थी। जनता इसका चुनाव करती थी। इसमें तीस मेम्बर होते थे और पांच-पांच मेम्बरों की छः कमेटियां बनाई जाती थी। शहरी उद्योगों और दस्तकारियों का, यात्रियों और तीर्थ-यात्रियों का, टैक्स के लिए मौतों और पैदायशों का, सामान तैयार करने का और दूसरी बातों का इन्तजाम इन्हीं कमेटियों के हाथ में रहता था। पूरी कौन्सिल सफ़ाई, आमद-खर्च, पानी की व्यवस्था, बाग-बगीचे और सार्वजनिक इमारतों का इन्तजाम देखती थी।

न्याय करने के लिए पंचायतें और अपील सुनने के लिए अदालतें थीं। अकाल-पीड़ितों की मदद का खास प्रबन्ध होता था। राज्य के सारे भण्डारों का आधा गल्ला अकाल के वक्त के लिए हमेशा जमा करके रखा जाता था।

ऐसा था वह मौर्य-साम्राज्य, जिसे बाईससौ बरस पहले चाणक्य और चन्द्रगुप्त ने संगठित किया था। पाटलिपुत्र की राजधानी से लेकर साम्राज्य के बहुत-से बड़े-बड़े शहरों और हजारों कस्बों और गांवों तक सारे देश में जीवन की चहल-पहल थी। साम्राज्य के एक हिस्से से दूसरे हिस्से तक बड़ी-बड़ी सड़कें थीं। मुख्य राजपथ पाटलिपुत्र से उत्तर-पश्चिमी सीमा तक चला गया था। बहुत-सी नहरें थीं और उनकी देखभाल के लिए एक खास महकमा भी था। इसके अलावा एक नौका-विभाग भी था, जो बन्दरगाहों, घाटों, पुलों और एक जगह से दूसरी जगह तक आने-जानेवाले बहुत-से जहाजों और नौकाओं की देख-रेख किया करता था। जहाज समुद्र-पार चीन और बरमा तक जाते थे।

इस साम्राज्य पर चन्द्रगुप्त ने २४ वर्ष राज किया। ईसा से पहले २९६वें वर्ष में उसकी मृत्यु हुई।

: ५ :

'देवनाम्प्रिय' अशोक

अशोक एक ऐसा व्यक्ति था, जो सम्राट होते हुए भी महान था और इज्जत के काबिल था। वह चन्द्रगुप्त मौर्य का पोता था। एच० जी० वेल्स ने उसके बारे में लिखा है—"इतिहास के पृष्ठों में संसार के जिन लाखों सम्राटों, राज-राजेश्वरों, महाराजाधिराजों, श्रीमानों आदि के नाम भरे हुए हैं, उनमें अकेले अशोक का नाम ही सितारे की तरह चमकता है। वोल्गा नदी से जापान तक आज भी उसका नाम आदर के साथ लिया जाता है। चीन, तिब्बत और भारत ने भी—हालांकि उसने उसके सिद्धान्त को छोड़ दिया है—उसकी महानता की परम्परा को कायम रखा।"

यह वास्तव में बहुत ऊंचे दर्जे की प्रशंसा है। लेकिन अशोक इसका पात्र था, और हरएक भारतीय का हृदय भारत के इतिहास के इस युग पर विचार करने में आनन्द से भर जाता है।

चन्द्रगुप्त की मृत्यु ईसाई सन् के शुरू होने के करीब ३०० बरस पहले हुई। उसके बाद उसका लड़का बिन्दुसार गद्दी पर बैठा, जिसने पच्चीस वर्ष तक शान्तिमय शासन किया। यूनानी जगत से उसने अपना सम्पर्क बनाये रखा। उसके दरबार में पश्चिम एशिया के सेल्यूकस के लड़के एण्टीओकस और मिस्र के टालमी की ओर से राजदूत आते थे। बाहरी दुनिया से व्यापार बराबर जारी था और कहा जाता है कि मिस्रवाले अपने कपड़े भारत के नील से रंगा करते थे। कहते हैं कि ये लोग अपनी मोमियाइयां भारतीय मलमल में लपेटते थे। बिहार में पुराने जमाने के कुछ चिह्न मिले हैं, जिनसे मालूम होता है कि मौर्य-युग के पहले भी वहां एक तरह का कांच बनाया जाता था।

यह बात दिलचस्प मालूम होती है कि मेगेस्थनीज ने, जो चन्द्रगुप्त के

दरबार में राजदूत होकर आया था, लिखा है कि भारतीय लोग सजावट और सौंदर्य बहुत पसन्द करते थे। उसने इस बात का खासतौर से जिक्र किया है कि लोग अपना कद ऊंचा करने के लिए जूते पहनते थे। इससे मालूम होता है कि ऊंची एड़ी का जूता कोई हाल की ईजाद नहीं है।

बिन्दुसार की मृत्यु होने पर ईसा के २६८ वर्ष पहले अशोक उस विशाल साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ, जो सारे उत्तर और मध्यभारत से लेकर मध्य एशिया तक फैला हुआ था। शायद भारत के बाकी दक्षिण-पूर्वी और दक्षिणी हिस्से को अपने साम्राज्य में मिलाने की इच्छा से उसने अपने राज्य के नवें बरस में कलिंग पर चढ़ाई की। कलिंग भारत के दक्षिणी समुद्र-तट पर महानदी, गोदावरी और कृष्णा नदियों के बीच का देश था। कलिंगवाले बड़ी बहादुरी से लड़े, लेकिन आखिर में बहुत भयंकर मार-काट के बाद वे कुचल दिये गए। इस लड़ाई और मार-काट ने अशोक के दिल पर इतना गहरा असर किया कि उसे लड़ाई और उसके सब कामों से नफरत हो गई। उसने यह तय कर लिया कि आगे वह अब कोई लड़ाई न लड़ेगा। दक्षिण के एक छोटे-से टुकड़े को छोड़कर करीब-करीब सारा भारत उसके कब्जे में था। इस छोटे-से टुकड़े को जीतकर अपनी विजय को पूर्ण कर लेना उसके लिए बहुत आसान बात थी, लेकिन उसने ऐसा नहीं किया। एच० जी० वेल्स के लिखे मुताबिक इतिहास भर में अशोक ही एक ऐसा सैनिक सम्राट् हुआ है, जिसने विजय के बाद लड़ाई को त्याग दिया हो।

सौभाग्य से हमें खुद अशोक के ही शब्दों में कुछ ऐसे विवरण मिलते हैं, जिनमें बतलाया गया है कि उसके क्या विचार थे और उसने क्या-क्या काम किये। पत्थरों और धातु-पत्रों पर खुदी हुई बहुत-सी धर्मलिपियों में जनता और भावी सन्तति के नाम उसके सन्देश आज भी मिलते हैं। इलाहाबाद के किले में अशोक का एक ऐसा ही स्तम्भ है। हमारे सूबे में इस तरह के और भी कई स्तम्भ हैं।

इन धर्मलिपियों में अशोक ने बताया है कि युद्ध और विजय में होनेवाली हत्याओं से उसके दिल में कितनी घृणा और कितना अनुताप हुआ। उसका कहना है कि धर्म के आचरण से अपने और मानव-हृदय के ऊपर विजय प्राप्त करना ही एकमात्र सच्ची विजय है। इन धर्मलिपियों को

पढ़कर मन मुग्ध हो जाता है और उनसे अशोक के भावों को समझने में मदद मिलती है।

एक धर्मलिपि में लिखा है :

"धर्मराज प्रियदर्शी महाराज ने अपने अभिषेक के आठवें वर्ष में कलिंग को जीता। डेढ़ लाख आदमी वहां से कैद करके लाये गए। एक लाख वहां कत्ल हुए और इससे कई गुना अधिक मर गये।

"कलिंग-विजय के बाद से ही धर्मराज बड़े उत्साह से धर्म की रक्षा, धर्म के पालन और धर्म के प्रचार में जुट गये। उनके हृदय में कलिंग-विजय के लिए पश्चात्ताप शुरू हुआ, क्योंकि किसी अपराजित देश पर विजय प्राप्त करने में लोगों की हत्या, मृत्यु और उन्हें कैदी बना करके ले जाया जाना जरूरी हो जाता है। धर्मराज को इस बात पर बहुत गहरा दुःख और खेद होता है।"

आगे चलकर इस धर्मलिपि में लिखा है कि कलिंग में जितने आदमी मारे गये या कैद हुए, उसके सौवें या हजारवें हिस्से का भी मारा जाना या कैद किया जाना अब अशोक को सहन नहीं होगा।

"इसके सिवा अगर कोई धर्मराज के साथ बुराई करेगा तो वह उसे जहांतक सहा जा सकेगा, सहेंगे। अपने साम्राज्य की जंगली जातियों पर भी धर्मराज कृपा-दृष्टि रखते हैं और चाहते हैं कि वे लोग शुद्ध भावना रखें, क्योंकि वे अगर ऐसा न करें तो उन्हें प्रायश्चित्त करना होगा। धर्मराज की इच्छा है कि समस्त जीवों की सुरक्षा हो और सब शान्तिपूर्वक संयम के साथ और प्रसन्न-चित्त रहें।"

इसके आगे अशोक बताता है कि धर्म से मनुष्यों का हृदय जीतना ही सच्ची विजय है और उसने हमें बताया है कि उसे ऐसी सच्ची विजय केवल अपने ही साम्राज्य में नहीं, बल्कि दूर-दूर के राज्यों में भी प्राप्त हुई।

जिस धर्म का इन धर्मलिपियों में बार-बार जिक्र किया है, वह बौद्ध-धर्म है। अशोक बड़ा उत्साही बौद्ध हो गया था और उसने इस धर्म के प्रचार में शक्ति-भर खूब कोशिश की; लेकिन इस काम में किसी तरह की जबरदस्ती या दबाव का नाम-निशान भी नहीं था। वह लोगों के दिलों को

जीतकर ही उन्हें बौद्धधर्म का अनुयायी बनाना चाहता था। धर्म-प्रचारकों में ऐसे बहुत कम क्या, बिल्कुल ही कम हुए हैं, जो अशोक की तरह दूसरे धर्मों के प्रति इतने उदार रहे हों। लोगों को अपने धर्म में मिलाने के लिए धर्म-प्रचारकों ने बल, आतंक और धोखेबाजी को काम में लाने में हिचकिचाहट नहीं की है। सारा इतिहास धार्मिक अत्याचारों और मजहबी लड़ाइयों से भरा पड़ा है और धर्म और ईश्वर के नाम पर जितना खून बहा है, उतना शायद ही किसी दूसरे नाम पर बहा होगा। इसलिए यह याद करके खुशी होती है कि भारत के एक महासपूत ने, जो बहुत ही धार्मिक था और एक शक्तिशाली साम्राज्य का मालिक भी था, लोगों को अपने मत का अनुयायी बनाने के लिए कैसा मार्ग अपनाया। ताज्जुब है कि कोई इतना बेवकूफ हो कि वह यह खयाल करे कि धर्म और विश्वास तलवार या संगीन के डर से लोगों के गले में उतारे जा सकते हैं।

इस प्रकार देवताओं के प्रिय, या धर्मलिपियों के शब्दों में 'देवानाम्-प्रिय' अशोक ने पश्चिम में एशिया, अफरीका और यूरोप के राज्यों में अपने सन्देशवाहक और राजदूत भेजे। उसने अपने सगे भाई महेन्द्र और बहन संघमित्रा को लंका भेजा। कहा जाता है कि ये अपने साथ गया से पवित्र बोधि-वृक्ष की एक टहनी भी ले गये थे। कहते हैं, अनुरुद्धपुर के मन्दिर में वही पेड़ है, जो उस पुरानी टहनी से जमकर बड़ा हुआ।

भारत में बौद्धधर्म बहुत तेजी से फैल गया और चूंकि अशोक की दृष्टि में केवल मन्त्रों के जप और पूजा-पाठ और संस्कारों का नाम धर्म न था, बल्कि उसका अर्थ था नेक काम करना और समाज को ऊंचा उठाना, इसलिए सारे देश में सार्वजनिक बाग-बगीचे, अस्पताल, कुएं और सड़कें नजर आने लगे। स्त्रियों की शिक्षा के लिए खास इन्तजाम किया गया था। इस समय चार बड़े-बड़े विश्वविद्यालय थे, एक ठेठ उत्तर में पेशावर के पास तक्षशिला में; दूसरा मथुरा में; तीसरा मध्य भारत में उज्जैन में; और चौथा पटना के पास नालन्दा में। इन विश्वविद्यालयों में सिर्फ भारत के ही नहीं, बल्कि चीन से लेकर पश्चिमी एशिया तक के दूर-दूर देशों से विद्यार्थी पढ़ने के लिए आते थे और वापस अपने देश को बुद्ध के उपदेशों का सन्देश अपने साथ ले जाते थे। सारे देश में बड़े-बड़े मठ बन गये थे, जो

'विहार' कहलाते थे। मालूम होता है पाटलिपुत्र या पटना के आस-पास इतने ज्यादा विहार थे कि सारा प्रान्त ही विहार या जैसाकि आजकल पुकारा जाता है, बिहार कहलाने लगा। लेकिन जैसा अकसर होता है, इन विहारों में से अध्ययन और विचार की साधना थोड़े ही दिनों म जाती रही और ये ऐसे स्थान बन गये, जहां लोग एक ढर्रे में पड़ गये और पूजा-पाठ की लकीर पीटने लगे।

जीवन-रक्षा के लिए अशोक के प्रेम का दायरा जानवरों तक के लिए था। जानवरों के लिए खासतौर से अस्पताल खोले गये थे और पशुबलि बन्द कर दी गई थी। इन दोनों बातों में अशोक हमारे जमाने से भी कुछ आगे था। अफसोस की बात है कि जानवरों का बलिदान कुछ हद तक अभी भी जारी है और धर्म का एक जरूरी अंग माना जाता है।

अशोक के उदाहरण से और बौद्धधर्म के प्रचार से लोगों में मांस न खाने का प्रचार होने लगा। उस समय तक भारत के ब्राह्मण और क्षत्रिय आमतौर पर मांस खाते थे और शराब पीते थे। अशोक के जमाने में मांस खाना और शराब पीना दोनों ही बहुत कम हो गये।

इस तरह अशोक ने ३८ वर्ष राज्य किया और वह शान्तिपूर्वक जनता की भलाई करने की पूरी-पूरी कोशिश करता रहा। सार्वजनिक काम के लिए वह हमेशा तैयार रहता था। उसके शब्द हैं—"हर समय और हर जगह पर—चाहे मैं खाना खा रहा होऊं या रनिवास में होऊं, अपने सोने के कमरे म होऊं या मन्त्रणा-गृह में होऊं, अपनी गाड़ी में बैठकर जाता होऊं या महल के बाग में होऊं, सरकारी मुखबरों को चाहिए कि वे जनता के हाल-चाल की मुझे बराबर खबर देते रहें।" अगर कोई कठिनाई उठ खड़ी होती तो उसकी खबर तुरंत उसे दी जानी जरूरी थी, क्योंकि उसका कहना था कि "सार्वजनिक हित के लिए मुझे हरदम काम करना चाहिए।"

ईसा से २२६ वर्ष पहले अशोक की मृत्यु हो गई। मृत्यु के कुछ दिन पहले वह राज-पाट छोड़कर बौद्ध भिक्खु हो गया था।

मौर्य-युग के बहुत कम चिह्न हमें मिलते हैं, लेकिन जो मिलते हैं, वे ही अभीतक की खोज के मुताबिक, भारत में आर्य-सभ्यता के लगभग सबसे

पुराने चिह्न हैं। इस वक्त हम मोहनजोदड़ो के खंडहरों का जिक्र छोड़े देते हैं। बनारस के पास सारनाथ में अशोक का सुन्दर स्तम्भ है, जिसके सिरे पर शेर बने हुए हैं।

अशोक की राजधानी पाटलिपुत्र के विशाल नगर का अब कोई निशान बाकी नहीं है। पन्द्रहसौ बरस पहले, यानी अशोक के छः सौ बरस बाद, फाहियान नाम का एक चीनी मुसाफिर पाटलिपुत्र आया था। उस समय यह नगर खूब उन्नत, मालदार और खुशहाल था, लेकिन तबतक अशोक का पत्थर का राजमहल खंडहर हो चुका था। इन खंडहरों ने ही फाहियान को बहुत प्रभावित किया और उसने अपनी यात्रा के विवरण में लिखा है कि यह राजमहल मनुष्यों का बनाया हुआ नहीं मालूम होता था।

बड़े भारी-भारी पत्थरों से बना हुआ राजमहल नष्ट हो गया और अपनी कोई निशानी नहीं छोड़ गया, लेकिन अशोक की कीर्त्ति एशिया के महाद्वीप भर में आज भी जिन्दा है और उसकी धर्मलिपियों में ऐसी बातें लिखी हुई हैं, जिनका भाव हम समझ सकते हैं और जिनकी कीमत हम पहचान सकते हैं। आज भी हम उनसे बहुत-कुछ सीख सकते हैं।

: ६ :

ईसा और ईसाई-धर्म

ईसा या यीशु की कथा इंजील के नये अहदनामे में दी हुई है। ईसा की इन जीवन-कथाओं में दिये हुए विवरणों में उनकी जवानी के दिनों का कोई हाल नहीं दिया गया है। वह नासरत में पैदा हुए, गैलिली में उन्होंने प्रचार किया और तीस वर्ष से ज्यादा की उम्र में वह यरूशलम आये। इसके थोड़े ही दिन बाद रोमन गवर्नर पॉण्टियस पाइलेट के सामने उनपर मुकदमा चला और उसने इनको सजा दी। यह साफ नहीं मालूम होता कि अपना प्रचार शुरू करने के पहले ईसा क्या करते थे या कहां गये थे। मध्य एशिया भर में, काश्मीर में, लद्दाख में और तिब्बत में और इससे और भी उत्तर के देशों में अभीतक लोगों का यह पक्का विश्वास है कि ईसा इन देशों में घूमे थे। कुछ लोगों का यह विश्वास है कि वह भारत भी आये थे। निश्चित रूप में कुछ

कहा नहीं जा सकता, लेकिन जिन विद्वानों ने ईसा की जीवनी का अध्ययन किया है, वे यह नहीं मानते कि ईसा भारत या मध्य एशिया में आये थे। लेकिन अगर आये हों तो यह कोई नामुमकिन बात भी नहीं कही जा सकती। उस जमाने में भारत के बड़े-बड़े विश्वविद्यालय, खासकर उत्तर-पश्चिम का तक्षशिला का विश्वविद्यालय, ऐसे थे कि दूर-दूर देशों के उत्साही विद्यार्थी खिंचकर यहां आते थे और मुमकिन है कि ईसा भी ज्ञान की तलाश में यहां आये हों। बहुत-सी बातों में ईसा के सिद्धान्त गौतम के सिद्धान्तों से इतने ज्यादा मिलते-जुलते हैं कि यह बहुत मुमकिन मालूम होता है कि ईसा को गौतम के विचारों से पूरी-पूरी जानकारी थी। लेकिन बौद्धधर्म दूसरे मुल्कों में काफी प्रचलित था और इसलिए ईसा भारत आये बिना भी उसके बारे में अच्छी तरह से जान सकते थे।

धर्म के नाम पर मतभेद और घातक युद्ध हुए हैं। लेकिन संसार के मजहबों की शुरुआत पर गौर करना और उनकी तुलना करना बहुत दिलचस्प है। सब मजहबों के नजरियों और सिद्धान्तों में इतनी समानता है कि यह देखकर हैरत होती है कि लोग छोटी-छोटी और गैरजरूरी बातों के बारे में झगड़ा करने की बेवकूफी क्यों करते हैं। पुराने सिद्धांतों में नई-नई बातें जोड़ दी जाती हैं और उनको इस तरह तोड़-मरोड़ दिया जाता है कि उनका पहचानना मुश्किल हो जाता है। सच्चे धर्म-प्रचारक की जगह तंगदिल और हठ-धर्मी लोग आ बैठते हैं।

ईसा यहूदी थे। यहूदी एक अजीब और आश्चर्यजनक रूप से उद्यमी कौम थी और अब भी है। दाऊद और सुलेमान के जमाने में कुछ समय के वैभव के बाद उनके बुरे दिन आये। यह वैभव भी था तो बहुत छोटी मात्रा में, लेकिन अपनी कल्पना में उन्होंने उसे यहांतक बढ़ा-चढ़ा दिया कि उनके लिए वह अतीत का एक सुवर्ण-युग बन गया और वे विश्वास करने लगे कि वह युग एक निश्चित समय पर फिर लौटेगा, और उस समय यहूदी कौम फिर महान और ताकतवर हो जायगी। वे लोग रोमन साम्राज्य-भर में और दूसरे मुल्कों में फैल गये, लेकिन अपने इस पक्के विश्वास के कारण वे आपस में मजबूती से बंधे रहे कि उनके वैभव के दिन आनेवाले हैं और एक मसीहा उन्हें वह दिन दिखायेगा।

यहूदी एक मसीहा का इन्तजार कर रहे थे और शायद ईसा से उन्हें इसी तरह की उम्मीदें थी। लेकिन बहुत जल्द इनकी उम्मीदों पर पानी फिर गया, क्योंकि ईसा चालू तरीकों और सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ बगावत की बिल्कुल नई बातें करते थे। खासतौर से वह अमीरों और उन पाखंडियों के खिलाफ थे, जिन्होंने खास तरह की पूजा-पाठ और व्रतों को ही धर्म बना रखा था। धन-दौलत और कीर्त्ति की आशा दिलाने के बजाय, वह एक अस्पष्ट और काल्पनिक स्वर्गीय राज्य की खातिर लोगों से अपने घर की पूंजी तक भी त्याग देने को कहते थे। उनकी बातें रूपकों और कहानियों के तौर पर होती थीं, लेकिन यह बिल्कुल स्पष्ट है कि वह जन्म से ही विद्रोही थे और जमाने की हालत को सह नहीं सकते थे और उसे बदलने पर तुले हुए थे। यह वह बात न थी, जो यहूदी चाहते थे। इसलिए उनमें से बहुत-से लोग उनके खिलाफ हो गये और उनको पकड़कर रोमन अधिकारियों के सुपुर्द कर दिया।

मजहबी मामलों में रोमन लोग असहनशील नहीं थे, क्योंकि साम्राज्य में सब मजहबों को बरदाश्त किया जाता था, यहांतक कि अगर कोई किसी देवी-देवता को बुरा कहता या गाली देता तो उसे सजा दी जाती थी। टाइबेरियस नाम के एक रोमन सम्राट ने कहा था—"अगर देवताओं का अपमान किया जाता है तो उन्हें खुद ही निबट लेने दो।" इसलिए जब रोमन गवर्नर पॉण्टियस पाइलेट के सामने ईसा पेश किये गए तो इस मामले के मजहबी पहलू की उसे जरा भी चिन्ता न हुई होगी। ईसा को लोग एक राजनैतिक विद्रोही और यहूदी लोग सामाजिक विद्रोही समझते थे और यही जुर्म लगाकर उनपर मुकदमा चलाया गया, सजा दी गई और गोल्गोथा नामक जगह पर उन्हें सूली पर लटका दिया गया। यातना की इस घड़ी में उनके चुने हुए शिष्यों तक ने उन्हें छोड़ दिया और इस बात से भी इन्कार कर दिया कि वह उनके गुरु थे। इस विश्वासघात से उन्होंने ईसा की पीड़ा को इतना असह्य बना दिया कि मरने से पहले उनके मुंह से दिल को अजीब तौर पर हिला देनेवाले ये शब्द निकल पड़े :

"मेरे ईश्वर ! मेरे ईश्वर ! तूने मुझे क्यों त्याग दिया है ?"

मृत्यु के समय ईसा जवान ही थे—उनकी उमर तीस वर्ष से कुछ ही ज्यादा थी। जब हम इंजील की सुन्दर भाषा में उनकी मौत की करुण कहानी पढ़ते

हैं तो हमारा दिल पसीज जाता है। बाद के युगों में ईसाई-धर्म की जो तरक्की हुई, उसने करोड़ों के मन में ईसा के नाम के प्रति श्रद्धा पैदा कर दी, हालांकि उन लोगों ने उनके उपदेशों पर बहुत कम अमल किया है। लेकिन यह याद रखना चाहिए कि जब वह सूली पर चढ़ाये गये थे, उनका नाम फिलस्तीन से बाहर के लोग ज्यादा नहीं जानते थे। रोम के लोग तो उनके बारे में कुछ भी नहीं जानते थे और पॉण्टियस पाइलेट ने इस घटना को बिल्कुल ही महत्व नहीं दिया होगा।

ईसा के नजदीकी अनुयायियों और शिष्यों ने डर के मारे उन्हें अपना गुरु कहने से भी इन्कार कर दिया था। लेकिन ईसा की मृत्यु के कुछ ही दिन बाद पॉल नाम के एक नये अनुयायी ने, जिसने ईसा को खुद नहीं देखा था, अपनी समझ के मुताबिक ईसाई सिद्धान्तों का प्रचार करना शुरू कर दिया। बहुत-से लोगों का खयाल है कि जिस ईसाई-धर्म का पॉल ने प्रचार किया, वह ईसा के उपदेशों से बहुत भिन्न है। पॉल एक काबिल और विद्वान आदमी था, लेकिन वह ईसा की तरह सामाजिक विद्रोही नहीं था। बहरहाल पॉल काम-याब हुआ और ईसाई-मत धीरे-धीरे फैलने लगा। रोमन लोगों ने शुरू में इसे कोई महत्व नहीं दिया। उन्होंने समझा कि ईसाई भी यहूदियों की ही कोई एक शाखा होंगे, लेकिन ईसाइयों की जुर्रत बढ़ने लगी। वे दूसरे तमाम धर्मों के कट्टर विरोधी बन गये और उन्होंने सम्राट की मूर्ति की पूजा करने से बिल्कुल इन्कार कर दिया। रोमन लोग उनकी इस मनोवृत्ति को और अपनी निगाह में ईसाइयों की तंगखयाली को समझ नहीं सके। इसलिए वे ईसाइयों को सनकी, लड़ाकू, असभ्य और इन्सानी तरक्कीका विरोधी समझने लगे। ईसाइयत को वे लोग शायद एक धर्म की हैसियत से बरदाश्त करने को तैयार हो जाते, लेकिन सम्राट की मूर्ति के सामने सर झुकाने से उनका इन्कार करना राजद्रोह समझा गया और उसकी सजा मौत करार दी गई। इसका नतीजा यह हुआ कि ईसाई सताये जाने लगे। उनकी जायदादें जब्त की जाने लगीं और उन्हें शेरों का भोजन बनाया जाने लगा। लेकिन जब कोई आदमी किसी उसूल के लिए मरने को तैयार हो जाता है और ऐसी मौत में दरअसल गौरव महसूस करने लगता है तो उसे या उसके उसूल को दबाना नामुमकिन होता है। चुनांचे रोमन-साम्राज्य ईसाई-धर्म को दबाने में बिल्कुल

नाकामयाब रहा। उलटे इस लड़ाई में ईसाई-धर्म की जीत हुई और ईसा की चौथी सदी के शुरू मे एक रोमन सम्राट खुद ईसाई हो गया और ईसाई-धर्म रोमन साम्राज्य का राज्य-धर्म बन गया। इस सम्राट का नाम कान्स्टेण्टाइन था, जिसने कुस्तुन्तुनिया नगर बसाया।

ज्यों-ज्यों ईसाई-धर्म फैला, त्यों-त्यों ईसा के देवत्व के बारे मे जबरदस्त लड़ाई-झगड़े पैदा हो गये। गौतम बुद्ध ने कभी देवत्व का दावा नहीं किया था, लेकिन फिर भी वह एक देवता और अवतार की तरह पूजे जाने लगे। इसी तरह ईसा ने भी खुदाई का कोई दावा नही किया था। ईसा ने जो बार-बार कहा है कि वह ईश्वर के पुत्र और मनुष्य के पुत्र है, उसका लाजिमी अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने खुदाई का या मनुष्यों से ऊपर होने का दावा किया था। लेकिन अपने महान पुरुषों को देवता का रूप दे देना और देवता के आसन पर बिठाने के बाद उनके उपदेशों को छोड़ देना मनुष्य-जाति को ज्यादा पसन्द है। छः सौ साल बाद पैगम्बर मुहम्मद ने एक और बड़ा मजहब चलाया, लेकिन शायद इन उदाहरणों से फायदा उठाकर उन्होंने साफ-साफ और बार-बार यह कहा कि वह आदमी हैं, खुदा नही।

इस तरह ईसा के उपदेशों को समझने और उनपर अमल करने के बजाय, ईसाई लोग ईसा के देवत्व और ईसाई-त्रिपुटी के रूप के बारे में तर्क-वितर्क और झगड़े करने लगे। वे एक-दूसरे को काफिर कहने लगे एक-दूसरे पर अत्याचार करने लगे और एक-दूसरे का गला काटने लगे।

ज्यों-ज्यों ईसाई संघ की ताकत बढ़ती गई, त्यों-त्यों ये घरेलू झगड़े बढ़ते गये। *ईसाई-धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों में इसी तरह के कुछ झगड़े पश्चिमी* देशों में कुछ अरसे पहले तक होते रहे है।

यह जानकर ताज्जुब होता है कि इंग्लैण्ड में या पश्चिमी यूरोप में पहुंचने के बहुत पहले और उस समय, जबकि रोम तक में वह तुच्छ और वर्जित सम्प्रदाय समझा जाता था, ईसाई-धर्म भारत में आ पहुंचा था। ईसा के मरने के करीब सौ साल के अंदर ही ईसाई धर्म-प्रचारक समुद्र के रास्ते दक्षिण भारत आये थे। उनके साथ शिष्टाचार का बर्ताव किया गया और उन्हें अपने नये मजहब के प्रचार करने की छूट दे दी गई। उन्होंने बहुत-से लोगों को अपने मत का अनुयायी बनाया और ये लोग तब से आजतक दक्षिण

भारत में सब तरह के दिन गुजारते हुए रहते आये हैं। उनमें से बहुत लोग ईसाई-धर्म के पुराने सम्प्रदायों के अनुयायी हैं, जिनकी अब यूरोप में हस्ती तक नहीं है। आजकल इनमें से कुछ के सदर-मुकाम एशिया-कोचक में हैं।

राजनैतिक दृष्टि से आजकल ईसाई-धर्म का बोलबाला है, क्योंकि वह यूरोप की उन जातियों का धर्म है, जिनकी दुनिया में तूती बोलती है, लेकिन जब हम अहिंसा का और सामाजिक व्यवस्था के खिलाफ विद्रोह का प्रचार करनेवाले विद्रोही ईसा की तुलना उनके आजकल के उन तथाकथित अनुयायियों से करते हैं, जो साम्राज्यवाद, शस्त्रास्त्रों, युद्धों और धन की पूजा में विश्वास करते हैं, तो यह खयाल हमें हैरत में डाल देता है। ईसा का 'पर्वत का उपदेश' और आजकल की यूरोप तथा अमरीका की ईसाईयत, इन दोनों में कितनी हैरतभरी असमानता है! इसलिए कोई ताज्जुब की बात नहीं अगर बहुत-से लोग यह सोचने लगें कि आजकल पश्चिम में अपनेको ईसा के अनुयायी कहनेवाले अधिकांश लोगों के मुकाबले में बापू (गांधीजी) ईसा के उपदेशों के बहुत ज्यादा नजदीक हैं।

: ७ :

गुप्त सम्राट

उत्तर भारत में अजीब हलचल मची हुई थी। छोटे-छोटे राज्य थे, जिनपर बहुत करके शक या सीदियन या तुर्की वंश के लोग राज्य करते थे। ये लोग भारत की उत्तर-पश्चिमी सरहद पार करके यहां आये थे। ये लोग बौद्ध थे और भारत में शत्रु के रूप में हमला करने नहीं, बल्कि बसने आये थे। भारत में आकर इन लोगों ने भारतीय आर्यों के आचार-विचार और रंग-ढंग को बहुत-कुछ अपना लिया। ये लोग भारत को सभ्यता, संस्कृति और धर्म की जननी मानते थे। ये भारतीय आर्यों की तरह आचरण करने की कोशिश करते थे और चाहते थे कि इस देश के निवासी यह भूल जायं कि वे विदेशी हैं। कुछ हद तक उनको इसमें कामयाबी हुई भी, लेकिन पूरे तौर पर नहीं, क्योंकि क्षत्रियों के दिल में यह बात खास तौर पर खटकती थी कि विदेशी लोग उनपर हुकूमत कर रहे हैं। वे इस विदेशी राज्य

की मातहती मे तिलमिलाते थे, जिससे असन्तोष बढ़ता गया और लोगों के दिलों में क्षोभ पैदा होने लगा। अन्त में इन असन्तुष्ट लोगों को एक सुयोग्य नेता मिल गया और उसके झंडे के नीचे इन्होंने आर्यावर्त को आजाद करने के लिए एक 'धर्मयुद्ध' आरम्भ कर दिया।

इस नेता का नाम चन्द्रगुप्त था। वह पाटलिपुत्र का एक छोटा राजा था। यह अशोक की मृत्यु के ५३४ वर्ष बाद, यानी सन ३०८ ई० की बात है।

चन्द्रगुप्त एक महत्वाकांक्षी और सुयोग्य व्यक्ति था। वह उत्तर के दूसरे आर्य राजाओं को अपनी तरफ मिलाने में और उन सबका एक संघ कायम करने में लग गया। उसने मशहूर और शक्तिशाली लिच्छवी वंश की कुमार देवी से विवाह किया और इस प्रकार इस जाति की सहायता प्राप्त कर ली। इस तरह होशियारी के साथ जमीन तैयार कर लेने के बाद चन्द्रगुप्त ने भारत के सारे विदेशी शासकों के खिलाफ 'धर्मयुद्ध' की घोषणा कर दी। क्षत्रिय और आर्य-जाति के ऊंचे वर्ग के लोग, जिनके अधिकार और पद विदेशियों ने छीन लिये थे, इस लड़ाई के समर्थक थे। बारह वर्ष की लड़ाई के बाद चन्द्रगुप्त उत्तर भारत के कुछ हिस्से पर कब्जा करने में कामयाब हुआ जिसमें वह हिस्सा भी शामिल था, जो आजकल उत्तर प्रदेश कहलाता है। इसके बाद वह राजराजेश्वर की पदवी धारण करके सिंहासन पर बैठ गया।

इस तरह गुप्त राजवंश की शुरुआत हुई। यह वंश करीब दोसौ वर्ष तक चलता रहा। कुछ हद तक यह जमाना जबरदस्त हिन्दुत्व और राष्ट्रवाद का था। तुर्की, पार्थव वगैरह अनार्य विदेशी शासक जड़ से उखाड़ फेंके गये और जबरदस्ती निकाल बाहर किये गए। इस प्रकार यहां हम जातीय विद्वेष को काम करता हुआ देखते हैं। उच्च वर्ग के भारतीय आर्य लोग अपनी कौम पर अभिमान करते थे और इन बर्बरों और म्लेच्छों को नफरत की निगाह से देखते थे। गुप्तों ने जिन भारतीय आर्य राज्यों और राजाओं को जीता, उनके साथ रिआयत का बर्ताव किया; लेकिन अनार्यों के साथ कोई रिआयत नहीं की गई।

चन्द्रगुप्त का बेटा समुद्रगुप्त अपने बाप से भी ज्यादा जबरदस्त लड़ाका था। वह बहुत बड़ा सेनापति था और जब वह सम्राट हुआ तो उसने सारे देश में, यहांतक कि दक्षिण में भी, सबको जीतकर अपनी विजय-

पताका फहराई। इसने गुप्त-साम्राज्य को इतना बढ़ाया कि वह भारत के बहुत बड़े हिस्से में फैल गया। लेकिन दक्षिण में इसकी हुकूमत नाम-मात्र की थी। उत्तर में उसने कुशान लोगों को हटाकर सिन्ध नदी के उस पार खदेड़ दिया था।

समुद्रगुप्त का बेटा चन्द्रगुप्त द्वितीय भी एक योद्धा राजा था। उसने काठियावाड़ और गुजरात को जीत लिया, जो बहुत दिनों से शक या तुर्की राजवंश के शासन में चले आ रहे थे। इसने अपना नाम विक्रमादित्य रखा और इसी नाम से वह मशहूर है। लेकिन यह नाम भी, सीजर की तरह, बहुत-से राजाओं की उपाधि बन गया, इसलिए बहुत भ्रम पैदा करता है।

दिल्ली में कुतुबमीनार के पास एक बहुत भारी लोहे की लाट है। कहते हैं, विक्रमादित्य ने इस लाट को विजय-स्तम्भ के रूप में बनवाया था। यह लाट कारीगरी का एक बढ़िया नमूना है। इसकी चोटी पर कमल का फूल है, जो गुप्त-साम्राज्य का चिह्न था।

गुप्त-युग भारत में हिन्दू-साम्राज्यवाद का युग था। इस युग में पुरानी आर्य-संस्कृति और संस्कृत विद्या का व्यापक रूप से पुनरुत्थान हुआ। संस्कृत राजभाषा थी; लेकिन उन दिनों भी वह जनता की आम भाषा नहीं थी। बोलने की भाषा प्राकृत का एक रूप थी, जो संस्कृत से बहुत-कुछ मिलती-जुलती थी। मगर हालांकि संस्कृत उस जमाने की लोक-भाषा नहीं थी, फिर भी वह काफी प्रचलित थी। इस युग में संस्कृत कविता, नाटक और कलाएं खूब खिली। जिस महान युग में वेद और रामायण-महाभारत आदि महाकाव्य लिखे गये थे, उसके बाद संस्कृत-साहित्य के इतिहास में शायद इसी जमाने में सबसे अधिक और सबसे सुन्दर साहित्य लिखा गया। संस्कृत का अद्भुत कवि कालिदास इसी जमाने में हुआ। कहते हैं, विक्रमादित्य का दरबार बड़ी चमक-दमकवाला था, जिसमें उसने उस समय के सबसे उत्तम लेखकों और कलाकारों को जमा किया था।

समुद्रगुप्त अपने साम्राज्य की राजधानी पाटलिपुत्र से अयोध्या ले गया। शायद उसका यह ख़याल था कि उसके कट्टर भारतीय-आर्य दृष्टिकोण के लिए अयोध्या, जिसे महाकवि वाल्मीकि ने अपने महाकाव्य में

रामचन्द्र की कथा के साथ अमर बना दिया है, ज्यादा उपयुक्त साधन प्रस्तुत कर सकती है।

यह स्वाभाविक था कि गुप्त-सम्राटों ने आर्य-सभ्यता और हिन्दू-धर्म का पुनरुत्थान किया, उसका बौद्धधर्म के बारे में कोई अच्छा रुख नहीं था। इसकी कुछ वजह तो यह थी कि यह आंदोलन ऊंचे वर्ग का था और उसे सहायता देनेवाले क्षत्रिय सरदार थे, और बौद्धधर्म में लोकतन्त्र की भावना अधिक थी। कुछ वजह यह थी कि बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय का कुशानों और उत्तर भारत के दूसरे विदेशी शासकों से घनिष्ठ संबंध था। लेकिन फिर भी बौद्धधर्म पर कोई जुल्म किया गया हो, ऐसा नहीं मालूम होता। बौद्ध विहार कायम थे और तब भी बड़ी-बड़ी शिक्षा-संस्थाएं बनी हुई थीं। गुप्त-सम्राटों का लंका के राजाओं के साथ मित्रता का संबंध था और लंका में बौद्धधर्म खूब फैला हुआ था। लंका के राजा मेघवर्ण ने समुद्र-गुप्त के पास कीमती उपहार भेजे थे और उसने सिंहली विद्यार्थियों के लिए गया में एक विहार भी बनवाया था।

लेकिन भारत में बौद्धधर्म धीरे-धीरे मिटने लगा। यह हालत इसलिए नहीं पैदा हुई कि ब्राह्मणों ने या उस जमाने की सरकार ने उसके ऊपर कोई बाहरी दबाव डाला, बल्कि इसलिए कि हिन्दूधर्म में उसे धीरे-धीरे हज्म कर लेने की ताकत थी।

इसी जमाने में चीन का एक मशहूर यात्री फाह्यान भारत में आया। बौद्ध होने के कारण यह बौद्धधर्म के पवित्र ग्रन्थों की तलाश में यहां आया था। उसने लिखा है कि मगध के लोग खुशहाल और सुखी थे, न्याय का पालन उदारता से किया जाता था और मौत की सजा नहीं थी। गया वीरान और उजड़ा हुआ था, कपिलवस्तु जंगल हो चुका था; लेकिन पाटलिपुत्र के लोग "धनवान, खुशहाल और सदाचारी" थे। सम्पन्न और विशाल बौद्ध विहार बहुत थे। मुख्य सड़कों पर धर्मशालाएं थीं, जहां मुसाफिर ठहर सकते थे और जहां सरकारी खर्च से खाना दिया जाता था। बड़े-बड़े नगरों में खैराती दवाखाने थे।

भारत में भ्रमण करने के बाद फाह्यान लंका गया और वहां उसने दो वर्ष बिताये। लेकिन उसके एक साथी ताओ-चिंग को भारत इतना पसन्द

आया और बौद्ध भिक्खुओं की धर्म-परायणता का उसपर इतना असर पड़ा कि उसने यहीं रहने का निश्चय कर लिया। फाह्यान समुद्री रास्ते लंका से चीन चला गया और रास्ते में बहुत-सी आपदाएं झेलता हुआ वर्षों बाद अपने घर पहुंचा।

चन्द्रगुप्त द्वितीय या विक्रमादित्य ने तेईस वर्ष राज्य किया। उसके बाद उसके पुत्र कुमारगुप्त ने चालीस वर्ष तक राज्य किया। फिर सन् ४५३ ई० में स्कन्दगुप्त गद्दी पर बैठा। इसे एक नये खतरे का सामना करना पड़ा, जिसने अन्त में महान गुप्त-साम्राज्य की कमर ही तोड़ दी।

अजन्ता की गुफाओं की दीवारों पर बने हुए कई सर्वोत्तम चित्र और उनके बड़े-बड़े कमरे तथा उपासना-गृह गुप्त-काल की कला के नमूने हैं। उन्हें देखने पर पता चलता है कि ये कितने अद्भुत हैं। बदकिस्मती से वहां के चित्र धीरे-धीरे मिटते जा रहे हैं, क्योंकि मौसम की तब्दीलियों में ये बहुत वर्षों तक नहीं टिक सकते।

चन्द्रगुप्त प्रथम कुस्तुंतुनिया को बसानेवाले रोमन सम्राट कांस्टेंटाइन महान का समकालीन था। समुद्रगुप्त को कुछ लोग भारत का 'नेपोलियन' कहते हैं लेकिन महत्वाकांक्षी होते हुए भी उसने भारत की सीमाओं के बाहर के देशों को जीतने का विचार नहीं किया।

गुप्त-युग जबरदस्त साम्राज्यवाद और देश-विजयों का जमाना था। लेकिन हरएक मुल्क के इतिहास में इस तरह के युग अनेक बार आते हैं और अन्त में जाकर इनका कुछ महत्व नहीं रहता। फिर भी गुप्त-युग की विशेषता, जिसके कारण वह भारत में कुछ गौरव के साथ याद किया जाता है, इस बात में है कि उसमें कला और साहित्य का चमत्कारी पुनरुत्थान हुआ।

: ८ :

हर्षवर्धन और ह्युएनत्सांग

कानपुर से थोड़ी दूर कन्नौज नाम का छोटा-सा नगर है। कानपुर आजकल एक बड़ा शहर है। जिस जमाने का जिक्र मैं कर रहा हूं, उस जमाने

में कन्नौज एक बड़ी राजधानी थी और अपने कवियों, कलाकारों और दार्शनिकों के लिए मशहूर थी। कानपुर उस वक्त तक पैदा नहीं हुआ था और न कई सौ वर्षों बाद तक पैदा होनेवाला था।

कन्नौज नया नाम है। इसका असली नाम कान्यकुब्ज अर्थात 'कुबड़ी लड़की' है। कथा है कि किसी प्राचीन ऋषि ने काल्पनिक अपमान से गुस्से में आकर एक राजा की सौ लड़कियों को शाप दे दिया था, जिससे वे कुबड़ी हो गई थीं। उस समय से यह शहर, जहां ये लड़कियां रहती थीं, 'कुबड़ी लड़कियों का शहर' यानी कान्यकुब्ज कहलाने लगा।

लेकिन संक्षेप के लिए हम इसको कन्नौज ही कहेंगे। हूणों ने कन्नौज के राजा को मार डाला और उसकी रानी राज्यश्री को कैद कर लिया। राज्यश्री का भाई राजवर्धन अपनी बहन को छुड़ाने के लिए हूणों से लड़ने आया। उसने हूणों को तो हरा दिया, लेकिन धोखे से खुद मारा गया। इसपर उसका छोटा भाई हर्षवर्धन अपनी बहन राज्यश्री की तलाश में निकला। यह बेचारी किसी तरह से निकलकर पहाड़ों में जा छिपी थी और अपनी मुसीबतों से परेशान होकर उसने आत्महत्या का निश्चय कर लिया था। कहते हैं, वह भस्म होने जा ही रही थी कि हर्ष ने ढूंढ़ लिया और उसकी जिंदगी बचा ली।

अपनी बहन को पाने और बचाने के बाद हर्ष ने पहला काम यह किया कि उस नीच राजा को, जिसने उसके भाई को धोखे से मार डाला था, सजा दी। और उसने सिर्फ इस नीच राजा को ही सजा नहीं दी, बल्कि सारे उत्तर भारत को बंगाल की खाड़ी से अरब के समुद्र तक और दक्षिण में विंध्य पर्वत तक जीत लिया। विन्ध्याचल के बाद चालुक्य-साम्राज्य था और हर्ष को यहां रुकना पड़ा।

हर्षवर्धन ने कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया। वह खुद कवि और नाटककार था, इससे उसके पास कवि और कलाकार जमा हो गये और कन्नौज एक मशहूर शहर हो गया। हर्ष पक्का बौद्ध था। इस समय बौद्ध धर्म, एक अलग धर्म की हैसियत से, भारत में बहुत कमजोर पड़ चुका था। ब्राह्मण इसको हज़्म करते जा रहे थे। हर्ष भारत का आखिरी महान बौद्ध सम्राट हुआ है।

हर्ष के राज-काल में ह्यु एनत्सांग भारत आया था और उसके यात्रा-वर्णन में, जो उसने भारत से लौटकर लिखा था, भारत का और मध्य-एशिया के उन मुल्कों का, जिनसे होकर वह भारत आया था, बहुत-कुछ हाल मिलता है। ह्यु एनत्सांग एक धर्मपरायण बौद्ध था और वह बौद्ध धर्म के पवित्र स्थानों की यात्रा करने और इस धर्म की पुस्तकें अपने साथ ले जाने के लिए भारत आया था। यह गोबी के रेगिस्तान को पार करके आया था और रास्ते में उसने ताशकन्द, समरकन्द, बलख, खुतन, यारकन्द आदि कई मशहूर स्थानों की यात्रा की थी। वह सारे भारत में घूमा और शायद लंका भी गया था। इसकी किताब अनेक बातों का एक आश्चर्यजनक और चित्ताकर्षक कबाड़खाना है, जिसमें उन देशों का सच्चा दिग्दर्शन है, जहां-जहां ह्यु एनत्सांग गया था; भारत के भिन्न-भिन्न भागों के निवासियों के आश्चर्यजनक चरित्र-चित्रण हैं, जो आज भी सही मालूम होते हैं; अद्भुत कहानियां हैं, जो ह्यु एनत्सांग ने यहां सुनी थीं; और बुद्ध तथा बोधिसत्वों के चमत्कारों की अनेक कथाएं हैं।

ह्यु एनत्सांग ने बहुत वर्ष भारत में बिताये, खासकर नालन्दा के विश्वविद्यालय में, जो पाटलिपुत्र के पास था। कहते हैं, नालन्दा में, जो मठ और विश्वविद्यालय दोनों था, दस हजार विद्यार्थी और भिक्खु रहा करते थे। यह बौद्ध विद्या का बड़ा केन्द्र था और बनारस का, जो ब्राह्मण-विद्या का केन्द्र समझा जाता था, प्रतिद्वन्द्वी था।

ह्यु एनत्सांग सन ६२९ ई० में भारत आया। चीन से जब इसने अपनी यात्रा शुरू की, इसकी उम्र २६ साल की थी। एक पुरानी चीनी पुस्तक में लिखा है कि ह्यु एनत्सांग सुन्दर और लम्बा था। "उसका रंग मनोहर और आंखें चमकदार थीं; चाल-ढाल गम्भीर और शानदार थी और उसके चेहरे से आकर्षण और तेज बरसते थे। . . . उसमें पृथ्वी को चारों ओर घेरनेवाले विशाल समुद्र की-सी गंभीरता थी और जल में पैदा होनेवाले कमल के समान शान्ति और सुषमा थी।"

बौद्ध भिक्खु का केसरिया बाना पहनकर यह अकेला अपनी कठिन यात्रा पर चल पड़ा, हालांकि चीनी सम्राट ने इसे इजाजत नहीं दी थी। इसने गोबी का रेगिस्तान पार किया और जब यह सब कठिनाइयां झेलकर

तुरफान के राज्य में पहुंचा, जो इस रेगिस्तान के किनारे पर ही था, तो सिर्फ इसकी जान ही बाकी थी। तुरफान का रेगिस्तानी राज्य सभ्यता और संस्कृति का छोटा-सा एक अजीब नखलिस्तान था। आज यह एक वीरान जगह है, जहां पुरातत्ववेत्ता और इतिहासवेत्ता पुराने खण्डहरों की तलाश में जमीन खोदते फिरते है। लेकिन सातवीं सदी में जब ह्यु एनत्सांग यहां से गुजरा था, तुरफान एक उच्च संस्कृति का और जीवन से भरा-पूरा देश था। इसकी संस्कृति में भारत, चीन, ईरान और कुछ अंशों में यूरोप की संस्कृतियों का अजीब मेल था। यहां बौद्धधर्म का प्रचार था और संस्कृत के कारण भारतीयता का प्रभाव भी स्पष्ट दिखाई देता था। फिर भी इस देश का रहन-सहन ज्यादातर चीन और ईरान से लिया हुआ था। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि यहां पत्थर की दीवारों पर जो चित्र हैं, उनकी आकृतियां यूरोपीय ढांचे की हैं। पत्थर पर बने हुए बुद्ध और बोधि-सत्व, देवियों और देवताओं के ये चित्र बड़े ही सुन्दर हैं। देवियों की मूर्तियां या तो भारतीय पोशाक में हैं, या उनके मुकुट और पोशाक यूनानी हैं।

तुरफान अब भी है, लेकिन अब यह कोई महत्व की जगह नहीं है। कितने ताज्जुब की बात है कि इतने दिन पहले, सातवीं सदी में, संस्कृति की भरपूर धाराएं दूर-दूर के देशों से आकर इस जगह मिलीं और मिलकर इनका एक सामंजस्यपूर्ण नया रूप बन गया!

तुरफान से ह्यु एनत्सांग कूचा गया। यह उस जमाने में मध्य-एशिया का एक दूसरा मशहूर केन्द्र था। इसकी सभ्यता शानदार चमक-दमक-वाली थी और यहां के गायक तथा यहां की स्त्रियों की सुन्दरता खास तौर पर मशहूर थी। इस देश का धर्म और कला भारत की थीं। ईरान ने इसे संस्कृति और व्यापारी माल दिया था और इसकी भाषा संस्कृत, पुरानी फारसी, लैटिन और केल्टिक से मिलती-जुलती थी। यह भी एक चित्ता-कर्षक मिश्रण था।

इसके बाद वह तुर्कों के मुल्क से होकर गुजरा, जहां का राजा 'महान खान', जो बौद्ध था, मध्य-एशिया के ज्यादातर हिस्से पर राज्य करता था। इसके बाद वह समरकन्द पहुंचा, जो उस समय भी एक पुराना शहर माना

जाता था और जिसके साथ सिकन्दर की यादगार जुड़ी हुई थी, क्योंकि करीब एक हजार वर्ष पहले सिकन्दर यहां से होकर गुजरा था। फिर वह बलख गया और वहां से काबुल नदी की घाटी पारकर काश्मीर होता हुआ भारत में आया।

यह जमाना चीन में तांग राज-वंश के शुरू का था, जब चीन की राजधानी सी-आन-फू कला और विद्या का केन्द्र थी और सभ्यता में चीन दुनिया के सब देशों से आगे था। इसलिए याद रखना चाहिए कि ह्यूएनत्सांग बहुत ऊंची सभ्यता के इस देश से आया था और तुलना करने में उसका आदर्श काफी ऊंचा रहा होगा। इसीलिए भारत की हालत के बारे में उसका बयान बहुत महत्वपूर्ण और कीमती है। उसने भारतवासियों की और उनके शासन की बहुत तारीफ की है। वह कहता है :

"हालांकि भारत के साधारण लोग स्वभाव से बेपरवाह होते हैं, फिर भी वे ईमानदार और इज्जतवाले हैं। रुपये-पैसे के मामले में इनमें कोई मक्कारी नहीं पाई जाती और इन्साफ करने में ये दयाशील होते हैं। आचरण में न उनमें धोखेबाजी है, न विश्वासघात; और ये लोग अपनी बातों के और वादों के पक्के हैं। शासन के नियमों में इनका सिद्धान्तों पर आग्रह एक विशेषता है और इनके व्यवहार में बहुत सज्जनता और मिठास है। अपराधियों और बागियों की तादाद यहां बहुत ही कम है और उनके कारण कभी-कभी ही परेशानी उठानी पड़ती है।"

वह आगे लिखता है—"चूंकि सरकारी शासन का आधार उदार सिद्धान्तों पर है, इसलिए शासन-विभाग पेचीदा नहीं है। . . . लोगों से बेगार नहीं ली जा सकती।"…"इस तरह लोगों पर करों का बोझ बहुत हलका है और उनसे मामूली काम लिया जाता है। हरएक आदमी अपनी सांसारिक सम्पत्ति का शान्तिपूर्वक उपभोग करता है और सभी लोग अपनी रोजी के लिए हल चलाते हैं। जो लोग सरकारी जमीन में खेती करते हैं, उन्हें उपज का छठा हिस्सा लगान में देना पड़ता है। धन्धा करनेवाले व्यापारी अपने काम के लिए आजादी से इधर-उधर आ-जा सकते हैं।"

ह्यूएनत्सांग ने देखा कि जनता के लिए शिक्षा की व्यवस्था अच्छी

थी और बच्चों की शिक्षा जल्दी शुरू कर दी जाती थी। पहली किताब खतम करने के बाद लड़के या लड़की की सात वर्ष की उम्र से ही पांचों शास्त्रों की पढ़ाई शुरू कर दी जाती थी। आजकल शास्त्र का मतलब सिर्फ धर्म-पुस्तक समझा जाता है, लेकिन उस समय शास्त्र का मतलब सब तरह का ज्ञान था। पांच शास्त्र ये थे—१. व्याकरण २. कला-कौशल का विज्ञान ३. आयुर्वेद ४. न्याय और ५. दर्शन। इन विषयों की शिक्षा विश्वविद्यालयों में होती थी, और साधारण तौर पर तीस साल की उम्र में पूरी हो जाती थी। मेरा खयाल है कि बहुत लोग इस उम्र तक न पढ़ सकते होंगे। लेकिन यह मालूम होता है कि प्रारंभिक शिक्षा काफी फैली हुई थी। ह्युएनत्सांग पर भारतवासियों के विद्या-प्रेम का बहुत असर पड़ा था। अपनी सारी किताब में वह इस बात का जिक्र करता है।

उसने प्रयाग के बड़े कुम्भ मेले का भी जिक्र किया है। इससे पता लगता है कि उस समय भी यह मेला बहुत प्राचीन था और ठेठ वैदिक काल से चला आ रहा था। इस प्राचीन परम्परा के मेले के मुकाबले में हमारा शहर इलाहाबाद अभी कल का शहर है। इस शहर को ४०० वर्ष से कम हुए, अकबर ने बसाया था। प्रयाग इससे बहुत ज्यादा पुराना है। लेकिन प्रयाग से भी पुराना वह आकर्षण है, जो हजारों वर्षों से लाखों यात्रियों को हर वर्ष गंगा और जमुना के संगम पर खींच लाता है।

ह्युएनत्सांग लिखता है कि बौद्ध होते हुए भी हर्ष इस शुद्ध हिन्दू मेले में जाया करता था। उसकी तरफ से शाही आज्ञा-पत्र जारी किया जाता था, जिसमें 'पंच हिन्द' के सब गरीबों और मुहताजों को मेले में आकर उसका मेहमान होने के लिए निमंत्रित किया जाता था। किसी सम्राट के लिए भी इस तरह का निमंत्रण देना बड़े हौसले का काम था। कहने की जरूरत नहीं कि बहुत-से आदमी आते थे और रोज करीब एक लाख आदमी हर्ष के यहां भोजन करते थे। इस मेले में हर पांचवें वर्ष हर्ष अपने खजाने की सारी बचत, सोना, जेवर, रेशम वगैरह, जो कुछ उसके पास होता था—सब बांट देता था। एक बार उसने अपना राजमुकुट और कीमती पोशाक भी दे डाली थी और अपनी बहन राज्यश्री से एक पुराना मामूली कपड़ा, जो पहले पहना जा चुका था, लेकर पहना था।

श्रद्धालु बौद्ध होने के कारण हर्ष ने खाने के लिए जानवरों का मारा जाना बन्द कर दिया था। ब्राह्मणों ने इसपर शायद ऐतराज नहीं किया, क्योंकि बुद्ध के बाद से ये लोग अधिकाधिक निरामिषभोजी हो गये थे।

ह्युएनत्सांग की किताब में एक बड़ी मजेदार बात है। वह लिखता है कि भारत में जब कोई आदमी बीमार पड़ता था तो वह तुरन्त सात दिन का लंघन कर डालता था। बहुत लोग तो लंघन के दौरान में ही अच्छे हो जाते थे। लेकिन अगर बीमारी फिर भी कायम रहती तो दवा लेते थे। उस जमाने में बीमार पड़ना अच्छी बात नहीं समझी जाती रही होगी, और न वैद्य लोगों की ही ज्यादा मांग रही होगी।

उस जमाने में भारत में एक मार्के की बात यह थी कि शासक और सेनाधिकारी विद्वानों और शीलवानों की बहुत इज्जत करते थे। भारत में और चीन में इस बात की जान-बूझकर कोशिश की गई और इसमें खूब सफलता भी हुई कि विद्या और संस्कृति को इज्जत की जगह मिले, पाशविक बल या धन-दौलत को नहीं।

भारत में बहुत वर्ष बिताने के बाद ह्युएनत्सांग फिर उत्तरी पहाड़ों को पार करता हुआ अपने देश लौट गया। सिन्ध नदी में वह डूबते-डूबते बचा और इसके साथ की बहुत-सी कीमती किताबें बह गईं। फिर भी वह हाथ से लिखी बहुत-सी किताबें अपने साथ ले गया और बहुत सालों तक इन किताबों का चीनी भाषा में अनुवाद करने में लगा रहा। तांग सम्राट ने सी-आन-फू में उसका बड़े प्रेम से स्वागत किया और इसी सम्राट के कहने पर इसने अपनी यात्रा का हाल लिखा था।

उस जमाने के यात्री अद्भुत होते थे। आजकल की अफरीका के अन्दर के मुल्कों की यात्रा या उत्तरी अथवा दक्षिणी ध्रुव की यात्राएं तक भी पुराने जमाने की इन महान यात्राओं के मुकाबले में तुच्छ नज़र आती हैं। पहाड़ों और रेगिस्तानों को पार करते हुए और वर्षों अपने मित्रों और परिवार से बिछुड़े हुए ये लोग मंजिल-दर-मंजिल आगे बढ़ते जाते थे। शायद कभी-कभी इन्हें अपने घर की याद भी आती थी, लेकिन उनमें इतना आत्म-गौरव था कि इस बात को जबान पर नहीं लाते थे। फिर भी एक यात्री ने अपने मन की हलकी-सी झलक हमें दी है। उसने लिखा है कि जब वह

एक दूर देश में खड़ा था, उसे अपने घर की याद आई, और वह व्याकुल हो गया। इस यात्री का नाम सुंगयुन था और यह भारत में ह्युएनत्सांग से सौ वर्ष पहले आया था।

: ६ :

शंकराचार्य

दक्षिण भारत में एक बड़े अद्भुत आदमी ने जन्म लिया, जिसने भारत की जिन्दगी में सारे राजा-महाराजाओं से भी ज्यादा महत्व का हिस्सा लिया। यह नवयुवक शंकराचार्य के नाम से प्रसिद्ध है। शायद वह आठवीं सदी के अन्त में पैदा हुआ था। मालूम होता है कि वह एक अपूर्व प्रतिभा-शाली व्यक्ति था। वह हिन्दू-धर्म के, या हिन्दू-धर्म के एक विशेष बौद्धिक रूप के, जिसे शैव मत कहते हैं, पुनरुद्धार में लग गया। वह अपनी बुद्धि और तर्क के बल पर बौद्धधर्म के विरुद्ध लड़ा। बौद्ध संघ की तरह इसने भी संन्यासियों का संघ बनाया, जिसमें सब जाति के लोग शामिल हो सकते थे। उसने संन्यासियों के संघ के चार केन्द्र भारत के उत्तर, पश्चिम, दक्षिण और पूर्व के चारों कोनों में स्थापित किये। उसने सारे भारत की यात्रा की और जहां-कहीं भी वह गया, सफल हुआ। एक विजेता के रूप में वह बनारस आया, पर वह बुद्धि को जीतनेवाला और तर्क में जीतने-वाला विजेता था। अन्त में वह हिमालय पर केदारनाथ गया, जहां सदा जमी रहनेवाली बर्फ की शुरुआत होती है, और वहीं उसका देहावसान हुआ। जब वह मरा, उसकी उम्र केवल बत्तीस वर्ष या शायद इससे कुछ ही ज्यादा थी।

शंकराचार्य के कामों का लेखा अद्भुत है। बौद्धधर्म, जो उत्तर भारत से दक्षिण भगा दिया गया था, अब भारत से करीब-करीब गायब हो गया। हिन्दू-धर्म और शैव मत के नाम से प्रसिद्ध उसका एक रूप सारे देश में फैल गया। शंकर के ग्रन्थों, भाष्यों और तर्कों से सारे देश में एक बौद्धिक हलचल मच गई। शंकर सिर्फ ब्राह्मणों ही का महान नेता नहीं बन गया, बल्कि उसने जन-साधारण के चित्त को भी आकर्षित कर लिया। यह

एक असाधारण बात मालूम होती है कि कोई आदमी सिर्फ अपनी बुद्धि के बल पर एक महान नेता बन जाय और फिर करोड़ों आदमियों पर और इतिहास पर अपनी छाप डाल दे। बड़े योद्धा और विजेता इतिहास में विशेष स्थान पा जाते हैं। वे या तो लोकप्रिय हो जाते हैं या घृणा के पात्र, और कभी-कभी वे इतिहास पर भी प्रभाव डालते हैं। महान धार्मिक नेताओं ने करोड़ों के दिलों को हिला दिया है और उनमें जोश की आग भर दी है। लेकिन यह सबकुछ हमेशा श्रद्धा के आधार पर हुआ है। उन्होंने भावनाओं को अपील की है और उन्हें प्रभावित किया है।

मन और बुद्धि को जो अपील की जाती है, उसका असर बहुत ज्यादा नहीं होता। बदकिस्मती से ज्यादातर लोग विचार नहीं करते। वे तो सिर्फ़ महसूस करते हैं और अपनी भावनाओं के अनुसार बर्ताव करते हैं, लेकिन शंकर की अपील मन और बुद्धि को और विवेक को ही होती थी। वह किसी पुरानी किताब में लिखे रूढ़ मत को नहीं दुहराता था। उसका तर्क ठीक था या गलत, इसका विचार इस समय फिजूल है। दिलचस्पी की बात तो यह है कि उसने धार्मिक समस्याओं पर बौद्धिक दृष्टि से विचार किया। इससे भी ज्यादा दिलचस्प यह बात है कि इस तरीके को इख्तियार करने में उसने सफलता पाई। इससे हम उस समय के शासक-वर्ग की मनोदशा की एक झलक मिलती है।

हिन्दू दार्शनिकों में एक आदमी चार्वाक नाम का भी हुआ है, जिसने अनीश्वरवाद का प्रचार किया है, यानी वह कहा करता था कि ईश्वर नहीं है। आज बहुत-से ऐसे आदमी हैं, खासकर रूस में, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते। लेकिन यहां हमें इस प्रश्न की गहराई में जाने की जरूरत नहीं है। मतलब की बात यह है कि पुराने जमाने में भारत में विचार और प्रचार की कितनी स्वतन्त्रता थी। वह अन्तःकरण की स्वतन्त्रता का युग था। यह बात यूरोप में अभीतक नहीं थी और आज भी इस संबंध में कुछ बन्दिशें हैं।

शंकर के छोटे-से, किन्तु कठोर परिश्रम के जीवन से दूसरी बात यह साबित होती है कि सारे भारत में सांस्कृतिक एकता थी। यह एकता प्राचीन इतिहास में लगातार स्वीकार की गई है। भूगोल की दृष्टि से,

भारत करीब-करीब एक इकाई है। राजनैतिक दृष्टि से भारत में अक्सर विभेद रहा है, हालांकि कभी-कभी सारा देश एक ही केन्द्रीय शासन में भी रहा। लेकिन संस्कृति के लिहाज से यह देश हमेशा से एक रहा, क्योंकि इसकी पृष्ठभूमि, इसकी परम्पराएं, इसका धर्म, इसके वीर और वीरांगनाएं, इसकी पौराणिक गाथाएं, इसकी विद्वत्ता से भरी भाषा (संस्कृत), देशभर में फैले हुए इसके तीर्थस्थान, इसकी ग्राम-पंचायतें, इसकी विचार-धारा और इसका राजनैतिक संगठन, शुरू से एक ही चले आ रहे हैं। साधारण भारतवासी की नजर में सारा भारत 'पुण्यभूमि' था और बाकी दुनिया अधिकतर म्लेच्छों का और बर्बरों का निवास-स्थान थी! इस प्रकार भारत में भारतीयता की एक व्यापक भावना पैदा हुई, जिसने देश के राजनैतिक विभाजन की परवा नहीं की, बल्कि उसपर विजय प्राप्त की।

शंकर का अपने संन्यासियों के मठों के लिए भारत के चारों कोनों को चुनना इस बात का सबूत है कि वह भारत को सांस्कृतिक इकाई समझता था और उसके आन्दोलन की थोड़े ही समय में महान सफलता यह भी जाहिर करती है कि बौद्धिक और सांस्कृतिक धाराएं कितनी तेजी से देश के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुंच गईं।

शंकर ने शैव मत का प्रचार किया। यह मत दक्षिण में खासतौर से फैला, जहां ज्यादातर शिव के पुराने मन्दिर हैं। उत्तर में गुप्तों के जमाने में वैष्णव धर्म का और कृष्ण की पूजा का फिर से बहुत प्रचार हुआ। हिन्दू-धर्म के इन दोनों सम्प्रदायों के मन्दिर एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न हैं।

: १० :

हज़रत मुहम्मद और इस्लाम

इस्लाम ने अरबों को जगाया, उनमें आत्म-विश्वास और जोश भर दिया। इस मजहब को पैगम्बर मुहम्मद ने, जो मक्का में ५७० ई० में पैदा हुए थे, चलाया था। उन्हें इस मजहब के चलाने की कोई जल्दी नहीं थी। वह शान्ति की जिन्दगी गुजारते थे, और मक्का के लोग उनको चाहते थे और उनपर विश्वास करते थे। वास्तव में लोग उन्हें 'अल्

अमीन' या अमानतवाला कहा करते थे। लेकिन जब उन्होंने अपने नये मजहब का प्रचार शुरू किया, और खासकर जब वह मक्का की मूर्तियों की पूजा का विरोध करने लगे तो बहुत-से लोगों ने उनके खिलाफ बड़ा हल्ला मचाया और आखिर उनको अपनी जान बचाकर मक्का से भागना पड़ा। सबसे ज्यादा वह इस बात पर जोर देते थे कि ईश्वर सिर्फ एक है और खुद मुहम्मद उसका रसूल है।

मक्का से अपने ही लोगों द्वारा भगा दिये जाने पर, उन्होंने यथरीब में अपने कुछ दोस्तों और सहायकों के यहां आश्रय लिया। मक्का से उनके इस कूच को अरबी जबान में 'हिजरत' कहते हैं और मुसलमानी सम्वत उसी वक्त, यानी सन ६२२ ई० से शुरू होता है। यह हिजरी सम्वत चान्द्र-सम्वत है, यानी इसमें चन्द्रमा के अनुसार तिथियों का हिसाब लगाया जाता है। इसलिए सौर वर्ष से, जिसका आजकल आमतौर पर प्रचार है, हिजरी साल ५-६ दिन कम का होता है। हिजरी सम्वत के महीने हर साल एक ही मौसम में नहीं पड़ते। हिजरी सम्वत का एक महीना अगर इस साल जाड़े में है तो कुछ वर्षों के बाद वही महीना बीच गरमी में पड़ सकता है।

हम ऐसा कह सकते हैं कि इस्लाम तबसे शुरू हुआ, जब मुहम्मद मक्का से भागे, या उन्होंने 'हिजरत' की, यानी सन ६२२ ई० से, हालांकि एक लिहाज से इस्लाम इसके पहले शुरू हो चुका था। यथरीब शहर ने मुहम्मद का स्वागत किया और इस उपलक्ष में इस शहर का नाम बदलकर 'मदीनत-उन-नबी' यानी 'नबी का शहर' कर दिया गया आजकल संक्षेप में इसको सिर्फ मदीना कहते हैं। मदीना के जिन लोगों ने मुहम्मद की मदद की थी, वे 'अंसार' कहलाये। अंसार का मतलब है मददगार। इन मददगारों के वंशज अपने इस खिताब पर अभिमान करते थे और अभीतक इसका इस्तेमाल करते हैं।

हिजरत के बाद सात वर्ष के अन्दर ही मुहम्मद मक्का के स्वामी के रूप में ही वहां लौटे। इसके पहले ही वह मदीना से दुनिया के बादशाहों और शासकों के पास यह पैगाम भेज चुके थे कि वे एक ईश्वर और उसके रसूल को मंजूर करें। इन बादशाहों और शासकों को बड़ा ताज्जुब हुआ होगा कि आखिर यह अनजान आदमी कौन है, जो उनके

पास हुक्म भेजने की जुर्रत करता है ! इन पैगामों के भेजने से ही हम कुछ अन्दाज लगा सकते हैं कि मुहम्मद को अपने में और अपने मिशन में कितना जबरदस्त विश्वास था । इसी आत्म-विश्वास और ईमान को उन्होंने अपनी कौम में भर दिया और इसीसे प्रेरणा और सांत्वना प्राप्त करके रेगिस्तान के इन लोगों ने, जिनकी पहले कोई हैसियत नहीं थी, उस समय की आधी दुनिया को जीत लिया ।

विश्वास और ईमान खुद तो बड़ी चीजें थे ही । साथ ही इस्लाम ने भाईचारे का, यानी सब मुसलमान बराबर है, इसका भी सन्देश दिया । इस प्रकार कुछ हद तक लोकतन्त्र का सिद्धान्त लोगों के सामने आया । भाईचारे के इस सन्देश ने सिर्फ अरबों पर ही नहीं, बल्कि जहां-जहां वे गये, उन अनेक देशों के निवासियों पर भी, बड़ा भारी असर डाला होगा ।

मुहम्मद सन ६३२ ई० में, हिजरत के दस वर्ष बाद, मर गये । उन्होंने अरब देश की आपस में लड़नेवाली अनेक जंगली कौमों को संगठित करके एक नया राष्ट्र बनाया और उनमें एक आदर्श के लिए जबरदस्त जोश भर दिया । इनके बाद इनके खान्दान के एक व्यक्ति अबूबकर खलीफा हुए । उत्तराधिकारी चुनने का यह काम आम सभा में सरसरी तौर के चुनाव से होता था । दो वर्ष बाद अबूबकर मर गये और उमर उनकी जगह पर खलीफा बनाये गये । यह दस वर्ष तक खलीफा रहे ।

अबूबकर और उमर महान आदमी थे, जिन्होंने अरबी और इस्लामी महानता की बुनियाद डाली । खलीफा की हैसियत से वे धर्माध्यक्ष और राजनैतिक प्रमुख, यानी बादशाह और पोप, दोनों थे । अपने ऊंचे ओहदे और राज्य की दिन-दिन बढ़नेवाली ताकत के होते हुए भी, उन्होंने अपने जीवन की सादगी नहीं छोड़ी और ऐश-आराम और ऊपरी शान-शौकत से कतई इन्कार कर दिया । इस्लाम का लोकतन्त्र इनके लिए एक जिन्दा चीज थी । लेकिन इनके मातहत हाकिम और अमीर लोग बहुत जल्द ऐश-आराम और शान-शौकत में फंस गये । अबूबकर और उमर ने किस तरह बार-बार इन अफसरों की लानत-मलामत की और उन्हें सजा दी, यहांतक कि इनकी फिजूलखर्ची पर आंसू भी बहाये, इसके बहुत-से किस्से बयान किये जाते हैं । इनकी धारणा थी कि सीधे-सादे और कठोर

रहन-सहन में ही इनकी ताकत है और अगर इन्होंने कुस्तुंतुनिया और ईरान के बादशाही दरबारों का-सा ऐश-आराम अख्तियार कर लिया तो अरब लोग भ्रष्ट हो जायंगे और उनका पतन हो जायगा ।

अबूबकर और उमर का शासन बारह वर्ष रहा । लेकिन इस थोड़े-से समय में ही अरबों ने पूर्वी रोमन साम्राज्य और ईरान के सासनी बादशाह दोनों को हरा दिया था । यहूदियों और ईसाइयों के पवित्र शहर यरूशलम पर अरबों ने कब्जा कर लिया था और सारा सीरिया, इराक और ईरान इस नये अरबी साम्राज्य का हिस्सा बन चुका था ।

दूसरे कुछ मजहबों के संस्थापकों की तरह मुहम्मद भी उस समय की बहुत-सी सामाजिक प्रथाओं के विरोधी थे । जिस मजहब का उन्होंने प्रचार किया, उसकी सादगी, सफाई, लोकतन्त्र और समता की सुगन्ध ने आस-पास के देशों की जनता के दिलों को खींच लिया । निरंकुश राजाओं ने और राजाओं की ही तरह निरंकुश और जालिम पुजारियों ने जनता को बहुत दिनों से पीस रखा था । लोग पुराने ढंगों से तंग आ गये थे और तब्दीली के लिए तैयार बैठे थे । इस्लाम ने यह तब्दीली उनके सामने रखी और इसका उन्होंने स्वागत किया, क्योंकि इसकी वजह से उनकी हालत बहुत-सी बातों में बेहतर होगई, और बहुत-सी पुरानी बुराइयां खत्म हो गईं । इस्लाम के साथ कोई ऐसी बड़ी सामाजिक क्रान्ति नहीं आई, जिससे जनता का शोषण खतम हो गया होता, लेकिन जहांतक मुसलमानों का सम्बन्ध था, यह शोषण वास्तव में कम हुआ और वे महसूस करने लगे कि वे सब एक ही महान बिरादरी के लोग हैं ।

: ११ :

महमूद गजनवी

हारूं-अल-रशीद के बाद खलीफा कमजोर हो गये और एक समय आया जब खलीफाओं का यह साम्राज्य कई स्वतन्त्र राज्यों में विभाजित हो गया । सुबुक्तगीन नाम के एक तुर्की गुलाम ने सन ९७५ ई० के लगभग गजनी और कंधार में अपना एक राज्य कायम कर लिया । उसने भारत

पर भी हमला किया। उन दिनों लाहौर का राजा जयपाल था। साहसी जयपाल सुबुक्तगीन के खिलाफ काबुल की घाटी पर जा चढ़ा, पर वहां उसकी हार हो गई।

सुबुक्तगीन के बाद उसका बेटा महमूद गद्दी पर बैठा। यह एक तेजस्वी सेनापति और घुड़सवारों की सेना का कुशल नायक था। हर साल वह भारत पर धावा बोलता, लूटता, मार-काट करता और अपने साथ बहुत-सा धन और बहुत-से आदमी कैद करके ले जाता। कुल मिलाकर उसने भारत पर १७ हमले किये। इनमें से उसका केवल काश्मीर का एक धावा असफल रहा। बाकी सब धावे सफल हुए और सारे उत्तरी भारत पर उसका आतंक छा गया। वह दक्षिण की तरफ पाटलि-पुत्र, मथुरा और सोमनाथ तक जा पहुंचा। कहा जाता है कि थानेश्वर से वह दो लाख कैदी और बहुत-सा धन ले गया था। लेकिन उसे सबसे ज्यादा खजाना सोमनाथ में मिला, क्योंकि वहांपर एक बहुत बड़ा मन्दिर था और सदियों की भेंट-पूजा वहां जमा थी। कहते हैं, जब महमूद सोमनाथ के पास पहुंचा तो इस आशा में कि मूर्ति में कोई चमत्कार जरूर होगा और उनका पूज्य देवता उनकी अवश्य मदद करेगा, हजारों आदमियों ने उस मन्दिर में शरण ली। लेकिन भक्तों की कल्पनाओं के बाहर चमत्कार शायद ही कभी होते हों। महमूद ने मन्दिर को तोड़ डाला और उसे लूट लिया। पचास हजार आदमी उस चमत्कार की राह देखते-देखते नष्ट हो गये।

महमूद सन १०३० ई० में मर गया। उस समय सारा पंजाब और सिन्ध उसके अधीन था। वह इस्लाम का एक बड़ा नेता माना जाता है, जो भारत में इस्लाम फैलाने के लिए आया। लेकिन असल में वह मजहबी आदमी नहीं था। वह मुसलमान जरूर था, लेकिन यह एक गौण बात थी। असली बात यह थी कि वह एक सैनिक, और प्रतिभाशाली सैनिक था। वह भारत को जीतने और लूटने आया था, जैसाकि बदकिस्मती से अक्सर सैनिक लोग किया करते हैं, और वह किसी भी धर्म का माननेवाला होता, तो यही करता। यह ध्यान देने की बात है कि महमूद ने सिन्ध के मुसलमान शासकों को भी धमकी दी थी और जब उन्होंने उसकी अधीनता मंजूर

कर ली और उसे खिराज दिया, तभी उसने उन्हें छोड़ा था। उसने बगदाद के खलीफा को भी मौत की धमकी दी थी और उससे समरकन्द मांगा था। इसलिए हमें महमूद को एक सफल सैनिक के अलावा और कोई समझने की आम गलती में न फंसना चाहिए।

महमूद बहुत-से भारतीय शिल्पकारों और मेमारों को अपने साथ गजनी ले गया था और वहां उसने एक सुन्दर मस्जिद बनवाई थी, जिसका नाम उसने 'उरूसे जन्नत' यानी स्वर्ग-वधू रखा था। बगीचों का उसे बड़ा शौक था।

महमूद ने मथुरा की एक झलक हमें दिखाई है, जिससे पता लगता है कि मथुरा उस समय कितना बड़ा शहर था। महमूद ने गजनी के अपने सूबेदार को एक खत में लिखा था—"यहां एक हजार ऐसी इमारतें हैं, जो मोमीनों के ईमान की तरह मजबूत हैं। यह मुमकिन नहीं कि यह शहर अपनी इस मौजूदा हालत पर बिना करोड़ों दीनार खर्च किये पहुंचा हो, और न इस तरह का दूसरा शहर दोसौ साल से कम में तैयार ही किया जा सकता है।"

महमूद का लिखा हुआ मथुरा का यह वर्णन हम फिरदौसी की किताब 'शाहनामा' में पढ़ते हैं। फिरदौसी फारसी का महाकवि था और महमूद का समकालीन था। एक कथा है कि 'शाहनामा' महमूद की आज्ञा से लिखा गया था और उसने फिरदौसी को फी शेर एक सोने की दीनार देने का वादा किया था। लेकिन मालूम होता है, फिरदौसी संक्षेप में लिखने का कायल नहीं था। उसने बहुत ही विस्तार के साथ लिखा और जब वह महमूद के सामने अपने बनाये हजारों शेर ले गया, तो हालांकि उसकी रचना की बहुत तारीफ की गई, लेकिन महमूद को अपने अविवेकपूर्ण वादे पर अफसोस हुआ। उसने उसे वादे से बहुत कम इनाम देने की कोशिश की। इसपर फिरदौसी बड़ा नाराज हुआ और उसने कुछ भी लेने से इन्कार कर दिया।

: १२ :

मुहम्मद तुगलक

मुहम्मद-बिन-तुगलक बड़ा ही अजीब व्यक्ति था। वह फारसी और अरबी का बहुत बड़ा आलिम और कामिल था। उसने दर्शन और न्याय-शास्त्र का अध्ययन किया था और यूनानी दर्शन का भी। उसे गणित, विज्ञान और चिकित्सा-शास्त्र का भी कुछ ज्ञान था। वह बहादुर आदमी था और अपने जमाने के लिहाज से विद्वत्ता का अनोखा नमूना और एक चमत्कार ही था। लेकिन फिर भी यह नमूना क्रूरता का दानव था और मालूम होता है कि बिल्कुल पागल था। वह अपने ही पिता को कत्ल करके तख्त पर बैठा था। ईरान और चीन जीतने के बारे में उसके विचार बड़े ही अजीब थे और उनका नाकामयाब होना कुदरती बात थी। लेकिन उसका सबसे मशहूर कारनामा यह था कि उसने अपनी ही राजधानी दिल्ली को इसलिए उजाड़ डालने का निश्चय किया कि शहर के कुछ लोगों ने गुमनाम पर्चों में उसकी नीति पर नुक्ताचीनी करने की गुस्ताखी की थी! उसने हुक्म दिया कि राजधानी दिल्ली से बदलकर दक्षिण में देवगिरि ले जाई जाय। इस जगह का नाम उसने दौलताबाद रखा। मकान के मालिकों को कुछ मुआवजा दिया गया और इसके बाद हरएक आदमी को, बिना किसी लिहाज के यह हुक्म दिया गया कि तीन दिन के अन्दर शहर छोड़ दे।

बहुत लोग शहर छोड़कर चल दिये। कुछ छिप भी गये। जब इनका पता चला तो इन्हें बेरहमी के साथ सजा दी गई, हालांकि इनमें से एक अन्धा था और दूसरा फालिज का मारा था। दिल्ली से दौलताबाद का रास्ता चालीस रोज का था। इस कूच में लोगों की कैसी भयंकर हालत हुई होगी और इनमें से कितने रास्ते में खतम हो गये होंगे!

और दिल्ली शहर का क्या हुआ? दो वर्ष बाद मुहम्मद-बिन-तुगलक ने इस शहर को फिर बसाना चाहा, लेकिन कामयाब न हो सका। एक आंखों देखनेवाले के शब्दों में उसने इसे बिल्कुल वीरान बना दिया था। किसी बाग को एकदम बियाबान किया जा सकता है, लेकिन बियाबान को

फिर बाग बनाना आसान नहीं होता। अफरीका का मूर यात्री इब्न बतूता, जो सुल्तान के साथ था, दिल्ली वापस आया। उसने लिखा है—"यह शहर दुनिया के सबसे बड़े शहरों में से एक है। जब हम इस शहर में दाखिल हुए, हमने इसे उस हालत में पाया, जैसा बयान किया गया है। यह बिल्कुल खाली और उजड़ा हुआ था और आबादी बहुत कम थी।" एक दूसरे आदमी ने इस शहर के बारे में लिखा है कि यह आठ या दस मील में फैला हुआ था, लेकिन "सब-कुछ नष्ट हो गया था। इसकी बरबादी इतनी मुकम्मिल थी कि शहर की इमारतों, महलों और नगरियों में कोई बिल्ली या कुत्ता तक बाकी नहीं रहा था।"

यह पागल पच्चीस वर्ष तक, यानी सन १३५१ ई० तक सुल्तान बनकर हुकूमत करता रहा। यह देखकर हैरत होती है कि जनता अपने शासकों की कितनी धूर्त्तता, क्रूरता और अयोग्यता को बरदाश्त कर सकती है। लेकिन जनता की ताबेदारी के बावजूद मुहम्मद-बिन-तुगलक अपने साम्राज्य को नष्ट-भ्रष्ट कर डालने में सफल रहा। उसकी पागलपन की योजनाओं ने और भारी टैक्सों ने देश को बरबाद कर दिया। अकाल पड़े और अन्त में बलवे होने लगे। उसकी जिन्दगी में ही, सन १३४० ई० के बाद, साम्राज्य के बड़े-बड़े हिस्से आजाद हो गये। बंगाल आजाद हो गया। दक्षिण में भी कई रियासतें पैदा हो गईं। इनमें विजयनगर की रियासत मुख्य थी, जो सन १३३६ ई० में कायम हुई और दस वर्ष के अन्दर ही दक्षिण में एक बड़ी ताकत बन गई।

दिल्ली के पास अब भी तुगलकाबाद के खंडहर देखे जा सकते हैं। इसे इसी मुहम्मद के पिता ने बसाया था।

: १३ :

चंगेज खां

सन १२११ और १२३६ ई० के बीच, भारत की सरहद पर एक बड़ा भयंकर बादल उठा। यह बादल मंगोलों का था, जिसका नेता चंगेज खां था। चंगेज खां अपने एक दुश्मन का पीछा करता हुआ ठेठ सिन्ध नदी तक

आ गया, लेकिन यहीं रुक गया। भारत बच गया। इसके करीब २०० वर्ष बाद इसीके वंश का एक दूसरा आदमी तैमूर भारत में मारकाट और बरबादी लेकर आया। हालांकि चंगेज यहां नहीं आया, लेकिन बहुत-से मंगोलों ने भारत पर छापा मारने और ठेठ लाहौर तक भी आ धमकने की आदत-सी डाल ली। कभी-कभी ये आतंक फैलाते थे और सुल्तानों तक को भी इतना डरा देते थे कि वे धन देकर उसका पिण्ड छुड़ाते थे। हजारों मंगोल पंजाब में ही बस गये।

मंगोलिया के ये खानाबदोश मर्द और औरत बड़े मजबूत थे। कष्ट झेलने की इन्हें आदत थी और ये लोग उत्तरी एशिया के लम्बे-चौड़े मैदानों में तम्बुओं में रहते थे। लेकिन इनका शारीरिक बल और कष्ट झेलने का मुहावरा इनके ज्यादा काम न आते, अगर इन्होंने एक सरदार न पैदा किया होता, जो बड़ा अनोखा व्यक्ति था। यह वही व्यक्ति है, जो चंगेज खां के नाम से मशहूर है। यह सन ११५५ ई० में पैदा हुआ था और इसका असली नाम तिमूचिन था। इसका पिता येगुसी-बगातुर इसको बच्चा ही छोड़कर मर गया था। 'बगातुर' मंगोल अमीरों का लोकप्रिय नाम था। इसका मतलब है 'वीर' और मेरा खयाल है कि उर्दू का 'बहादुर' शब्द इसीसे निकला है।

हालांकि चंगेज १० वर्ष का छोटा लड़का ही था और उसका कोई मददगार नहीं था, फिर भी वह मेहनत करता चला गया, और आखिर में कामयाब हुआ। वह कदम-ब-कदम आगे बढ़ता गया, यहांतक कि अंत में मंगोलों की बड़ी सभा 'कुरुलताई' ने अधिवेशन करके उसे अपना 'खान महान' या 'कागन' या सम्राट चुना। इससे कुछ साल पहले उसे चंगेज का नाम दिया जा चुका था।

चंगेज जब 'खान महान' या 'कागन' बना, उसकी उम्र ५१ वर्ष की हो चुकी थी। यह जवानी की उम्र नहीं थी और इस उम्र पर पहुंचकर ज्यादातर आदमी शांति और आराम चाहते हैं। लेकिन उसके लिए तो यह विजय-यात्रा के जीवन की शुरुआत थी। यह गौर करने की बात है, क्योंकि ज्यादातर महान विजेताओं ने मुल्कों को जीतने का काम जवानी में ही पूरा कर लिया है। इससे हम यह नतीजा भी निकाल सकते हैं कि चंगेज ने जवानी

के जोश में एशिया को नही रौंद डाला था। वह अधेड़ उम्र का एक होशियार और सावधान आदमी था और हर बड़े काम को हाथ में लेने से पहले उसपर विचार और उसकी तैयारी कर लेता था।

मंगोल लोग खानाबदोश थे। शहरों और शहरों के रंग-ढंग से भी उन्हें नफरत थी। बहुत लोग समझते हैं कि चूकि वे खानाबदोश थे, इसलिए जंगली रहे होंगे, लेकिन यह खयाल गलत है। शहर की बहुत-सी कलाओं का उन्हें अलबत्ता ज्ञान नहीं था; लेकिन उन्होंने जिन्दगी का अपना एक अलग तरीका ढाल लिया था और उनका संगठन बहुत गुंथा हुआ था। लड़ाई के मैदान में अगर उन्होंने महान विजयें प्राप्त कीं तो संख्या अधिक होने के कारण नहीं, बल्कि अनुशासन और संगठन के कारण। और इसका सबसे बड़ा कारण तो यह था कि उन्हें चंगेज जैसा जगमगाता सेनानी मिला था। इसमें कोई शक नही कि इतिहास में चंगेज जैसा महान और प्रतिभा-वाला सैनिक-नेता दूसरा कोई नहीं हुआ है। सिकन्दर और सीजर इसके सामने नाचीज नजर आते हैं। चंगेज न सिर्फ खुद बहुत बड़ा सिपहसालार था, बल्कि उसने अपने बहुत-से फौजी अफसरों को तालीम देकर होशियार नायक बना दिया था। अपने वतन से हजारों मील दूर होते हुए, दुश्मनों और विरोधी जनता से घिरे रहते हुए भी, वे अपने से ज्यादा तादाद की फौजों से लड़कर उनपर विजय प्राप्त करते थे।

चंगेज ने बड़ी सावधानी के साथ अपनी विजय-यात्रा की तैयारियां कीं। उसने अपनी फौज को लड़ाई की तालीम दी। सबसे ज्यादा इसने अपने घोड़ों को सिखाया था और इस बात का खास इन्तजाम किया था कि एक घोड़ा मरने के बाद दूसरा घोड़ा तुरन्त सिपाहियों के पास पहुंच सके, क्योंकि खानाबदोशों के लिए घोड़ों से ज्यादा महत्व की चीज कोई नहीं है। इनसब तैयारियों के बाद उसने पूर्व की तरफ कूच किया और उत्तर चीन और मंचूरिया के किन साम्राज्य को करीब-करीब खत्म कर दिया और पेकिंग पर भी कब्जा कर लिया। उसने कोरिया जीत लिया। मालूम होता है कि दक्षिणी सुंगों को उसने दोस्त बना लिया था। इन सुंगों ने किन लोगों के खिलाफ उसकी मदद भी की थी। बेचारे यह नहीं समझते थे कि इनके बाद उनकी बारी भी आनेवाली है। चंगेज ने बाद में सुंगों को भी जीत लिया था।

इन विजयों के बाद चंगेज आराम कर सकता था। ऐसा मालूम होता है कि पश्चिम पर हमला करने की उसकी इच्छा नहीं थी। वह खारजम के शाह से मित्रता का संबंध रखना चाहता था, लेकिन यह हो नहीं पाया। एक पुरानी कहावत है, जिसका मतलब है कि देवता जिसे नष्ट करना चाहते हैं, पहले उसे पागल कर देते हैं। खारजम का बादशाह अपनी ही बरबादी पर तुला हुआ था और इसे पूरा करने के लिए जो कुछ मुमकिन था, उसने किया। उसके एक सूबे के हाकिम ने मंगोल सौदागरों को कत्ल कर दिया। चंगेज फिर भी सुलह चाहता था और उसने यह संदेश लेकर राजदूत भेजे कि उस गवर्नर को सजा दी जाय। लेकिन बेवकूफ शाह इतना घमंडी था और अपनेको इतना बड़ा समझता था कि उसने इन राजदूतों की बेइज्जती की और उनको मरवा डाला। चंगेज के लिए इसे बरदाश्त करना नामुमकिन था, लेकिन उसने जल्दबाजी से काम नहीं लिया। उसने सावधानी से तैयारी की और तब पश्चिम की तरफ अपनी फौज के साथ कूच का डंका बजा दिया।

इस कूच ने, जो सन १२१९ ई० में शुरू हुआ, एशिया की और कुछ हद तक यूरोप की आंखें इस नये आतंक की तरफ खोल दी, जो बड़े भारी बेलन की तरह शहरों और करोड़ों आदमियों को बेरहमी के साथ कुचलता हुआ चला आ रहा था। खारजम का साम्राज्य मिट गया। बुखारा का बड़ा शहर, जिसमें बहुत-से महल थे और दस लाख से ज्यादा आबादी थी, जलाकर राख कर दिया गया। राजधानी समरकन्द बरबाद कर दी गई और उसकी दस लाख की आबादी में से सिर्फ पचास हजार लोग जिन्दा बचे। हिरात, बलख और दूसरे बहुत-से गुलजार शहर नष्ट कर दिये गए। करोड़ों आदमी मार डाले गये। जो कलाएं और दस्तकारियां वर्षों से मध्य-एशिया में फूल-फल रही थीं, गायब हो गईं। ईरान और मध्य-एशिया में सभ्य जीवन का खात्मा-सा हो गया। जहां से चंगेज गुजरा, वहां वीराना हो गया।

खारजम के बादशाह का लड़का जलालुद्दीन इस तूफान के खिलाफ बहादुरी से लड़ा। वह पीछे हटते-हटते सिन्ध नदी तक चला आया और जब यहां भी इसपर जोर का दबाव पड़ा तो कहते हैं कि वह घोड़े पर बैठा हुआ,

३० फुट नीचे सिन्ध नदी में कूद पड़ा और तैरकर इस पार निकल आया। उसे दिल्ली-दरबार में आश्रय मिला। चंगेज ने वहांतक उसका पीछा करना फिजूल समझा।

सेलजूक तुर्कों की और बगदाद की खुशकिस्मती थी कि चंगेज ने इनको बिना छेड़े छोड़ दिया और वह उत्तर में रूस की तरह बढ़ गया। उसने कीफ़ के ग्रैंड ड्यूक को हराकर कैद कर लिया। फिर वह हिसियों या तंगतों के बलवे को दबाने के लिए पूर्व की तरफ लौट गया।

चंगेज सन १२२७ ई० में ७२ वर्ष की उम्र में मर गया। उसका साम्राज्य पश्चिम में काले समुद्र से पूर्व में प्रशान्त महासागर तक फैला हुआ था। उसमें अब भी काफी तेजी थी और वह दिन-ब-दिन बढ़ ही रहा था। इसकी राजधानी अभीतक मंगोलिया में कराकुरम नाम का छोटा-सा क़स्बा था। खानाबदोश होते हुए भी चंगेज बड़ा ही योग्य संगठन करनेवाला था और उसने बुद्धिमानी के साथ अपनी मदद के लिए योग्य मंत्री मुकर्रिर कर रखे थे। उसका इतनी तेजी के साथ जीता हुआ साम्राज्य उसके मरने पर टूटा नहीं।

अरब और ईरानी इतिहास-लेखकों की नजर में चंगेज एक दानव है। उसे इन्होंने 'ख़ुदा का क़हर' कहा है। उसे बड़ा जालिम आदमी बताया गया है। इसमें शक नहीं कि वह बड़ा जालिम था, लेकिन उसके जमाने के दूसरे बहुत-से शासकों में और उसमें कोई ज्यादा फर्क नहीं था। भारत में अफग़ान बादशाह, कुछ छोटे पैमाने पर, इसी तरह के थे। जब गजनी पर अफग़ानों ने सन ११५० ई० में कब्जा किया तो पुराने खून का बदला लेने के लिए इन लोगों ने उस शहर को लूटा और जला दिया। सात दिन तक "लूट-मार, बरबादी और मार-काट जारी रही। जो मर्द मिला, उसे कत्ल कर दिया गया। तमाम स्त्रियों और बच्चों को कैद कर लिया गया। महमूदी बादशाहों (यानी सुल्तान महमूद के वंशजों) के महल और इमारतें, जिनका दुनिया में कोई सानी नहीं था, नष्ट कर दिये गए।" मुसलमानों का अपने बिरादर मुसलमानों के साथ यह सलूक था। इसके, और यहां भारत में जो कुछ अफग़ान बादशाहों ने किया उसके, और मध्य-एशिया और ईरान में चंगेज की विनाशपूर्ण कार्रवाई के, दर्जों में कोई फर्क नहीं

था। चंगेज़ खारजम से खासतौर पर नाराज़ था, क्योंकि शाह ने उसके राजदूत को कत्ल करवा दिया था। उसके लिए तो यह खूनी झगड़ा था। और जगहों पर भी चंगेज ने खूब सत्यानाश किया था, लेकिन शायद उतना नहीं, जितना मध्य-एशिया में।

शहरों को यों बरबाद करने के पीछे चंगेज की एक और भी भावना थी। उसकी खानाबदोशों की तबीयत थी और वह कसबों और शहरों से नफरत करता था। वह खुले मैदानों में रहना पसन्द करता था। एक दफा तो चंगेज को यह खयाल हुआ कि चीन के तमाम शहर बरबाद कर दिये जायं तो अच्छा होगा! लेकिन खुश-किस्मती कहिये कि उसने ऐसा किया नहीं। उसका विचार था कि सभ्यता और खानाबदोशी की जिन्दगी को मिला दिया जाय, लेकिन न तो यह सम्भव था और न है।

चंगेज खां के नाम से शायद यह खयाल हो कि वह मुसलमान था, लेकिन वह मसलमान नहीं था। यह एक मंगोल नाम है। मजहब के मामले में चंगेज बड़ा उदार था। उसका अपना मजहब अगर कुछ था तो शमावाद था, जिसमें 'अविनाशी नीले आकाश' की पूजा थी। वह चीन के ताओ धर्म के पंडितों से अक्सर खूब ज्ञान-चर्चा किया करता था। लेकिन वह खुद शमा-मत पर ही कायम रहा और जब कठिनाई में होता, तब आकाश का ही आश्रय लिया करता था।

चंगेज को मंगोलों की सभा ने 'खान महान' चुना था। यह सभा असल में सामन्तों की सभा थी, जनता की नहीं, और यों चंगेज इस फ़िरके का सामन्ती सरदार था।

वह पढ़ा-लिखा न था और उसके तमाम अनुयायी भी उसीकी तरह थे। शायद वह बहुत दिनों तक यह भी नहीं जानता था कि लिखने-जैसी भी कोई चीज होती है। संदेश जबानी भेजे जाते थे और आमतौर पर छन्द में रूपकों या कहावतों के रूप में होते थे। ताज्जुब तो यह है कि जबानी संदेशों से किस तरह इतने बड़े साम्राज्य का कारबार चलाया जाता था! जब चंगेज़ को मालूम हुआ कि लिखने-जैसी कोई चीज होती है तो उसने फौरन ही महसूस कर लिया कि यह बड़ी फायदेमन्द चीज है और उसने अपने पुत्रों और मुख्य सरदारों को इसे सीखने का हुक्म दिया। उसने यह भी हुक्म दिया

था कि मंगोलों का पुराना रिवाजी कानून और उसकी अपनी उक्तियां भी लिख डाली जायं। मराद यह थी कि यह रिवाजी कानून सदा-सर्वदा के लिए 'अपरिवर्तनशील कानून' है, और कोई इसे भंग नहीं कर सकता। बादशाह के लिए भी इसका पालन करना जरूरी था। लेकिन यह 'अपरिवर्तनशील कानून' अब अप्राप्य है और आजकल के मंगोलों को न तो इसकी कोई याद है और न इसकी कोई परम्परा ही बाकी रही है।

चंगेज खां की मृत्य के बाद उसका लड़का ओगताई 'खान महान' हुआ। चंगेज और उस जमाने के मंगोलों के मुकाबले में वह दयावान और शान्तिप्रिय स्वभाव का था। वह कहा करता था कि "हमारे आगन चंगेज ने बड़ी मेहनत से हमारे शाही खान्दान को बनाया है। अब वक्त आ गया है कि हम अपने लोगों को शान्ति दें, खुशहाल बनायें और उनकी मुसीबतों को कम करें।"

: १४ :

महान यात्री मार्को पोलो

मंगोल लोग अपने दरबार में विदेशों के यात्रियों को आने के लिए प्रोत्साहन देते थे। इनमें ज्ञान की प्यास थी और ये उनसे सीखना चाहते थे। इनके दिमाग खुले थे, जिनमें सीखने की चाह थी, इसलिए ये दूसरों से सीख सकते थे।

सन १२३९ में चीन का गवर्नर कुबलाई खां 'खान महान' बना। कुबलाई बहुत दिनों तक चीन में रह चुका था और उसे यह देश पसंद था। इसलिए उसने अपनी राजधानी कराकुरम से हटाकर पेकिंग में कायम की। कुबलाई खां खासतौर से विदेशी यात्रियों को प्रोत्साहन देता था। उसके पास वेनिस से दो व्यापारी आये थे—ये दोनों भाई थे, जिनमें एक का नाम था निकोलो पोलो, और दूसरे का मैफियो पोलो। ये लोग व्यापार की तलाश में ठेठ बुखारा तक पहुंच गये थे और वहां कुबलाई खां के कुछ एलची इन्हें मिले। उन लोगों ने इन दोनों को कारवां में शामिल

होने को राजी कर लिया और इस तरह ये 'खान महान' के दरबार में पेकिंग पहुंचे।

कुबलाई खां ने निकोलो और मैफियो का अच्छा स्वागत किया। उन्होंने खां को यूरोप, ईसाई-धर्म और पोप के बारे म बताया। उसने इनकी बातों म बहुत दिलचस्पी जाहिर की और ऐसा मालूम होता था कि वह ईसाई-धर्म की तरफ झुक रहा है। उसने सन १२६९ ई० में इन दोनों को यूरोप वापस भेजा और यह संदेश पोप से कहलाया कि सौ विद्वान, "सातों कलाओं को जाननेवाले चतुर आदमी", जो ईसाई-धर्म को सिद्ध करने में समर्थ हों, उसके यहां भेजे जायं। लेकिन ये दोनों भाई जब यूरोप वापस पहुंचे तो उस समय पोप और यूरोप दोनों की हालत बुरी थी। इस किस्म के सौ आदमी थे ही नहीं। दो वर्ष ठहरकर ये लोग दो ईसाई साधुओं को साथ लेकर वापस गये। लेकिन इससे भी ज्यादा महत्व की बात यह है कि ये अपने साथ निकोलो के नौजवान लड़के मार्को को भी ले गये।

तीनों पोलो अपनी विकट यात्रा पर रवाना हुए और खुश्की के रास्ते से इन्होंने एशिया की पूरी लम्बाई तय की। कितना जबरदस्त सफर था यह! अगर आज भी कोई उसी रास्ते पर जाय तो करीब-करीब साल-भर लग जायगा। इन्होंने कुछ हद तक ह्यूएनत्सांग का पुराना रास्ता पकड़ा था। वे फिलस्तीन होकर आरमीनिया आय और वहां से इराक और फिर ईरान की खाड़ी पहुंचे। यहां उन्हें भारत के व्यापारी मिले। ईरान पार करके वे बलख पहुंचे, और वहां से पहाड़ों को लांघते हुए काशगर से खुतन, खुतन से लात-नोर झील, जो चलती-फिरती झील कहलाती है। वहां से फिर रेगिस्तान पार करते हुए और चीन के खेतों में होते हुए पेकिंग पहुंचे। उनके पास एक शाही पासपोर्ट था, यह खुद खान महान की दी हुई सोने की तख्ती थी।

इन लम्बी-लम्बी यात्राओं से एक फायदा था। लोगों को नई भाषा या भाषाएं सीखने का समय मिल जाता था। तीनों को वेनिस से पेकिंग तक पहुंचते-पहुंचते साढ़े तीन वर्ष लग गये और इस लम्बे समय में मार्को को मंगोल भाषा पर पूरा अधिकार हो गया और शायद चीनी भाषा पर भी। मार्को 'खान महान' का बहुत चहेता हो गया और उसने करीब

सत्रह साल तक उसकी नौकरी की। वह गवर्नर बना दिया गया और सरकारी कामों पर चीन के विभिन्न प्रान्तों में जाया करता था। हालांकि मार्को और उसके पिता को घर की याद सताती थी और वे वेनिस वापस जाना चाहते थे, लेकिन खान की इजाजत हासिल करना आसान नहीं था। आखिरकार उनको वापस जाने का मौका मिल गया। ईरान में इलखान-साम्राज्य के मंगोल शासक की बीवी मर गई। यह कुबलाई का चचेरा भाई था। वह फिर शादी करना चाहता था, लेकिन उसकी पहली स्त्री ने उससे यह वादा करा लिया था कि वह अपने फिरके के बाहर की किसी औरत से शादी न करेगा। इसलिए आरगोन ने (कुबलाई के चचेरे भाई का यही नाम था) एलचियों द्वारा कुबलाई खां के पास पेकिंग संदेश भेजा और उससे प्रार्थना की कि अपने फिरके की एक योग्य स्त्री उसके लिए भेज दे।

कुबलाई खां ने एक नौजवान मंगोल राजकुमारी को पसंद किया और तीनों को उसके लश्कर के साथ कर दिया, क्योंकि ये तजुर्बेकार राहगीर थे। ये लोग समुद्र के रास्ते दक्षिण चीन से सुमात्रा गये और वहां कुछ दिन ठहरे। सुमात्रा से ये लोग दक्षिण भारत आये। राजकुमारी, मार्को और उनका लश्कर भारत में काफी दिन ठहरे। मालूम होता है कि इन्हें कोई जल्दी नहीं थी, क्योंकि इन्हें ईरान पहुंचते-पहुंचते दो वर्ष लग गये! लेकिन इस दरमियान शादी का उम्मीदवार दूल्हा मर चुका था। पर शायद उसकी मौत कोई बहुत बड़ा दुर्भाग्य साबित नहीं हुई। नौजवान राजकुमारी की शादी आरगोन के पुत्र से हो गई, जो अपने बाप की बनिस्बत उसकी उम्र के अधिक जोड़ का था।

तीनों ने राजकुमारी को तो वहीं छोड़ दिया और खुद कुस्तुंतुनिया होते हुए आगे अपने वतन चले गये। सन १२९५ ई० में, यानी घर छोड़ने के २४ वर्ष बाद, वे वेनिस पहुंचे। किसीने उनको नहीं पहचाना। कहते हैं, अपने पुराने दोस्तों और दूसरे लोगों पर सिक्का जमाने के लिए उन्होंने एक दावत दी और इस दावत के बीच में ही उन्होंने अपने फटे-पुराने और रूईभरे कपड़े उधेड़ डाले। फौरन ही कीमती जवाहिरात—हीरे, माणिक, पन्ने वगैरह—के ढेर-के-ढेर उनके कपड़ों में से निकल पड़े और मेहमान हैरत में आ गये। फिर भी उनकी कहानियों पर, चीन और भारत में

उनकी आप-बीती पर, बहुत कम लोगों ने यकीन किया। इन लोगों ने समझा कि मार्को और उसके पिता और चचा बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बातें कर रहे हैं। उन्हें चीन और एशिया के दूसरे देशों के विस्तार और उनकी दौलत की कल्पना ही नहीं हो सकती थी।

तीन वर्ष बाद, सन १२९५ ई० में, वेनिस की जिनोआ शहर से लड़ाई ठन गई। ये दोनों समुद्री ताकतें थीं और एक-दूसरी की प्रतिद्वन्द्वी थीं। दोनों में जबरदस्त समुद्री लड़ाई हुई। वेनिस के लोग हार गये और जिनोआ-वालों ने उनके हजारों आदमियों को कैद कर लिया। इन कैदियों में हमारा दोस्त मार्को पोलो भी था। जिनोआ के कैदखाने में बैठे-बैठे मार्को पोलो ने अपनी यात्राओं का वर्णन लिखा, या यों कहिये, लिखाया। इस तरह 'मार्को पोलो की यात्राएं' नामक पुस्तक बनी। अच्छा काम करने के लिए जेलखाना कितनी उपयोगी जगह है!

इस सफरनामे में मार्को ने खासतौर से चीन का हाल लिखा है और उन अनेक यात्राओं का भी जिक्र किया है, जो उसने चीन में की थीं। उसने स्याम, जावा, सुमात्रा, लंका और दक्षिण भारत का भी कुछ हाल लिखा है। उसने बताया है कि चीन में बड़े-बड़े बन्दरगाह थे, जहां पूर्व के तमाम देशों के जहाजों की भीड़ रहती थी और कोई-कोई जहाज तो इतने बड़े होते थे कि उनमें ३०० या ४०० मल्लाह चला करते थे। उसने लिखा है कि "चीन एक हरा-भरा और खुशहाल देश था, जिसमें अनेक शहर और क़सबे थे; यहां रेशमी और जरी के कपड़े और तरह-तरह के नफीस तापता बनते थे"; और "खशनुमा अंगूर की बेलों की क्यारियां और खेत और बाग थे"; और तमाम रास्तों पर "मुसाफ़िरों के लिए बढ़िया सरायें थीं"। उसने यह भी लिखा है कि शाही फरमानों को पहुंचाने के लिए हरकारों का खास इन्तजाम था। ये फरमान थोड़ी-थोड़ी दूर पर बदले जानेवाले घोड़ों के जरिये चौबीस घंटे में ४०० मील का फ़ासला तय कर लेते थे, और यह दर-असल बहुत अच्छी रफ़्तार है। उसने बतलाया है कि चीन के लोग जलावन लकड़ी के बजाय काला पत्थर काम में लेते थे, जो जमीन से खोदकर निकाला जाता था। इससे साफ जाहिर है कि चीनी लोग कोयले की खानें खोदते थे और जलावन के लिए कोयला इस्तेमाल करते थे। कुबलाई खां ने कागज

का सिक्का भी जारी किया था, यानी कागज के नोट चलाये थे, जिनके बदले में सोना देने का वायदा होता था, जैसा आजकल किया जाता है। यह बड़ी दिलचस्प बात है, क्योंकि इससे पता चलता है कि उसने साहूकारी का एक आधुनिक तरीका काम में लिया था। मार्को ने बयान किया है कि प्रेस्टर जान नाम के शासक की मातहती में ईसाइयों की एक बस्ती चीन में रहती थी। इस बात ने यूरोप के लोगों में बड़ा कौतूहल और अचम्भा पैदा कर दिया था। शायद ये लोग मंगोलिया के कुछ पुराने नैस्टोरियन रहे हों।

मार्को ने जापान, बर्मा और भारत का भी हाल लिखा है—कुछ आंखों देखा और कुछ कानों सुना। मार्को की कहानी यात्रा की एक अद्भुत कहानी थी और अब भी है। इसने छोटे-छोटे तंग देशों में बसनेवाले और तुच्छ ईर्ष्या-द्वेष में फंसे हुए यूरोपनिवासियों की आंखें खोल दीं और उन्हें इस लम्बी-चौड़ी दुनियां के विस्तार, धन तथा चमत्कारों का भान करा दिया। इससे उनकी कल्पना को उत्तेजना मिली, उनकी साहसपूर्ण कार्य करने की भावना जागृत हुई और लालच से उनके मुंह में पानी आ गया। इसने उन्हें और भी अधिक समुद्र-यात्राएं करने की प्रेरणा दी।

मार्को के चले आने के थोड़े दिन बाद ही 'खान महान' कुबलाई की मृत्यु हो गई। युआन राजवंश, जिसका यह संस्थापक था, इसके मरने के बाद बहुत दिन तक नहीं टिका। मंगोलों की ताक़त तेजी के साथ घटने लगी और विदेशियों के खिलाफ़ चीन में एक राष्ट्रीय लहर पैदा हो गई। साठ वर्ष के अन्दर ही मंगोल दक्षिण-चीन से निकाल दिये गये और नानकिंग में एक चीनी सम्राट बन बैठा। इसके बारह वर्ष बाद, सन १३६८ ई० में, युआन राजवंश बिल्कुल खतम हो गया और मंगोल लोग चीन की बड़ी दीवार के उस पार खदेड़ दिये गए।

: १५ :

फिरोजशाह तुग़लक

सब्ती सुल्तान मुहम्मद तुग़लक दिल्ली को छिन्न-भिन्न करने में किस तरह सफल हुआ, इसका जिक्र पीछे किया जा चुका है। दक्षिण के

बड़े सूबे अलग हो गये और वहां नये राज्य बन गये। इन राज्यों में विजय-नगर की हिन्दू रियासत और गुलबर्ग की मुसलमान रियासत मुख्य थीं। पूर्व में गौड़ का सूबा, जिसमें बंगाल और बिहार शामिल था, एक मुसलमान शासक की मातहती में आजाद हो गया।

मुहम्मद का उत्तराधिकारी उसका भतीजा फिरोजशाह हुआ। वह अपने चचा से ज्यादा समझदार और रहमदिल था। लेकिन असहिष्णुता का अन्त नहीं हुआ था। फिरोज एक कुशल शासक था और उसने अपने शासन में बहुत-से सुधार किये। वह दक्षिण या पूर्व के खोये हुए सूबों को फिर से न पा सका, लेकिन साम्राज्य के बिखरने का जो सिलसिला शुरू हो गया था, उसे उसने जरूर रोक दिया। उसे नये-नये शहर, महल, मसजिदें और बगीचे बनाने का खास शौक था। दिल्ली के नजदीक फिरोजाबाद और इलाहाबाद से कुछ दूर जौनपुर शहर उसीके बसाये हुए हैं। उसने जमना की एक बड़ी नहर भी बनवाई थी और बहुत-सी पुरानी इमारतों की, जो टूट-फूट रही थीं, मरम्मत करवाई थी। उसे अपने इस काम पर बहुत गर्व था और वह अपनी बनवाई हुई नई इमारतों की और मरम्मत कराई गई पुरानी इमारतों की एक लम्बी फेहरिस्त छोड़ गया है।

फिरोजशाह की मां राजपूत स्त्री थी। उसका नाम बीबी नैला था और वह एक बड़े सरदार की लड़की थी। कहते हैं, उसके पिता ने पहले फिरोज के बाप के साथ उसका विवाह करने से इन्कार कर दिया था। इस पर लड़ाई शरू हुई। नैला के देश पर हमला हुआ और वह बरबाद कर दिया गया। जब बीबी नैला को मालूम हुआ कि उसके कारण उसकी प्रजा पर मुसीबत आ रही है तो वह बहुत परेशान हुई और उसने निश्चय किया कि अपनेको फिरोजशाह के पिता के हवाले करके इसे खत्म कर दे और अपनी प्रजा को बचा ले। इस तरह फिरोजशाह में राजपूती खून था। मसलमान शासकों और राजपूत स्त्रियों के बीच ऐसे अन्तर्जातीय विवाह अक्सर होने लगे थे। इसकी वजह से एकजातीयता की भावना के विकास में जरूर मदद मिली होगी।

फिरोजशाह, ३७ वर्ष के लम्बे समय तक राज करने के बाद, सन १३८८ ई० में मर गया। फौरन ही दिल्ली साम्राज्य का ढांचा, जिसे उसने

जोड़ रक्खा था, टुकड़े-टुकड़े हो गया। कोई केन्द्रीय सरकार न रह गई और हर जगह छोटे-छोटे शासकों की तूती बोलने लगी। अव्यवस्था और कमजोरी के इसी समय में फ़िरोज़शाह की मृत्यु के ठीक दस वर्ष बाद तैमूर उत्तर से आ टूटा। दिल्ली को तो उसने करीब-करीब खत्म ही कर डाला।

: १६ :

तैमूर लंग

तैमूर दूसरा चंगेज खां बनना चाहता था। वह चंगेज का वंशज होने का दावा करता था, लेकिन असल में वह तुर्क था। वह लंगड़ा था, इसीलिए तैमूर लंग कहलाता था। वह अपने बाप के बाद सन १३६९ ई० में समरकंद का शासक बना। इसके बाद ही उसने अपनी विजय और क्रूरता की यात्रा शुरू कर दी। वह बहुत बड़ा सिपहसालार था, लेकिन पूरा वहशी भी था। मध्य-एशिया के मंगोल लोग इस बीच में मुसलमान हो चुके थे और तैमूर खुद भी मुसलमान था। लेकिन मुसलमानों से पाला पड़ने पर वह उनके साथ ज़रा भी मुलायमियत नहीं बरतता था। जहां-जहां वह पहुंचा, उसने तबाही और बला और पूरी मुसीबत फैला दी। नर-मुंडों के बड़े-बड़े ढेर लगवाने में उसे खास मजा आता था। पूर्व में दिल्ली से लगाकर पश्चिम में एशिया-कोचक तक उसने लाखों आदमी कत्ल करा डाले और उनके कटे सिरों को स्तूपों की शक्ल में जमवाया।

चंगेज खां और उसके मंगोल भी बेरहम और बरबादी करनेवाले थे, पर वे अपने जमाने के दूसरे लोगों की तरह ही थे। लेकिन तैमूर उनसे बहुत बुरा था। अनियन्त्रित और पैशाचिक क्रूरता में उसका मुकाबला करनेवाला कोई दूसरा नहीं। कहते हैं, एक जगह उसने दो हजार जिंदा आदमियों की एक मीनार बनवाई और उन्हें ईंट और गारे से चुनवा दिया।

भारत की दौलत ने इस वहशी को आकर्षित किया। अपने सिपहसालारों और अमीरों को भारत पर हमला करने के लिए राजी करने में इसे कुछ कठिनाई हुई। समरकंद में एक बड़ी सभा हुई, जिसमें अमीरों ने भारत जाने पर इसलिए ऐतराज किया कि वहां गरमी बहुत पड़ती है।

अंत में तैमूर ने वादा किया कि वह भारत में ठहरेगा नहीं, लूट-मार करके वापस चला आयेगा। उसने अपना वादा पूरा किया।

उत्तर भारत में उस वक्त मुसल्मानी राज्य था। दिल्ली में एक सुल्तान राज करता था। लेकिन यह मुसलमानी रियासत कमजोर थी और सरहद पर मंगोलों से बराबर लड़ाई करते-करते इसकी कमर टूट गई थी। इसलिए जब तैमूर मंगोलों की फौज लेकर आया तो उसका कोई कड़ा मुकाबला नहीं हुआ और वह कत्लेआम करता और खोपड़ियों के स्तूप बनाता हुआ मजे के साथ आगे बढ़ता गया। हिन्दू और मुसलमान दोनों कत्ल किये गए। मालूम होता है, उनमें कोई फर्क नहीं किया गया। जब ज्यादा कैदियों को सम्हालना मुश्किल हो गया तो उसने उनके कत्ल का हुक्म दे दिया और एक लाख कैदी मार डाले गये। कहते हैं, एक जगह हिन्दू और मुसलमान दोनों ने मिलकर जौहर की राजपूती रस्म अदा की थी, यानी युद्ध में लड़ते-लड़ते मर जाने के लिए बाहर निकल पड़े थे। रास्ते भर वह यही करता गया। तैमूर की फौज के पीछे-पीछे अकाल और महामारी चलती थी। दिल्ली में वह पन्द्रह दिन रहा और उसने इस बड़े शहर को कसाईखाना बना दिया। बाद में काश्मीर को लूटता हुआ वह समरकन्द वापस लौट गया।

हालांकि तैमूर वहशी था, पर वह समरकन्द में और मध्य-एशिया में दूसरी जगहों पर खूबसूरत इमारतें बनवाना चाहता था। इसलिए बहुत दिन पहले के सुल्तान महमूद की तरह उसने भारत के कारीगरों, राजगीरों और होशियार मिस्त्रियों को इकट्ठा किया और उन्हें अपने साथ ले गया। इनमें से जो सबसे अच्छे राजगीर और कारीगर थे, उन्हें उसने अपनी शाही नौकरी में रख लिया। बाकी को उसने पश्चिमी एशिया के खास-खास शहरों में भेज दिया। इस तरह इमारतें बनाने की कला की एक नई शैली का विकास हुआ।

तैमूर के जाने के बाद दिल्ली मुर्दों का शहर रह गया था। चारों तरफ अकाल और महामारी का राज था। दो महीने न कोई राजा था, न संगठन, न व्यवस्था। बहुत कम लोग वहां रह गये थे, यहांतक कि जिस आदमी को तैमूर ने दिल्ली का वाइसराय मुकर्रर किया था, वह भी मुल्तान चला गया।

इसके बाद तैमूर ईरान और इराक में तबाही और बरबादी फैलाता हुआ पश्चिम की तरफ बढ़ा। अंगोरा में सन १४०२ ई० में उस्मानी तुर्कों की एक बड़ी फौज के साथ इसका मुकाबला हुआ। अपने सैनिक कौशल से इसने इन तुर्कों को हरा दिया। लेकिन समुद्र के आगे उसका बस नहीं चला और वह बासफोरस को पार न कर सका । इसलिए यूरोप उससे बच गया।

तीन वर्ष बाद, सन १४०५ ई० में, जब वह चीन की तरफ बढ़ रहा था, तैमूर मर गया। उसीके साथ उसका लम्बा-चौड़ा साम्राज्य भी, जो करीब-करीब सारे पश्चिमी एशिया में फैला हुआ था, गर्क हो गया। उस्मानी तुर्क, मिस्र और सुनहरे कबीले इसे खिराज देते थे। लेकिन उसकी योग्यता सिर्फ उसकी अद्‌भुत सिपहसालारी तक ही सीमित थी। साइबेरिया के बर्फिस्तान में उसकी कुछ रण-यात्राएं असाधारण रही हैं। पर असल में वह एक जंगली खानाबदोश था। उसने न तो कोई संगठन बनाया और न चंगेज की तरह साम्राज्य चलाने के लिए अपने पीछे कोई काबिल आदमी ही छोड़े। इसलिए तैमूर का साम्राज्य उसीके साथ खत्म हो गया और सिर्फ बरबादी और कत्ले-आम की वह यादगार छोड़ गया। मध्य-एशिया में होकर जितने भी भाग्य-परीक्षक और विजेता गुजरे हैं, उनमें से चार के नाम लोगों को अभीतक याद हैं—सिकन्दर, सुल्तान महमूद, चंगेज खां और तैमूर।

: १७ :

हिन्दू-सुधारक

इतिहास बताता है कि शुरू के जमाने से ही हिन्दू-धर्म में सुधारक पैदा होते रहे हैं, जिन्होंने इसकी बुराइयों को दूर करने की कोशिश की है। बुद्ध इनमें सबसे बड़े थे। मैंने शंकराचार्य का जिक्र किया ही है, जो आठवीं सदी में हुए थे। तीनसौ वर्ष बाद, ग्यारहवीं सदी में, एक और महान सुधारक पैदा हुए, जो दक्षिण में चोल साम्राज्य के रहनेवाले थे और शंकर-मत के प्रतिद्वन्द्वी मत के नेता थे। इनका नाम रामानुज था। शंकर शैव थे और तीक्ष्ण बुद्धिवाले थे, रामानुज वैष्णव थे और श्रद्धावान थे। रामानुज का प्रभाव सारे भारत में फैल गया।

इस्लाम के भारत में जमने के बाद हिन्दुओं में और मुसलमानों में भी एक नये नमूने के सुधारक पैदा होने लगे। वे इन दोनों मजहबों के समान पहलुओं पर जोर देकर दोनों को नजदीक लाने की कोशिश करते थे और दोनों की कुरीतियों और आडम्बरों की निन्दा करते थे। इस तरह दोनों का संयोजन या सम्मिश्रण करने की कोशिश की गई। यह एक मुश्किल काम था, क्योंकि दोनों तरफ बहुत वैमनस्य और तास्सुब था। लेकिन हम देखेंगे कि हर सदी में इस तरह की कोशिशें होती रहीं, यहांतक कि कुछ मुसलमान शासकों ने, और खासकर अकबर ने भी, इस तरह के संयोजन की कोशिश की।

रामानन्द, जो चौदहवीं सदी में दक्षिण में हुए, इस संयोजन का प्रचार करनेवाले सबसे पहले मशहूर धर्म-गुरु थे। वह जात-पांत के खिलाफ प्रचार करते थे और उसका बिल्कुल विचार नहीं करते थे। कबीर नाम के एक मुसलमान जुलाहे उनके शिष्य थे, जो बाद को उनसे भी ज्यादा मशहूर हुए। कबीर बहुत लोकप्रिय हो गये। हिन्दी में उनके भजन उत्तर भारत के दूर-दूर के गांवों तक में खूब प्रचलित हैं। वह न हिन्दू थे, न मुसलमान। वह हिन्दू-मुसलमान दोनों थे या दोनों के बीच के थे और दोनों मजहबों के और सब जाति के लोग उनके अनुयायी थे। कहते हैं, जब वह मरे, उनका शव एक चादर से ढक दिया गया। उनके हिन्दू चेले उसे जलाना चाहते थे और मुसलमान शागिर्द उसे दफन करना चाहते थे। पर इस दोनों में वाद-विवाद और झगड़ा हुआ। लेकिन जब चादर हटाई गई, तो लोगों ने देखा कि वह शरीर, जिसके लिए वे झगड़ रहे थे, गायब हो गया था और उसकी जगह कुछ ताजे फूल पड़े हुए थे। मुमकिन है, यह कहानी बिल्कुल काल्पनिक हो, लेकिन है बहुत सुन्दर।

कबीर के कुछ दिनों बाद उत्तर में एक दूसरे बड़े सुधारक और धार्मिक नेता पैदा हुए। इनका नाम गुरु नानक था और इन्होंने सिख-पन्थ चलाया। इनके बाद एक-एक करके सिखों के दस गुरु हुए, जिनमें आखिरी गुरु गोविन्दसिंह थे।

भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक इतिहास में एक और नाम प्रसिद्ध है, जिसका मैं यहां जिक्र करना चाहता हूं। यह नाम चैतन्य का है, जो सोलहवीं

सदी में बंगाल के एक प्रसिद्ध विद्वान हुए और जिन्होंने यकायक यह निश्चय कर डाला कि उनका अध्ययन किसी काम का नहीं है। इसलिए उसे छोड़कर उन्होंने भक्ति का मार्ग अपनाया। वह एक महान भक्त बन गये और अपने शिष्यों को साथ लेकर सारे बंगाल में भजन गाते फिरने लगे। उन्होंने एक वैष्णव सम्प्रदाय भी स्थापित किया। बंगाल में आज भी उनका बहुत बड़ा प्रभाव नजर आता है।

: १८ :

विलियम, प्रिन्स ऑव ऑरेंज

निदरलैण्ड्स में हालैण्ड और बेल्जियम दोनों शामिल हैं। इनका नाम ही यह बतलाता है कि ये नीची जमीन में हैं। हालैण्ड का अर्थ है 'धंसी हुई जमीन'। इनके बहुत-से हिस्से समुद्र की सतह से दरअसल नीचे हैं और उत्तरी समुद्र के पानी को रोकने के लिए विशाल बांध और दीवारें बनाई गई हैं। ऐसे देश के निवासी, जहां निरन्तर समुद्र से लड़ना पड़ता है, जन्म से ही मजबूत और सागर-प्रिय होते हैं और जो लोग समुद्र-यात्रा करते रहते हैं, वे अक्सर तिजारती बन जाते हैं। इसलिए निदरलैण्ड्स के निवासी तिजारती हो गये। वे ऊनी कपड़ा और दूसरी चीजें तैयार करते थे और पूर्वी देशों के गरम मसाले भी ले जाने लगे। नतीजा यह हुआ कि ब्रुग्स, घेण्ट और खासकर एण्टवर्प-जैसे मालदार और तिजारती शहर वहां खड़े हो गये। जैसे-जैसे पूर्वी देशों से व्यापार बढ़ता गया, वैसे-वैसे इन शहरों की दौलत भी बढ़ती गई और सोलहवीं सदी में एण्टवर्प यूरोप का व्यापारिक केन्द्र बन गया। इन्हीं व्यापारी वर्गों के हाथ में इन शहरों के शासन की बागडोर थी।

व्यापारियों की यह ठीक ऐसी जाति थी, जो 'रिफ़ार्मेशन' के नये धार्मिक विचारों की ओर आकर्षित हो सकती थी। यहांपर, और खासकर उत्तरी भागों में, प्रोटेस्टैण्ट मत फैलने लगा। विरासत के संयोग ने हैप्सबर्ग के चार्ल्स पंचम और उसके बाद उसके पुत्र फिलिप द्वितीय को निदरलैण्ड्स का शासक बना दिया। इन दोनों में से कोई भी किसी भी तरह की राजनैतिक या धार्मिक स्वतन्त्रता सहन नहीं कर सकता था। फिलिप ने शहरों के विशेषा-

धिकारों को और नये मत को कुचल डालना चाहा। उसने एल्वा के ड्यूक को गवर्नर-जनरल बनाकर भेजा, जो जुल्मों और अत्याचारी शासन के लिए बदनाम हो गया है। 'इनक्विजिशन' स्थापित हुई और एक 'खूनी मजलिस' बनाई गई, जिसने हजारों को जिन्दा जला दिया या फांसी पर लटका दिया।

यह एक बड़ी लम्बी कहानी है। जैसे-जैसे स्पेन का अत्याचार बढ़ता गया, उससे टक्कर लेने की ताकत भी लोगों में बढ़ती गई। उनमें प्रिंस विलियम, ऑव ऑरेंज या 'शांत विलियम' नामक एक ऐसा महान और बद्धिमान नेता पैदा हुआ, जिसका मुकाबला एल्वा का ड्यूक नहीं कर सकता था। सन १५६८ ई० में 'इनक्विजिशन' ने तो कुछ गिने-चुने आदमियों को छोड़कर निदरलैण्ड्स के सारे निवासियों को एक ही फैसले में काफिर करार देकर मौत की सजा दे डाली! यह आश्चर्यजनक फैसला इतिहास में बे-मिसाल है, जिसने तीन-चार लाइनों में ही तीस लाख आदमियों को दण्ड दे दिया!

शुरू में तो यह लड़ाई निदरलैण्ड्स के अमीरों और स्पेन के बादशाह के बीच ही चलती मालूम पड़ी। दूसरे देशों में बादशाह और अमीरों के जो संघर्ष चल रहे थे, करीब-करीब उन्हीं जैसी यह भी थी। एल्वा ने उनको कुचल डालने की कोशिश की और बहुत-से अमीरों को ब्रसेल्स में फांसी के तख्ते पर चढ़ना पड़ा। इन फांसी दिये जानेवालों में काउण्ट एग्मौंट नामक एक लोकप्रिय और मशहूर अमीर भी था। इसके बाद एल्वा को जब रुपये की तंगी हुई तो उसने नये-नये भारी टैक्स लगाने की कोशिश की। इससे व्यापारी वर्ग की जेबों पर असर पड़ा और वे लोग बिगड़ खड़े हुए। साथ ही कैथलिक और प्रोटेस्टैण्टों के बीच संघर्ष भी चल रहा था।

स्पेन एक बड़ा जबरदस्त राज्य था, जिसे अपने बड़प्पन का पूरा घमण्ड था; उधर निदरलैण्ड्स में सिर्फ व्यापारियों और निकम्मे और फिजूलखर्च अमीरों के कुछ सूबे थे। दोनों में कोई बराबरी न थी। लेकिन फिर भी इनको दबाना स्पेन के लिए मश्किल हो गया। बार-बार कत्लेआम होते रहते थे; पूरी-की-पूरी आबादियां मौत के घाट उतार दी जाती थीं। मनुष्यों के प्राण हरने में एल्वा और उसके सेनापति चंगेजखां और तैमूर

की होड़ कर रहे थे। कभी तो वे इन मंगोलों से भी आगे बढ़ जाते थे। एल्वा एक के बाद दूसरे शहर पर घेरा डाल रहा था और शहर के बिना-सीखे पुरुष और अक्सर स्त्रियां भी एल्वा के सीखे-सिखाये सैनिकों से जल और थल पर तबतक लड़ते रहते थे, जबतक कि भूख की यन्त्रणा असंभव न हो जाती। स्पेन की गुलामी की अपेक्षा अपनी प्यारी-से-प्यारी तमाम चीजों का पूर्ण विनाश तक भी अच्छा समझकर हालैण्ड-निवासियों ने बांध तोड़ डाले और स्पेन की फौजों को जलमग्न करने तथा भगा देने के लिए उत्तरी समद्र के पानी को दाखिल कर दिया। जैसे-जैसे लड़ाई गहरी होती गई, वैसे-ही-वैसे उसमें क्रूरता भी आती गई और दोनों पक्ष हद से ज्यादा निर्दय हो गये। सुन्दर हार्लेम नगर का घेरा एक मार्के की घटना है। इसे आखरी दम तक वीरता के साथ बचाने की कोशिश की गई। लेकिन अन्त वही हुआ—सदा की तरह स्पेन के सैनिकों द्वारा कत्लेआम और लूटपाट। अल्कमार को भी घेरा गया, लेकिन यह नगर बांध तोड़कर बच गया, और लीडन को जब दुश्मनों ने घेर लिया तो भूख और बीमारी से हजारों आदमी मर गये। लीडन के पेड़ों में एक भी हरा पत्ता बाकी न रहा था—लोगों ने सब खा डाले। घूरों पर जूठन के टुकड़ों के लिए स्त्री और पुरुष भुखमरे कुत्तों तक से छीना-झपटी करते, लेकिन फिर भी वे लड़े जाते थे और शहर की दीवारों पर से सूखकर कांटा हुए और भूख से अधमरे लोग दुश्मन को चुनौती देते थे और स्पेनवालों से कहते थे कि वे चूहे, कुत्ते और चाहे जो कुछ खाकर जिन्दा रहेंगे, लेकिन हार न मानेंगे। "और जब हमारे सिवा कुछ भी बाकी न रहेगा तो विश्वास रखो कि हममें से हरएक अपने बायें हाथ को खा डालेगा और दाहिने हाथ को विदेशी अत्याचारी से अपनी स्त्रियों की, अपनी स्वतन्त्रता की और अपने धर्म की रक्षा करने के लिए बचा रखेगा। अगर ईश्वर भी क्रोध करके हमारे लिए विनाश का विधान कर दे और हमें किसी तरह की राहत न दे तो भी हम तुम्हें भीतर घुसने से रोकने के लिए अपने-आपको हमेशा कायम रखेंगे। जब हमारी आखिरी घड़ी आ जायगी तो हम खुद ही हाथों से शहर में आग लगा देंगे और पुरुष, स्त्रियां तथा बच्चे—सब—एक साथ आग में जलकर मर जायंगे, लेकिन अपने घरों को हरगिज अपवित्र न होने देंगे और न अपने अधिकारों को रौंदा जाने देंगे।"

लीडन के निवासियों में ऐसी भावना थी, लेकिन जैसे दिन-पर-दिन बीतते जाते और कहीं से सहायता की सूरत नजर नहीं आती थी, वैसे ही उनकी निराशा भी बढ़ती जाती थी। आखिर उन्होंने हालैण्ड की जागीरों के अपने दोस्तों को बाहर संदेश भेजा। इन जागीरों ने यह जबरदस्त फैसला किया कि लीडन को शत्रुओं के हाथ में जाने देने से तो यह अच्छा है कि अपने प्यारे देश को जलमग्न कर दिया जाय। और उन्होंने घोर संकट में पड़े हुए अपने साथी शहर को यह उत्तर भेजा—"ऐ लीडन, हम तुझे संकट में छोड़ने की अपेक्षा यह बेहतर समझेंगे कि हमारा सारा देश और हमारी सारी सम्पत्ति समुद्र की लहरों से नष्ट हो जायं।"

आखिरकार एक के बाद दूसरा बांध तोड़ दिया गया और हवा की मदद पाकर समुद्र का पानी भीतर घुस आया और उसके साथ हालैण्ड के जहाज भोजन और सहायता लेकर आ पहुंचे। इस नये दुश्मन समुद्र से भयभीत होकर स्पेन के सैनिक सिर-पर-पांव रखकर भाग खड़े हुए। इस तरह लीडन बच गया और उसके निवासियों की वीरता की यादगार में सन १५७५ ई० में लीडन का विश्वविद्यालय स्थापित किया गया, जो आजतक मशहूर है।

लेकिन इस महान संघर्ष में हालैण्ड ने ही ज्यादातर हिस्सा लिया, निदरलैण्ड्स के दक्षिणी हिस्से ने नहीं। स्पेन के शासक घूस और दबाव से निदरलैण्ड्स के बहुत-से अमीरों को अपनी तरफ मिला लेने में सफल हो गये और उनके द्वारा उन्हींके देशवासियों को कुचलवाया। उनको इस बात से बड़ी मदद मिली कि दक्षिण में प्रोटेस्टैण्टों से कैथलिकों की संख्या बहुत ज्यादा थी। उन्होंने कैथलिकों को मिलाने की कोशिश की और कुछ हद तक वे सफल भी हो गये। और भला अमीर-उमरा! शर्म की बात है कि इन लोगों में से बहुत-से स्पेन के बादशाह की कृपा और अपने लिए धन-दौलत हासिल करने की खातिर देशद्रोह और धोखेबाजी में कितने नीचे गिर गये थे, देश भले ही जहन्नुम में चला जाय!

निदरलैण्ड्स की विधान सभा में भाषण देते हुए विलियम ऑफ ऑरेंज ने कहा था—"निदरलैण्ड्स को कुचलनेवाले निदरलैण्ड्स के ही लोग हैं। एल्वा का ड्यूक जिस बल की डींग मारता है, वह अगर तुम्हारा ही—

निदरलैण्ड्स के नगरों का—दिया हुआ नहीं है, तो कहां से आया ? उसके जहाज, रसद, धन, हथियार, सैनिक, ये सब कहां से आये ? निदरलैण्ड्स के लोगों के पास से।"

इस तरह, आखिरकार, स्पेनवाले निदरलैण्ड्स के उस हिस्से को अपनी ओर मिला लेने में कामयाब हुए, जो आज मोटे तौर पर बेल्जियम कहलाता है। लेकिन लाख कोशिश करने पर भी वे हालैण्ड को काबू में न ला सके। गौर करने की अजीब बात यह है कि लड़ाई के दौरान में, करीब-करीब उसके खत्म होने तक, हालैण्ड ने स्पेन के फिलिप द्वितीय की अधीनता से कभी इन्कार नहीं किया। वे उसे अपना बादशाह मानने के लिए तैयार थे, बशर्ते कि वह उनके स्वतंत्र अधिकारों को मंजूर कर लेता। लेकिन अन्त में उनको उससे सम्बन्ध तोड़ने के लिए मजबूर होना पड़ा। उन्होंने अपने महान नेता विलियम के सिर पर ताज रखना चाहा, लेकिन उसने इन्कार कर दिया। इस तरह परिस्थिति ने उनको, अपनी इच्छा के विरुद्ध, गणतंत्र बनने के लिए मजबूर कर दिया। उस जमाने की बादशाही परम्परा इतनी जबरदस्त थी!

हालैण्ड में यह संघर्ष कितने ही वर्षों तक चला। सन १६०९ ई० में कहीं जाकर हालैण्ड आजाद हुआ। लेकिन निदरलैण्ड्स में असली लड़ाई सन १५६७ से १५८४ ई० तक हुई। स्पेन का फिलिप द्वितीय जब विलियम ऑफ ऑरेंज को हरा न सका तो उसने उसे एक हत्यारे के हाथों मरवा डाला। उसकी हत्या के लिए उसने एक सार्वजनिक इनाम का ऐलान किया। उस जमाने में यूरोप की नैतिकता ऐसी ही थी। विलियम को मारने की कितनी ही कोशिशें असफल हुई। सन १५८४ ई० में छठवीं बार की कोशिश सफल हुई, और यह महापुरुष—जो हालैण्ड भर में 'पिता विलियम' के नाम से पुकारा जाता था—मारा गया; लेकिन उसका काम पूरा हो चुका था। बलिदान और कष्टों की भट्टी में से निकलकर डच गणतंत्र—हालैण्ड तैयार हो गया था। अत्याचारी और निरंकुश शासकों के विरुद्ध खड़े होने से हरएक देश और जाति को लाभ होता है। इससे साधना प्राप्त होती है और बल बढ़ता है। बलशाली और आत्म-निर्भर हालैण्ड बहुत जल्दी एक बड़ी समुद्री शक्ति बन गया और बहुत दूर पूर्व तक फैल गया। बेल्जियम, जो हालैण्ड से अलग हो गया था, स्पेन के ही कब्जे में रहा।

: १९ :
चार्ल्स प्रथम

भारत में अकबर महान की मौत के ठीक दो वर्ष पहले, सन १६०३ ई० में, इंग्लैंड की एलिज़ाबेथ की मौत हुई। उसके बाद स्काटलैंड का तत्कालीन राजा गद्दी पर बैठा, क्योंकि उत्तराधिकारियों की वंश-परम्परा में वही सबसे निकट था। वह जेम्स प्रथम के नाम से गद्दी पर बैठा और इस तरह इंग्लैण्ड और स्काटलैंड का एक सम्मिलित राज्य बन गया। जेम्स प्रथम राजाओं के दैवी अधिकार का हामी था और पार्लमिण्ट को पसन्द नहीं करता था। जल्दी ही पार्लमिण्ट और उसके बीच झगड़ा पैदा हो गया। इसीके राज्य-काल में इंग्लैंड के बहुत-से कट्टर प्रोटेस्टैण्ट अपनी जन्मभूमि को हमेशा के लिए छोड़ गये और अमरीका में बसने के लिए सन १६२० ई० में 'मे-फ्लावर' नामक जहाज से रवाना हो गये। वे उत्तरी किनारे के एक स्थान पर उतरे, जिसे उन्होंने न्यू लाई-माउथ नाम दिया। उनके बाद और भी कितने ही बसनेवाले वहां पहुंचे और धीरे-धीरे पूर्वी तट के सहारे-सहारे इन बस्तियों की तादाद बढ़ते-बढ़ते तेरह तक पहुंच गई। अन्त में ये बस्तियां मिलकर संयुक्त राज्य अमरीका बन गईं। लेकिन यह तो अभी बहुत आगे की बात है।

जेम्स प्रथम का पुत्र था चार्ल्स प्रथम। सन १६२५ ई० में उसके गद्दी पर बैठने के बाद, बहुत जल्दी झगड़ा सामने आ गया। सन १६२७ ई० में पार्लमिण्ट नें उसको एक "अधिकारों का प्रार्थनापत्र" पेश किया, जो इंग्लैंड के इतिहास में एक महत्वपूर्ण खरीता है। इस प्रार्थनापत्र में कहा गया था कि बादशाह स्वेच्छाचारी शासक नहीं है और वह बहुत-सी बातें नहीं कर सकता। वह ग़ैर-कानूनी तौर पर न तो प्रजा पर टैक्स लगा सकता है और न उसे गिरफ्तार करवा सकता है।

जब उसको यह बतलाया गया कि उसे क्या करना चाहिए, क्या नहीं, तो चार्ल्स ने खीझकर पार्लमिण्ट को भंग कर दिया और उसके बिना ही शासन करने लगा। लेकिन कुछ ही वर्ष बाद उसे रुपये की इतनी तंगी महसूस हुई कि दूसरी पार्लमिण्ट बुलानी पड़ी। पार्लमिण्ट के बिना चार्ल्स ने जो कुछ किया, उसपर लोग बहुत नाराज थे और नई पार्लमिण्ट तो उससे लड़ाई

मोल लेने का मौका ही ताक रही थी। दो साल बीते भी न थे कि सन १६४२ ई० में गृह-युद्ध शुरू हो गया, जिसमें एक तरफ तो था बादशाह जिसकी मदद पर बहुत-से अमीर-उमरा और फौज का बड़ा हिस्सा था और दूसरी तरफ थी पार्लमिण्ट, जिसके मददगार थे धनी व्यापारी और लंदन के नागरिक। कई वर्षों तक यह लड़ाई खिंचती रही और अन्त में पार्लमिण्ट की तरफ एक महान नेता, ओलिवर क्रॉमवैल, उठ खड़ा हुआ। वह बड़ा जबरदस्त संगठन करनेवाला, कड़ा अनुशासन रखनेवाला और अपने उद्देश्य में कट्टर विश्वास रखनेवाला व्यक्ति था। क्रॉमवैल ने एक नई सेना का संगठन किया और उसे अपने खुद के अनुशासित उत्साह से भर दिया। अन्त में क्रॉमवैल की जीत हुई और बादशाह चार्ल्स पार्लमिण्ट का कैदी हो गया।

पार्लमिण्ट के बहुत-से मेम्बर अब भी बादशाह से समझौता करना चाहते थे, लेकिन क्रॉमवैल की नई सेना इस बात को सुनना भी नहीं चाहती थी और इस सेना के एक अफसर कर्नल प्राइड ने बेधड़क पार्लमिण्ट भवन में घुसकर ऐसे मेम्बरों को निकाल बाहर किया। इस घटना को 'प्राइड्स पर्ज' यानी प्राइड की सफाई कहा जाता है। यह उपाय बड़ा सख्त था और पार्लमिण्ट का गौरव बढ़ानेवाला न था। अगर पार्लमिण्ट ने बादशाह की निरंकुशता का विरोध किया तो यहां अब खुद उसीकी सेना ऐसी ताकत बन गई, जो उसके क़ानूनी शब्दजाल की कुछ परवा नहीं करती थी।

बचे हुए मेम्बरों ने, जिनको 'रम्प पार्लमिण्ट' का नाम दिया गया था, चार्ल्स पर मुकदमा चलाने का फैसला कर लिया और उसे "जालिम, देशद्रोही, हत्यारा और देश का शत्रु" घोषित करके मौत की सजा दे दी। सन १६४७ ई० में इस मनुष्य का, जो उनका बादशाह रह चुका था और शासन करने के अपने दैवी अधिकार की बात करता था, लंदन में सिर उड़ा दिया गया।

बादशाह लोग भी साधारण मनुष्यों की तरह ही मरते हैं। इतिहास बतलाता है कि वास्तव में इनमें से बहुतों की मौत हत्या से ही हुई है। निरंकुशता और बादशाहत से खून और कत्ल पैदा होते हैं और इंग्लैण्ड के बादशाहों ने अबतक काफी गुप्त हत्याएं करवाई थीं। लेकिन एक चुनी हुई सभा का अपने-आपको अदालत बना लेने की हिम्मत करना, उसे

मौत की सजा देना और फिर उसका सिर उड़वा देना, एक बिल्कुल नई और हैरत में डालनेवाली बात थी। यह एक निराली बात है कि अंग्रेजों ने, जो हमेशा से रूढ़िवादी और जल्दी परिवर्तन के विरोधी रहे हैं, इस तरह से यह उदाहरण पेश कर दिया कि एक जालिम और देशद्रोही राजा के साथ कैसा बर्ताव किया जाना चाहिए।

इस घटना से यूरोप के बादशाहों, सीजरों, राजाओं और छोटे-मोटे शाहों के दिल दहल गये। अगर आम लोग इतने दुस्साहसी हो जायं और इंग्लैण्ड के उदाहरण पर चलने लगें तो उनका क्या हाल होगा? अगर बस चलता तो इनमें से अनेक इंग्लैण्ड पर हमला करके उसे कुचल डालते, लेकिन इंग्लैण्ड की बागडोर उन दिनों किसी निकम्मे बादशाह के हाथों में न थी। पहली बार इंग्लैण्ड एक गणराज्य बना था और उसकी रक्षा करने के लिए क्रॉमवैल और उसकी सेना तैयार थी। क्रॉमवैल करीब-करीब तानाशाह था। वह 'लार्ड प्रोटेक्टर' यानी रक्षक स्वामी कहलाता था। उसके कठोर और कुशल शासन में इंग्लैण्ड की ताकत बढ़ने लगी और उसके जहाजी बेड़ों ने हालैंड, फ्रान्स और स्पेन के बेड़ों को मार भगाया। पहली ही बार इंग्लैण्ड यूरोप की प्रधान समुद्री शक्ति बन गया।

: २० :

बाबर

सन १५२६ ई० में दिल्ली के कमजोर और तुच्छ अफगान सुल्तान पर बाबर की विजय से भारत में एक नया ऐतिहासिक जमाना और नया साम्राज्य—मुगल साम्राज्य—शुरू होता है। बीच में थोड़े समय को छोड़कर यह सन १५२६ से १७०७ ई० तक, यानी १८१ वर्ष तक, रहा। ये वर्ष उसकी ताक़त और शान के थे, जबकि भारत के महान मुगल की कीर्ति सारे एशिया और यूरोप में फैल गई थी। इस घराने के छः महान शासक हुए, जिनके बाद यह साम्राज्य टुकड़े-टुकड़े हो गया और मराठों, सिख वगैरहा ने उसमें से रियासतें बांट लीं। इनके बाद अंग्रेज आये, जिन्होंने, केन्द्रीय शक्ति के पतन और देश में फैली हुई गड़बड़ से फायदा उठाकर धीरे-धीरे अपना राज्य जमा लिया।

चंगेजखां और तैमूर के वंश का होने की वजह से बाबर में कुछ-कुछ उनका बड़प्पन और सैनिक योग्यता थी। लेकिन चंगेज के जमाने से अबतक मंगोल लोग बहुत सभ्य हो गये थे और बाबर जैसा सुसंस्कृत और दिलपसंद व्यक्ति उस जमाने में मिलना मुश्किल था। उसमें जाति-द्वेष बिल्कुल न था, न धार्मिक कट्टरता थी और न उसने अपने पुरखों की तरह विनाश ही किया। वह कला और साहित्य का पुजारी था और खुद भी फारसी का कवि था। वह फूलों और बागों से प्रेम करता था और भारत की गरमी में उसे अक्सर अपने देश मध्य-एशिया की याद आ जाती थी।

अपने पिता की मृत्यु पर जब बाबर समरकन्द का शासक हुआ, तब वह सिर्फ ग्यारह वर्ष का बालक था। काम आसान न था। उसके चारों तरफ दुश्मन थे। इसलिए जिस उम्र में छोटे लड़के और लड़कियां स्कूल जाते हैं, उस उम्र में उसे तलवार लेकर लड़ाई के मैदान में जाना पड़ा। उसकी राजगद्दी छिन गई, लेकिन उसने फिर से उसे जीत लिया और अपनी तूफानी जिन्दगी में उसे अनेक खतरों का सामना करना पड़ा। इसपर भी वह साहित्य, कविता और कला का अभ्यासी रहा। महत्वाकांक्षा उसे आगे हांकती रही। काबुल को जीतकर वह सिंध नदी पार करके भारत में आया। उसके साथ फौज तो थोड़ी-सी थी, लेकिन उसके पास नई तोपें थीं, जो उन दिनों यूरोप और पश्चिमी एशिया में काम में लाई जा रही थीं। अफगानों की जो बड़ी भारी फौज उससे लड़ने आई, वह इस छोटी-सी, लेकिन अच्छी तरह सिखाई हुई फौज और उसकी तोपों के आगे तहस-नहस हो गई और विजय बाबर के हाथ लगी। लेकिन उसकी मुसीबतों का अन्त नहीं हुआ और कितनी ही बार उसके भाग्य का पलड़ा डांवाडोल हो गया था। एक बार जब वह बहुत खतरे में था, उसके सेनापतियों ने उसे उत्तर की ओर वापस भाग चलने की सलाह दी। लेकिन वह बड़ा जीवटवाला था और उसने कहा कि पीछे हटने से तो वह मौत का सामना करना अच्छा समझता है। शराब उसे बहुत प्रिय थी। लेकिन अपने जीवन में इस संकट के समय उसने शराब छोड़ देने का निश्चय किया और अपने सब प्याले तोड़ डाले। संयोग से वह जीत गया और उसने शराब छोड़ने की अपनी प्रतिज्ञा को अन्त तक निभाया।

भारत में उसे आये चार वर्ष भी न बीते थे कि बाबर की मृत्यु हो गई। लेकिन ये चार वर्ष लड़ाई-झगड़ों में ही बीते और उसे ज़रा भी आराम न मिला। वह भारत के लिए एक अजनबी ही रहा और यहां के बारे में कुछ न जान सका। आगरे में उसने एक शानदार राजधानी की नींव डाली और कुस्तुन्तुनिया से एक मशहूर राज-मिस्त्री को बुलाया।

बाबर ने अपने संस्मरण लिखे हैं और इस मजेदार किताब में बाबर के व्यक्तित्व की अन्दरूनी झलक मिलती है। उसने भारत और उसके जानवरों, फूलों, पेड़ों, फलों का वर्णन किया है, यहांतक कि मेढकों को भी नहीं छोड़ा है! वह अपने वतन के खरबूजों, अंगूरों और फूलों के लिए छटपटाता है। भारतवासियों के बारे में हद दर्जे की निराशा जाहिर करता है। उसके कहने के मुताबिक तो उनके पक्ष में कोई अच्छी बात नहीं है। शायद चार वर्षों तक लड़ाइयों में फंसा रहने के कारण वह भारतवासियों को पहचान न सका और सुसंस्कृत वर्गों के लोग इस नये विजेता से दूर-दूर भी रहे। शायद एक नवागन्तुक दूसरे देश के निवासियों के जीवन और उनकी सभ्यता में आसानी से घुल-मिल नहीं सकता। जो हो, उसे न तो अफगानों में, जो कुछ दिनों से भारत में राज कर रहे थे और न ज्यादातर भारतवासियों में ही कोई तारीफ की बात नज़र आई। वह एक कुशल निरीक्षक था और एक विदेशी की पक्षपात से भरी दृष्टि का खयाल रखते हुए भी उसके वर्णन से मालूम होता है कि उत्तर भारत की हालत उस वक्त बहुत खराब थी। वह दक्षिण भारत की तरफ बिल्कुल नहीं गया।

बाबर ने लिखा है—"भारत का साम्राज्य बड़ा लम्बा-चौड़ा, घना बसा हुआ और मालदार है। उसकी पूर्व, दक्षिण और पश्चिम की सीमाओं पर समुद्र है। उसके उत्तर में काबुल, गजनी और कंधार हैं। सारे भारत की राजधानी दिल्ली है।" यह बात ध्यान में रखने लायक है कि बाबर सारे भारत को एक देश समझता था, हालांकि जब वह यहां आया था, देश कई राज्यों में बंटा हुआ था। भारत की एकता की यह भावना इतिहास में शुरू से चली आ रही है।

भारत का वर्णन करते हुए बाबर लिखता है :

"यह एक निराला ही मनोरम देश है। हमारे देशों के मुकाबले में यह

एक अलग ही दुनिया है। इसके पहाड़ और नदियां, इसके जंगल और मैदान, इसके जानवर और पौधे, इसके निवासी और उनकी भाषा, इसकी हवा और बरसात, सब अलग ही तरह के हैं।... सिंध को पार करते ही जो देश, पेड़, पत्थर, घुमक्कड़ कबीले और लोगों के ढंग और रस्म-रिवाज दिखलाई पड़ते हैं, वे ठेठ भारत के ही हैं। सांप तक दूसरी तरह के हैं।... भारत के मेंढक गौर करने लायक हैं। हालांकि ये उसी जाति के हैं, जिस जाति के हमारे यहां होते हैं, लेकिन ये पानी की सतह पर छः-सात गज तक दौड़ सकते हैं।"

इसके बाद वह भारत के जानवरों, फूलों, पेड़ों और फलों की एक सूची देता है। इसके बाद वह यहां के रहनेवालों का वर्णन करता है :

"भारत के देश में आनन्द के कोई ऐसे साधन नहीं हैं, जिनके लिए इसकी तारीफ की जाय। यहां के निवासी सुरूप नहीं हैं। उन्हें मित्रमंडली के आनन्द का, या दिल खोलकर एक-दूसरे से मिलने का या आपसी घरू बर्ताव का कुछ भी ज्ञान नहीं है। उनमें न तो प्रतिभा है, न दिमाग की सूझ-बूझ, न शिष्टाचार की नम्रता, न दया या सहानुभूति, न दस्तकारी के कामों का ढांचा बनाने और उनको कार्यान्वित करने की चतुरता या यान्त्रिक आविष्कार-बुद्धि, न नक्शे और इमारतें बनाने का हुनर या ज्ञान। उनके यहां न तो अच्छे घोड़े हैं, न अच्छा मांस, न अंगूर और न खरबूजे, न अच्छे फल, न बर्फ, न ठंडा पानी, न बाजारों में अच्छा खाना और रोटी, न हम्माम, न विद्यालय, न मोमबत्तियां, न मशालें, यहांतक कि शमादान भी नहीं हैं।" इस बात पर यह पूछने की इच्छा हो उठती है कि आखिर उनके यहां है क्या? मालूम होता है बाबर ने ये बातें उस वक्त लिखी होंगी, जब वह शायद बिल्कुल ऊब चुका होगा।

बाबर कहता है :

"भारत की सबसे बड़ी खूबी यह है कि वह बहुत बड़ा देश है और यहां सोना और चांदी भरे पड़े हैं।... भारत में एक सुविधा यह भी है कि यहां हर पेशे और व्यापार के काम करनेवालों की संख्या इतनी ज्यादा है कि उसका कोई अन्त ही नहीं। किसी काम या धंधे के लिए जब चाहो तब एक समूह तैयार है, जिनके यहां वही काम-धंधा पीढ़ी-दर-पीढ़ी चला आ रहा है।"

बाबर के संस्मरणों से मैंने कुछ लम्बे उद्धरण यहां दिये हैं। ऐसी किताबों से हमको किसी व्यक्ति का जितना ज्यादा अंदाज होता है, उतना उसके बारे में किसी वर्णन से नहीं।

सन १५३० ई० में ४९ वर्ष की उम्र में बाबर की मृत्यु हुई। उसकी मृत्यु के बारे में एक मशहूर क़िस्सा है। उसका पुत्र हुमायूं बीमार पड़ा और कहते हैं कि उसके प्रेम में बाबर खुद अपना जीवन भेंट चढ़ाने के लिए तैयार हो गया, बशर्ते कि उसका पुत्र अच्छा हो जाय। कहते हैं कि हुमायूं अच्छा हो गया और इस घटना के कुछ ही दिन बाद बाबर की मृत्यु हो गई।

बाबर की लाश को लोग काबुल ले गये और वहां उसी बाग़ में उसे दफनाया, जो बाबर को बहुत पसंद था। जिन फूलों के लिए वह तरसता था, अन्त में वह उन्हींके पास चला गया।

: २१ :

अकबर

अपने सेनापतित्व और अपनी सैनिक योग्यता के बल पर बाबर ने उत्तर भारत का बहुत-सा भाग जीत लिया था। उसने दिल्ली के अफगान सुल्तान को हरा दिया और बाद में राजपूत इतिहास के एक प्रसिद्ध वीर चित्तौड़ के रण-बांकुरे राणा सांगा के नेतृत्व में लड़नेवाले राजपूतों को हराया, जो ज्यादा मुश्किल काम था। लेकिन इससे भी ज्यादा मुश्किल काम वह अपने पुत्र हुमायूं के लिए छोड़ गया। हुमायूं बहुत सुसंस्कृत और विद्वान था, लेकिन अपने पिता की तरह सैनिक न था। उसके नये साम्राज्य में सब जगह गड़बड़ फैल गई और आखिर सन १५४० ई० में, बाबर की मृत्यु के दस वर्ष बाद, बिहार के शेरखां नामक अफगान सरदार ने उसे हराकर भारत से बाहर निकाल दिया। इस तरह यह दूसरा महान मुगल इधर-उधर छिपता हुआ और बड़ी मुसीबतें झेलता हुआ मारा-मारा फिरने लगा। इसी भाग-दौड़ की हालत में, राजपूताना के रेगिस्तान में, नवम्बर सन १५४२ ई० में उसकी स्त्री ने एक पुत्र को जन्म दिया। रेगिस्तान में पैदा हुआ यह पुत्र आगे जाकर अकबर के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

हुमायूं भागकर ईरान पहुंचा और वहां के बादशाह शाह तह्मास्प ने उसे शरण दी। इस अरसे में उत्तरी भारत में शेरखां का दबदबा खूब फैला और उसने शेरशाह के नाम से पांच वर्ष तक राज्य किया। इस थोड़े-से समय में ही उसने बतला दिया कि वह बहुत योग्य और कुशल व्यक्ति था। वह प्रतिभाशाली व्यवस्थापक था और उसका शासन सजीव और कारगर था। अपने युद्धों के बीच भी उसने किसानों पर टैक्स नियत करने की एक नई और अच्छी लगान-प्रणाली जारी करने का समय निकाल लिया। वह सख्ती बरतनेवाला और कठोर व्यक्ति था, लेकिन भारत के सारे अफगान शासकों में, और बहुत-से अन्य शासकों में भी, वह सबसे योग्य और अच्छा था। लेकिन जैसाकि अवसर कुशल स्वेच्छाचारी शासकों का हाल हुआ करता है, वह खुद ही सारे शासन का कर्ता-धर्ता था। इसलिए उसकी मृत्यु के बाद सारा ढांचा टुकड़े-टुकड़े हो गया।

हुमायूं ने इस अव्यवस्था से फायदा उठाया और सन १५५६ ई० में वह एक सेना लेकर ईरान से लौटा। उसकी जीत हुई और सोलह वर्ष बाद वह फिर दिल्ली के सिंहासन पर आ बैठा। लेकिन वह ज्यादा दिन के लिए नहीं। छः महीने बाद ही वह जीने पर से गिरकर मर गया।

अकबर उस समय सिर्फ तेरह वर्ष का था। अपने दादा की तरह इसे भी राजगद्दी बहुत जल्दी मिल गई। बैरमखां, जिसे खानाबाबा भी कहते हैं, इसका अभिभावक और संरक्षक था। लेकिन चार ही वर्षों में अकबर इस अभिभावकता से और दूसरे आदमी के इशारे पर चलने से तंग आ गया और उसने राज्य-शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली।

सन १५५६ से १६०५ ई० तक, यानी करीब पचास वर्ष तक, अकबर ने भारत पर राज किया। यह जमाना यूरोप में निदरलैण्ड्स के विद्रोह का और इंग्लैण्ड में शेक्सपियर का था। अकबर का नाम भारत के इतिहास में जगमगा रहा है और कभी-कभी कुछ बातों में वह हमें अशोक की याद दिलाता है। यह एक अजीब बात है कि ईसा से तीनसौ वर्ष पहले का एक बौद्ध सम्राट और ईसा के बाद सोलहवीं सदी का एक मुसलमान सम्राट दोनों एक ही ढंग से और करीब-करीब एक ही आवाज में बोल रहे हैं। ताज्जुब नहीं कि यह खुद भारत की ही आवाज हो, जो उसके दो महान पुत्रों के जरिये बोल

रही हो ! अशोक के बारे में हम सिर्फ उतना ही जानते हैं, जितना उसने खुद पत्थरों पर खुदा हुआ छोड़ा है, लेकिन अकबर के बारे में हम बहुत-कुछ जानते हैं। उसके दरबार के दो समकालीन इतिहासकारों के लम्बे वर्णन मिलते हैं और जो विदेशी उससे मिलने आये थे—खासकर जेसुइट लोग, जिन्होंने उसे ईसाई बनाने की जोरदार कोशिश की थी—उन्होंने भी लम्बे-चौड़े हाल लिखे हैं।

यह बाबर की तीसरी पीढ़ी में था। लेकिन मुगल लोग अभी इस देश के लिए नये थे। वे विदेशी समझे जाते थे और उनका अधिकार फौजी ताकत के बल पर था। अकबर के राज ने मुगल खान्दान की जड़ जमा दी और उसको यहीं की धरती का और पूरी तरह भारतीय दृष्टिकोणवाला बना दिया। इसीके राज्यकाल में यूरोप में मुगल सम्राटों के लिए 'महान मुगल' का खिताब काम में लाया जाने लगा। वह बहुत स्वेच्छाचारी था और उसके अधिकारों पर कोई अंकुश लगानेवाला न था। मालूम होता है कि उस वक्त भारत में राजा के अधिकारों पर रोक-थाम लगाने की कोई चर्चा तक नहीं थी। संयोग से अकबर एक बुद्धिमान सर्वाधिकारी था और वह भारत के लोगों की भलाई के लिए जी-तोड़ कोशिश करता रहता था। एक तरह से वह भारत में राष्ट्रीयता का जन्मदाता माना जा सकता है। ऐसे समय में, जबकि देश में राष्ट्रीयता का कुछ भी निशान न था और धर्म लोगों को एक-दूसरे से अलग कर रहा था, अकबर ने जुदा-जुदा धर्मों के दावों के ऊपर भारतीय राष्ट्रीयता का आदर्श स्थापित किया। वह अपनी कोशिश में पूरी तरह तो सफल नहीं हुआ, लेकिन यह अचंभे की बात है कि वह कितना आगे बढ़ गया और उसकी कोशिशों को कितनी ज्यादा सफलता मिली।

लेकिन फिर भी अकबर को जो कुछ सफलता मिली, उसका सारा श्रेय उस अकेले को ही नहीं है। जबतक उपयुक्त समय न आ गया हो और वातावरण सहायक न हो, तबतक कोई भी मनुष्य महान कार्यों में सफल नहीं हो सकता। महापुरुष खुद अपना वातावरण पैदा करके जमाने को जल्दी बदल सकता है, लेकिन महापुरुष खुद भी तो जमाने का और तत्कालीन वातावरण का ही फल होता है। इसी तरह अकबर भी भारत के उस जमाने का फल था।

रामानन्द, कबीर और गुरु नानक जैसे सुधारक और धार्मिक गुरुओं के बारे में मैं लिख चुका हूं, जिन्होंने इस्लाम और हिन्दू-धर्म के समान पहलुओं पर जोर देकर और उनके बहुत-से रीति-रस्म और आडम्बरों की निन्दा करके दोनों को एक-दूसरे के नजदीक लाने की कोशिश की थी। उस समय एकीकरण की यह भावना चारों ओर फैली हुई थी और अकबर इसका मुख्य प्रतिपादक बन गया।

एक राजनीतिज्ञ की हैसियत से भी वह इसी नतीजे पर पहुंचा होगा कि उसका और राष्ट्र का बल इसी एकीकरण से बढ़ सकता है। वह एक बहुत बहादुर योद्धा और कुशल सेनानायक था। अशोक की तरह वह लड़ाई से घृणा नहीं करता था, लेकिन तलवार की विजय से वह प्रेम की विजय को अच्छी समझता था और यह भी जानता था कि ऐसी विजय ज्यादा टिकाऊ होती है। इसलिए वह दृढ़ निश्चय के साथ हिन्दू सरदारों और हिन्दू जनता का प्रेम प्राप्त करने में जुट गया। उसने गैर-मुस्लिमों से वसूल किया जानेवाला जजिया और हिन्दू-तीर्थ यात्रियों पर लगाया जानेवाला टैक्स बन्द कर दिया। उसने खुद अपना विवाह एक उच्च राजपूत वंश की लड़की से किया, बाद में उसने अपने पुत्र का विवाह भी एक राजपूत लड़की से किया और उसने ऐसी मिश्रित शादियों को प्रोत्साहन दिया। उसने अपने साम्राज्य के ऊंचे-से-ऊंचे ओहदों पर राजपूत सरदारों को नियुक्त किया। उसके सबसे बहादुर सेनापतियों और सबसे योग्य मंत्रियों और सूबेदारों में कितने ही हिन्दू थे। राजा मानसिंह को तो उसने कुछ दिनों के लिए काबुल तक का गवर्नर बनाकर भेजा था। देखा जाय तो राजपूतों की और अपनी हिन्दू प्रजा की सद्भावना प्राप्त करने के लिए कभी-कभी तो वह इतना आगे बढ़ जाता था कि मुसलमान प्रजा के साथ अक्सर अन्याय हो जाता था। बहरहाल वह हिन्दुओं की सद्भावना प्राप्त करने में सफल हुआ और उसकी नौकरी करने और उसे सम्मान देने के लिए चारों ओर से लगभग सभी राजपूत इकट्ठे होने लगे, सिवाय मेवाड़ के राणा प्रताप के, जिसने कभी सिर नहीं झुकाया। राणा प्रताप ने अकबर को नाममात्र के लिए भी अपना सम्राट मानने से इन्कार कर दिया। युद्ध-क्षेत्र में हार जाने पर भी उसने अकबर का मांडलिक बनकर लाड़-प्यार का विलासी जीवन बिताने की अपेक्षा जंगल में छिपते

फिरना अच्छा समझा। जिन्दगी भर यह गर्वीला राजपूत दिल्ली के महान सम्राट से लड़ता रहा और उसके सामने सिर झुकाना मंजूर नहीं किया। अपने जीवन के अन्तकाल में उसे कुछ सफलता भी मिली। इस रण-बांकुरे राजपूत की यादगार राजपूताना की एक बहुमूल्य निधि है और इसके नाम के साथ कितनी ही गाथाएं जुड़ गई हैं।

इस तरह अकबर ने राजपूतों को अपनी तरफ कर लिया और वह जनता का प्यारा हो गया। वह पारसियों और अपने दरबार में आनेवाले जेसुइट पादरियों तक के प्रति बड़ा उदार था।

मैंने अकबर की तुलना अशोक से की है। लेकिन बहुत-सी बातों में वह अशोक से बिलकुल भिन्न था। वह बड़ा महत्त्वाकांक्षी था और अपने जीवन के अन्त समय तक वह अपना साम्राज्य बढ़ाने की धुन में विजय-यात्राएं करता रहा। जेसुइट लोगों ने लिखा है कि वह "चौकस और पारखी दिमागवाला था; वह समझ का पक्का, मामलों में दूरदर्शी और इन सबके अलावा दयालु, मिलनसार और उदार था। इन गुणों के साथ उसमें बड़े-बड़े जोखिम के कामों को उठाने और पूरा करने की हिम्मत भी थी···। वह बहुत-सी बातों में दिलचस्पी रखता था, और उनके बारे में जानने को इच्छुक रहता था; उसे न सिर्फ सैनिक और राजनैतिक बातों का ही, बल्कि बहुत-से कला-कौशल का भी गहरा ज्ञान था। जो लोग उसके व्यक्तित्व पर हमला करते थे, उनपर भी इस राजा की क्षमा और नम्रता की रोशनी पड़ती रहती थी। उसे क्रोध बहुत ही कम आता था। अगर कभी आता था तो उसका आवेश भयंकर हो जाता था; लेकिन उसका यह क्रोध ज्यादा देर तक न टिकता था।"

यह वर्णन किसी चापलूस मुसाहब का नहीं है, लेकिन एक विदेशी अजनबी का है, जिसे अकबर का निरीक्षण करने के काफी मौके मिलते थे।

शारीरिक दृष्टि से अकबर अपूर्व बलशाली और फुर्तीला था और वह जंगली और खूंखार जानवरों के शिकार से अधिक किसी चीज से प्रेम नहीं करता था। एक सिपाही की हैसियत से तो वह इतना वीर था कि उसे अपनी जान तक की बिल्कुल परवा न थी। उसकी आश्चर्यजनक शक्ति का अनुमान आगरे से अहमदाबाद की उस प्रसिद्ध यात्रा से लगाया जा सकता

है, जो उसने नौ दिन में पूरी की थी। गुजरात में विद्रोह हो गया था और अकबर एक छोटी-सी सेना के साथ उस जमाने में राजपूताना के रेगिस्तान को पार करके साढ़े चारसौ मील की दूरी तय करके वहां जा धमका। यह एक असाधारण करतब था।

लेकिन इन गुणों के अलावा महान पुरुषों में कुछ और भी होता है। उनमें एक तरह की आकर्षण-शक्ति होती है, जो लोगों को उनकी तरफ खींचती है। अकबर में यह व्यक्तिगत आकर्षण-शक्ति और मोह-शक्ति बहुत अधिक मात्रा में थीं। जेसुइट लोगों के अद्‌भुत वर्णन के मुताबिक उसकी बस में कर लेनेवाली आंखें "इस तरह झिलमिलाती थीं, जिस तरह सूरज की रोशनी में समुद्र।" फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात है कि यह व्यक्ति हमको आजतक मोहित करता है और उसका शाही तथा पुरुषत्व-भरा स्वरूप उन ढेरों लोगों से बहुत ऊंचा दिखलाई पड़ता है, जो सिर्फ़ बादशाह हुए हैं!

विजेता की दृष्टि से अकबर ने सारे उत्तर भारत और दक्षिण को भी जीत लिया था। उसने गुजरात, बंगाल, उड़ीसा, काश्मीर और सिंध अपने साम्राज्य में मिला लिये। मध्य और दक्षिण-भारत में भी उसकी विजय हुई और उसने कर वसूल किया। लेकिन मध्य-प्रान्त की रानी दुर्गावती को हराना उसकी कीर्ति को नहीं बढ़ाता। दुर्गावती एक वीरांगना और न्यायप्रिय रानी थी और उसने अकबर को कुछ नुकसान नहीं पहुंचाया था। लेकिन महत्वाकांक्षी और साम्राज्य-लिप्सा इन छोटी-मोटी अड़चनों की बिल्कुल परवा नहीं करती। दक्षिण में उसकी सेनाएं अहमदनगर की प्रबन्ध-कर्त्री मशहूर चांदबीबी से लड़ीं। इस महिला में साहस और योग्यता थी और उसने युद्ध में जो लोहा लिया, उसका असर मुगल फौज पर इतना पड़ा कि उन्होंने उसके साथ अनुकूल शर्तों पर सुलह मंजूर करली। दुर्भाग्य से कुछ दिन बाद उसके ही कुछ असन्तुष्ट सिपाहियों ने उसे मार डाला।

अकबर की फौजों ने चित्तौड़ पर भी घेरा डाला। यह राणा प्रताप से पहले की बात है। जयमल ने बड़ी वीरता से चित्तौड़ की रक्षा की। उसके मारे जाने पर भयंकर 'जौहर' व्रत हुआ और चित्तौड़ जीत लिया गया।

अकबर ने अपने चारों तरफ बहुत-से योग्य सहायक इकट्ठे कर लिये,

जो उसके प्रति बड़े वफादार थे। इनमें मुख्य फैजी और अबुलफजल दो भाई थे, और एक था बीरबल, जिसके बारे में अनगिनती कहानियां आजतक प्रचलित हैं। अकबर का वित्त-मंत्री था टोडरमल। इसीने लगान की सारी प्रणाली को बदला था। उन दिनों जमींदारी प्रथा न थी और न जमींदार थे, न ताल्लुकेदार। राज्य खुद किसानों या रैयतों से लगान वसूल करता था।

जयपुर का राजा मानसिंह अकबर के सबसे अच्छे सेनापतियों में से था। अकबर के दरबार में एक और प्रसिद्ध आदमी था—महान गायक तानसेन, जिसे आज भारत के सारे गवैये अपना गुरु मानते हैं।

शुरू में अकबर की राजधानी आगरा थी, जहां उसने किला बनवाया। इसके बाद उसने आगरा से पन्द्रह मील दूर फतहपुर-सीकरी में एक नया शहर बसाया। उसने यह जगह इसलिए पसन्द की कि यहां शेख सलीम चिश्ती नाम के एक मुस्लिम संत रहते थे। यहां उसने एक आलीशान शहर बनवाया जो उस वक्त के एक अंग्रेज यात्री के शब्दों में "लन्दन से भी ज्यादा बड़ा" था और यही पन्द्रह वर्ष से ज्यादा उसके साम्राज्य की राजधानी रहा। बाद में उसने लाहौर को अपनी राजधानी बनाया। अकबर का मित्र और मंत्री अबुल फजल लिखता है—"बादशाह सलामत आलीशान इमारतों के नक्शे सोचते हैं और अपने दिल और दिमाग की सूझ को पत्थर और मिट्टी का जामा पहना देते हैं।"

फतहपुर-सीकरी और उसकी खूबसूरत मस्जिद, उसका जबरदस्त बुलंद दरवाजा और बहुत-सी दूसरी सुन्दर इमारतें आज भी मौजूद हैं। यह शहर उजड़ गया है और उसमें किसी तरह की हलचल अब नहीं है; लेकिन उसकी गलियों में और उसके चौड़े सहनों में एक मिटे हुए साम्राज्य की छायाएं आज भी चलती मालूम होती हैं।

मौजूदा इलाहाबाद शहर भी अकबर का बसाया हुआ है, लेकिन जगह यह जरूर बहुत प्राचीन है और प्रयाग तो यहां रामायण के युग से चला आ रहा है। इलाहाबाद का किला अकबर का बनवाया हुआ है।

अकबर का जीवन एक विशाल साम्राज्य को जीतने और उसे संगठित करने में व्यस्त रहा होगा, लेकिन इसके अन्दर अकबर का एक और

विचित्र गुण नजर आता है। यह थी उसकी असीम ज्ञान-पिपासा और सत्य की खोज। जो कोई किसी भी विषय पर रोशनी डाल सकता था, उसे बुलाया जाता था और उससे प्रश्न किये जाते थे। अलग-अलग धर्मों के लोग इबादतखाने में उसके चारों तरफ बैठते थे और हरएक इस महान बादशाह को अपने धर्म में शामिल करने की आशा रखता था। वे अक्सर एक-दूसरे से झगड़ पड़ते थे और अकबर बैठा-बैठा उनकी बहसें सुनता रहता और उनसे बहुत-से सवाल पूछता रहता था। मालूम होता है, उसे यह विश्वास हो गया था कि सत्य का ठेका किसी खास धर्म या फिरके ने नहीं ले रखा है और उसने यह घोषणा कर दी थी कि वह धर्म में सार्वभौम सहिष्णुता के सिद्धान्त को मानता है।

उसके जमाने के इतिहास-लेखक बदायूंनी ने, जो ऐसे बहुत-से मजमों में शामिल होता रहा होगा, अकबर के बारे में मजेदार बयान लिखा है। बदायूंनी खुद एक कट्टर मुसलमान था और वह अकबर की इन कार्रवाइयों को बिलकुल नापसन्द करता था। वह लिखता है :

"जहांपनाह हरएक के विचार इकट्ठे करते थे, खासकर ऐसे लोगों के, जो मुसलमान नहीं थे और उनमें से जो बातें उनको अच्छी लगतीं, उन्हें रख लेते और जो उनके मिजाज के खिलाफ और उनकी इच्छाओं के विरुद्ध जातीं, उन सबको त्याग देते थे। शुरू बचपन से जवानी तक और जवानी से बुढ़ापे तक, जहांपनाह बिल्कुल अलग-अलग तरह की हालतों में से और सब तरह के धार्मिक कर्मों और साम्प्रदायिक विश्वासों में से गुजरे हैं, और जो कुछ किताबों में मिल सकता है, उस सबको उन्होंने चुनाव करने के उस विचित्र गुण से, जो खास उन्हींमें पाया जाता है, इकट्ठा किया है, और जिज्ञासा की उस भावना से इकट्ठा किया है, जो हर इस्लामी उसूल के खिलाफ है। इस तरह उनके दिल के आईने पर किन्हीं मूल सिद्धान्तों के आधार पर एक विश्वास का नकशा खिंच गया है और उनपर जो-जो असर पड़े ह, उन सबके फलस्वरूप उनके दिल में पत्थर की लकीर की तरह धीरे-धीरे यह धारणा जमती गई है कि सब धर्मों में समझदार आदमी हैं और सब कौमों में संयमी विचारक और चमत्कारी शक्तिवाले लोग हैं।

अगर कोई सच्चा ज्ञान इस तरह हर जगह मिल सकता हो तो सत्य किसी एक ही धर्म में कैसे सीमित हो सकता है ?"

इस जमाने में यूरोप में धार्मिक मामलों में बड़ी जबरदस्त असहिष्णुता फैली हुई थी। इनक्विजिशन का दौर-दौरा था और कैथलिक और कालविनिस्ट दोनों एक-दूसरे को सहन करना घोर पाप समझते थे।

अकबर ने वर्षों तक सब धर्मों के आचार्यों से अपनी धर्म-चर्चाएं और बहसें जारी रखीं, यहांतक कि अन्त में वे सब उकता गये और उन्होंने अकबर को अपने-अपने खास धर्म में मिला सकने की आशा छोड़ दी। जब हरएक धर्म में सत्य का कुछ-न-कुछ अंश था तो वह उनमें से किसी एक को कैसे चुन सकता था ? जेसुइट लोगों के लिखे मुताबिक वह कहा करता था—"हिन्दू लोग अपने सिद्धान्तों को ठीक मानते हैं और इसी तरह मुसलमान और ईसाई भी मानते हैं, तो फिर हम इनमें से किसको अपनायें ?" अकबर का सवाल बड़ा उपयुक्त था, लेकिन जेसुइट लोग इससे चिढ़ते थे और उन्होंने अपनी किताब में लिखा है—"इस बादशाह में हम उस नास्तिक की-सी आमगलती देखते हैं, जो बुद्धि को श्रद्धा का दास बनाने से इन्कार करता है और जिस बात की गहराई को उसका कमजोर दिमाग न पा सके, उसे सत्य न स्वीकार करता हुआ वह उन बातों को अपने अपूर्ण विवेक पर छोड़कर सन्तुष्ट हो जाता है, जो मानव-ज्ञान की सर्वोच्च सीमा से भी परे हैं।" अगर नास्तिक की यही परिभाषा है तो जितने ज्यादा नास्तिक हों, उतना ही अच्छा !

अकबर का लक्ष्य क्या था, यह साफ नहीं मालूम पड़ता। क्या वह इस सवाल को खाली राजनैतिक निगाह से देखता था ? सबके लिए एक राष्ट्रीयता ढूंढ़ निकालने के इरादे से कहीं वह भिन्न-भिन्न धर्मों को जबरदस्ती एक ही रास्ते में तो नहीं डालना चाहता था ? या क्या उसकी प्रेरणाएं और उसकी खोज धार्मिक थीं ? मैं नहीं जानता। लेकिन मेरा खयाल इधर झुकता है कि वह धार्मिक सुधारक की अपेक्षा राजनीतिज्ञ ही ज्यादा था। उसका उद्देश्य चाहे जो रहा हो, उसने सचमुच एक नये धर्म 'दीने इलाही' की घोषणा कर दी, जिसका प्रमुख वह खुद था। दूसरी बातों की तरह धार्मिक मामलों में भी उसके एकाधिकार को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता था और चरणों में

लोटना, कदम-बोसी वगैरह नफरत पैदा करनेवाली बातें थीं। यह नया धर्म चला नहीं। हुआ यह कि इसने मुसलमानों को चिढ़ा दिया।

अकबर एकाधिपत्य की तो साक्षात मूर्त्ति था। फिर भी यह कल्पना करने में मजा आता है कि उदार राजनैतिक विचारों का उसपर क्या असर हुआ होता। अगर धर्मपालन की स्वतन्त्रता मानी जाती थी तो जनता को अधिक राजनैतिक स्वतंत्रता क्यों नहीं ? विज्ञान की तरफ वह जरूर खूब आकर्षित हुआ होता। खेद है कि ये विचार, जिन्होंने उस समय यूरोप के कुछ लोगों को परेशान करना शरू कर दिया था, उस समय के भारत में प्रचलित नहीं हुए थे। छापेखानों का भी उस समय कोई उपयोग होता नजर नहीं आता। इसलिए शिक्षा का दायरा बहुत छोटा था। इस जानकारी से ताज्जुब होगा कि अकबर अनपढ़ था, यानी वह पढ़-लिख नहीं सकता था! लेकिन फिर भी वह उच्च शिक्षित था और किताबें पढ़वाकर सुनने का बड़ा भारी शौकीन था। उसकी आज्ञा से बहुत-सी संस्कृत पुस्तकों का फारसी में अनुवाद किया गया था।

यह भी मार्के की बात है कि उसने हिन्दू विधवाओं के सती होने की प्रथा को बन्द करने का हुक्म निकाला था और युद्ध-बन्दियों को गलाम बनाये जाने की भी मनाही कर दी थी।

चौंसठ साल की उम्र में, करीब पचास वर्ष राज करने के बाद, अक्तूबर, सन १६०५ ई० में अकबर की मृत्यु हुई। उसकी लाश आगरा के पास सिकन्दरे में एक खूबसूरत मकबरे में दफन की हुई है।

अकबर के राज्यकाल में उत्तर भारत में और ज्यादातर काशी में, एक व्यक्ति रहा, जिसका नाम उत्तर प्रदेश के हरएक ग्रामीण की जबान पर है। वहां वह इतना मशहूर है और इतना लोकप्रिय है, जितना अकबर या दूसरा कोई बादशाह नहीं हो सकता। मेरा मतलब तुलसीदास से है, जिन्होंने हिन्दी में राम-चरित-मानस या रामायण लिखी है।

पुर्तगाली पादरियों के लेखों में से कुछ और उद्धरण यहां देने के लोभ को मैं नहीं रोक सकता। उनकी राय दरबारी मुसाहिबों की राय से बहुत ज्यादा महत्वपूर्ण है और यह बात भी ध्यान में रखने की है कि जब अकबर ईसाई न बना तो उसकी तरफ से उनको बहुत निराशा भी हुई थी। फिर भी

वे लिखते हैं कि "वह दरअसल एक महान बादशाह था, क्योंकि वह जानता था कि अच्छा शासक वही हो सकता है, जिसकी प्रजा उसे एक साथ फर्मांबरदारी, सम्मान, प्रेम और भय की दृष्टि से देखे। यह बादशाह सबका प्यारा था, बड़े आदमियों पर सख्त, छोटे आदमियों पर मेहरबान, और सब लोगों के साथ, चाहे वे ऊंच हों या नीच, पड़ोसी हों या अजनबी, ईसाई हों या मुसलमान या हिन्दू, न्याय करता था; इसलिए हरएक आदमी यही समझता था कि बादशाह उसीके पक्ष में हैं।" जेसुइट लोग आगे कहते हैं—"अभी वह राजकीय मामलों में मशगूल है या अपनी प्रजा के लोगों को मुजरा दे रहा है तो दूसरे ही क्षण वह ऊंटों के बाल कतरता हुआ या पत्थर फोड़ता हुआ या लकड़ी काटता हुआ या लोहा कूटता हुआ नजर आता था; और इनसब कामों को वह इतनी होशियारी से करता था, मानो खुद अपने ही खास पेशे को कर रहा हो।" हालांकि वह एक शक्तिशाली और स्वेच्छाचारी राजा था, लेकिन वह शरीर-श्रम को अपनी शान के खिलाफ नहीं समझता था, जैसाकि आजकल के कुछ लोग खयाल करते हैं।

आगे चलकर यह बतलाया गया है कि "वह बहुत थोड़ा खाना खाता था और साल में सिर्फ तीन या चार महीने ही मांस खाता था। · · · सोने के लिए वह बड़ी मुश्किल से रात के तीन घंटे निकालता था। · · · उसकी स्मरण-शक्ति गजब की थी। उसके हजारों हाथी थे, लेकिन वह सब के नाम जानता था; अपने घोड़ों के, हिरनों के और कबूतरों तक के नाम भी उसे याद थे!" इस अद्भुत स्मरण-शक्ति के बारे में यकीन करना मुश्किल है और शायद यह वर्णन कुछ बढ़ाकर भी लिखा गया हो, लेकिन इसमें कोई शक नहीं कि उसका दिमाग अद्भुत था। "हालांकि वह पढ़-लिख नहीं सकता था, लेकिन अपनी बादशाहत में होनेवाली तमाम बातें उसे मालूम रहती थीं।" और "उसकी ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा" ऐसी थी कि वह "सब बातें एक साथ सीखने की कोशिश करता था, जैसे कोई भूखा आदमी सारे भोजन को एक ही ग्रास में निगल जाना चाहता हो।"

ऐसा था यह अकबर। लेकिन वह पूरा स्वेच्छाचारी था और हालांकि उसने प्रजा को बहुत-कुछ सुरक्षित कर दिया था और किसानों पर से करों का बोझ भी हल्का कर दिया था, लेकिन उसका दिमाग शिक्षा और तालीम

के जरिये जनता का स्तर ऊंचा उठाने की तरफ नहीं गया। वह युग हर जगह स्वेच्छाचारिता का था, मगर दूसरे स्वेच्छाचारी राजाओं के मुकाबले में अकबर बादशाह और उसका व्यक्तित्व बड़ी तेजी से चमकते हैं।

: २२ :

अकबर के उत्तराधिकारी

हालांकि अकबर बाबर की तीसरी पीढ़ी में था, लेकिन भारत में मुगल राजघराने की नींव डालनेवाला असल में यही था। चीन में कुबलाई खां के युआन राजवंश की तरह अकबर के बाद मुगल बादशाहों का राजवंश भारतीय बन गया। अकबर ने अपने साम्राज्य को मजबूत बनाने के लिए जो महान कार्य किया था, उसका नतीजा यह हुआ कि उसका राजवंश उसकी मृत्यु के बाद सौ वर्ष से ज्यादा राज करता रहा।

अकबर के बाद तीन और योग्य बादशाह हुए, लेकिन उनमें कोई असाधारण बात नहीं थी। जब कोई बादशाह मरता तो उसके पुत्रों में राजगद्दी के लिए बड़ी गन्दी छीना-झपटी होती। राजमहलों की साजिशें और उत्तराधिकार की लड़ाइयां होती थीं। पुत्रों का पिताओं से विद्रोह, भाइयों का भाइयों से विद्रोह, हत्याएं और रिश्तेदारों की आंखें फोड़ी जाना—मतलब यह कि स्वेच्छाचारिता और निरंकुश शासन के साथ चलनेवाली तमाम बीभत्स बातें होती थीं। शान-शौकत और तड़क-भड़क तो अतुलनीय थी। शायद मुगल बादशाह उस जमाने के बादशाहों में सबसे ज्यादा मालदार थे। लेकिन फिर भी कभी-कभी अकाल, महामारी और रोग फैल जाते थे और बेशुमार आदमियों को खा जाते थे, जबकि दूसरी तरफ बादशाही दरबार विलास की मौजें मारता था।

अकबर के समय की धर्मों की सहिष्णुता उसके पुत्र जहांगीर के राज्य में भी जारी रही, लेकिन फिर यह धीरे-धीरे मिटती गई और ईसाइयों और हिन्दुओं पर कुछ अत्याचार होने लगे। बाद में, औरंगजेब के राज में, मन्दिरों को तोड़कर और बदनाम जजिया टैक्स को दुबारा जारी करके हिन्दुओं को जान-बूझकर सताने की कोशिश की गई। साम्राज्य की जो नींव

अकबर ने इतनी महनत से डाली थी, वह इस तरह एक-एक पत्थर करके खोद डाली गई और साम्राज्य एकदम भहराकर गिर पड़ा।

अकबर के बाद जहांगीर गद्दी पर बैठा, जो उसकी राजपूत रानी का पुत्र था। उसने कुछ हद तक अपने पिता की परम्परा को जारी रखा, लेकिन शायद उसे सरकारी कामों की अपेक्षा कला तथा चित्रकारी और बागों तथा फूलों में ज्यादा दिलचस्पी थी। उसके यहां सुन्दर चित्रशाला थी। वह हर साल काश्मीर जाता था और मेरे खयाल से श्रीनगर के पास शालिमार और निशात नाम के मशहूर बाग इसीने लगवाये थे। जहांगीर की बेगम—या यों कहो कि उसकी बहुत-सी बेगमों में से एक—सुन्दरी नूरजहां थी, जिसके हाथों में परदे के पीछे राज की असली सत्ता थी। ऐतमादुद्दौला की कब्र पर खूबसूरत इमारत जहांगीर के ही राज में बनी थी। जब कभी मैं आगरे जाता हूं तो शिल्प-कला के इस रत्न को देखने की कोशिश करता हूं, ताकि उसकी सुन्दरता से अपनी आंखों को तृप्त कर सकूं।

जहांगीर के बाद उसका पुत्र शाहजहां गद्दी पर बैठा और उसने तीस वर्ष, यानी सन १६२८ से १६५८ ई० तक शासन किया। वह फ्रांस के चौदहवें लुई का समकालीन था और इसके राज्य में जहां मुगलों का वैभव चरम सीमा पर पहुंच गया, वहां उसकी गिरावट के भी बीज साफ नजर आने लगे थे। बादशाह के बैठने के लिए बहुमूल्य रत्नों से जड़ा हुआ मशहूर तख्त-ताऊस बनाया गया। फिर आगरे में जमना के किनारे वह सुन्दरता का स्वप्न ताजमहल बना। यह उसकी प्यारी बेगम मुमताज महल का मकबरा है। शाहजहां ने बहुत-से ऐसे काम किये, जिनसे उसकी कीर्ति और प्रतिष्ठा को बट्टा लगता है। वह धर्म के मामले में असहिष्णु था और जब दक्षिण में गुजरात में भयंकर अकाल पड़ा तो उसने अकाल-पीड़ितों की सहायता के लिए कुछ भी नहीं किया। उसकी प्रजा की इस कम्बख्ती और गरीबी के मुकाबले में उसके धन और ऐश्वर्य बड़े घृणित दिखाई पड़ते हैं। फिर भी पत्थर और संगमरमर में उसने मनोहरता के जो चमत्कार छोड़े हैं, उनके कारण शायद उसकी बहुत-सी बातें क्षमा की जा सकती हैं। इसीके समय में मुगल शिल्प-कला अपनी चोटी पर पहुंची थी। ताज के अलावा इसने आगरे की मोती मस्जिद, दिल्ली की विशाल

जामा मस्जिद और दिल्ली के महलों में दीवाने-आम और दीवान-खास बनवाये। इन इमारतों में ऊंचे दरजे की सादगी है और इनमें से कुछ तो बड़ी विशाल, सुघड़ और सुडौल हैं और उनकी सुन्दरता परियों जैसी लोकोत्तर है।

लेकिन इस लोकोत्तर सौंदर्य के पीछे गरीबी की मारी हुई वह प्रजा थी, जो इन महलों की कीमत चुकाती थी, पर जिसके अधिकांश व्यक्तियों के पास रहने को मिट्टी के झोंपड़े भी न थे। निरंकुश जुल्मी शासन का बोलबाला था और सम्राट या उसके बड़े नायब और सूबेदार अगर किसीसे नाखुश हो जाते तो उसे खूंखार सजाएं दी जाती थीं। दरबार की साजिशों का दौर-दौरा था। अकबर की क्षमाशीलता, सहिष्णुता और अच्छी राज्य-व्यवस्था बीती बातें हो गई थी। घटनाएं विनाश की ओर ले जा रही थी।

इसके बाद अन्तिम महान मुगल औरंगजेब आया। उसने अपने शासन का श्रीगणेश अपने पिता को कैद में डालकर किया। उसने सन १६५९ ई० से १७०७ ई० तक अड़तालीस वर्ष राज्य किया। अपने दादा जहांगीर की तरह वह न तो कला और साहित्य से प्रेम करता था और न अपने पिता शाहजहां की तरह शिल्प-कला से। वह कठोर सादगी पालन करनेवाला साधु और कट्टर मुसलमान था, और अपने धर्म के सिवा अन्य किसी धर्म को सहन नहीं करता था। दरबार की तड़क-भड़क तो कायम रही, पर अपने व्यक्तिगत जीवन में औरंगजेब सादा-मिजाज और संन्यासी जैसा था। उसने इरादा करके हिन्दुओं को सताने की नीति चलाई। इरादा करके ही उसने अकबर की सबको मित्र बनाने की और एकीकरण की नीति को उलट दिया और जिस नींव पर अभीतक साम्राज्य टिका हुआ था, उसे इस तरह उखाड़ डाला। उसने हिन्दुओं पर जजिया टैक्स फिर लगा दिया; जहांतक हो सका हिन्दुओं से सब ओहदे छीन लिये; जिन राजपूत सरदारों ने अकबर के समय से इस राजवंश की सहायता की थी, उन्हींको उसने नाराज करके राजपूतों से लड़ाई मोल ले ली। उसने हजारों हिन्दू मन्दिरों को तुड़वा डाला और इस तरह अनेक सुन्दर पुरानी इमारतें धूल में मिला दी गईं। जहां एक ओर दक्षिण में उसका साम्राज्य बढ़ रहा था, बीजापुर और गोलकुंडा उसके कब्जे में आ गये थे और दूर दक्षिण से उसे खिराज मिलने लगा था, वहां दूसरी ओर इस साम्राज्य की नींव ढीली होकर दिन-

पर-दिन कमजोर होती जा रही थी और चारों तरफ दुश्मन पैदा हो रहे थे। जजिया के विरोध में हिन्दुओं की तरफ से जो अर्जी पेश की गई थी, उसमें लिखा था कि यह कर "न्याय का विरोधी है, उसी तरह यह अच्छी नीति से भी असंगत है, क्योंकि यह देश को निर्धन कर देगा, इसके अलावा यह एक बिल्कुल नई बात है और भारत के नियमों को भंग करता है।" साम्राज्य की जो हालत हो रही थी, उसके बारे में उसमें लिखा था—"जहांपनाह के राज में बहुत-से लोग साम्राज्य के खिलाफ हो गये हैं, जिसका लाजिमी नतीजा यह होगा कि और भी हिस्से हाथ से निकल जायंगे, क्योंकि सब जगह बेरोकटोक बरबादी और लूट-खसोट का बाजार गरम हो रहा है। आपकी प्रजा पैरों तले रौंदी जाती है, आपके साम्राज्य का हरएक सूबा गरीब होता जा रहा है, आबादी कम हो रही है और कठिनाइयां बढ़ती जा रही हैं।'

आम लोगों में फैली हुई यह तबाही उन भारी परिवर्तनों की भूमिका थी, जो अगले पचास-साठ वर्षों में भारत में होनेवाले थे। औरंगजेब की मृत्यु के बाद महान मुगल साम्राज्य का एकदम और पूर्ण पतन इन्हीं परिवर्तनों में से एक था। महान परिवर्तनों और महान आन्दोलनों के पीछे हमेशा आर्थिक कारण हुआ करते हैं। हम देख चुके हैं कि यूरोप और चीन के बड़े-बड़े साम्राज्यों के अन्त में पहले और साथ-साथ, आर्थिक पतन हुआ और बाद में क्रान्ति हुई। यही हाल भारत में हुआ।

जिस तरह तमाम साम्राज्यों का अन्त हुआ करता है, उसी तरह मुगल साम्राज्य का अन्त उसीकी अन्दरूनी कमजोरियों की वजह से हुआ। वह बिल्कुल छिन्न-भिन्न हो गया। लेकिन हिन्दुओं में विद्रोह की जो नई चेतना पैदा हो रही थी और जो औरंगजेब की नीति की वजह से उफान पर आ गई थी, उसने इस अन्त को लाने की क्रिया में बहुत सहायता पहुंचाई। परन्तु एक तरह की यह धार्मिक हिन्दू राष्ट्रीयता औरंगजेब के राज से पहले ही जड़ पकड़ चुकी थी और सम्भव है कि कुछ-कुछ इसीकी वजह से औरंगजेब इतना द्वेषपूर्ण और असहिष्णु हो गया हो। मराठे, सिख वगैरा इस हिन्दू-जागृति के भाले की नोक थे और मुगल साम्राज्य का तख्ता अन्त में इन्होंने ही उलट दिया। लेकिन इस प्राप्त सम्पत्ति से वे कुछ लाभ न

उठा सके। जिस वक्त ये लोग लूट के माल के लिए आपस में लड़ रहे थे, अंग्रेज चुपचाप और चालाकी के साथ घुस आये और उसे हथिया बैठे।

जब मुगल सम्राट फौज के साथ कूच करते थे तो उनका शाही डेरा किस तरह का होता था? वह एक बड़ा जबरदस्त मामला होता था, जिसका घेरा तीस मील और आबादी करीब पांच लाख होती थी! इस आबादी में सम्राट के साथ चलनेवाली फौज तो होती ही थी, लेकिन उसके अलावा इस चलते-फिरते भारी शहर में लाखों दूसरे लोग और सैकड़ों बाजार होते थे। इन्हीं चलते-फिरते डेरों में उर्दू यानी 'लश्कर' की भाषा का विकास हुआ।

मुगल काल के बहुत-से छबि-चित्र अब भी मिलते हैं, जिनकी चित्रकला बड़ी बारीक और नफीस है। सम्राटों की तसवीरों की तो एक पूरी चित्र-शाला ही मिलती है। बाबर से लगाकर औरंगजेब तक तमाम बादशाहों के व्यक्तित्व को ये तसवीरें बड़ी खूबी के साथ प्रकट करती हैं।

मुगल सम्राट दिन में कम-से-कम दो बार झरोखे में से लोगों को दर्शन दिया करते थे और अर्जियां लिया करते थे। जब सन १९११ ई० में अंग्रेज सम्राट जार्ज पंचम दिल्ली में ताजपोशी के दरबार के लिए भारत आये थे तो उनका भी इसी तरह मुजरा करवाया गया था।

मैंने अभीतक यह नहीं बतलाया है कि पिछले मुगल बादशाहों का विदेशियों के साथ कैसा ताल्लुक था। अकबर के दरबार में पुर्तगाली पादरियों पर खास कृपा रहती थी और यूरोप की दुनिया के साथ अकबर का जो कुछ भी सम्पर्क था, वह इन्हीके जरिये था। अकबर इनको यूरोप की सबसे ताकतवर कौम समझता था, क्योंकि समुद्रों पर इनका प्रभुत्व था। अंग्रेजों का उस वक्त पता भी न था। अकबर की गोआ लेने की बड़ी इच्छा थी और उसने उसपर हमला भी किया, मगर सफलता न मिली। मुगल सेना के लोग समुद्र-यात्रा को पसंद नहीं करते थे और जहाजी शक्ति के सामने उनकी दाल न गलती थी। यह एक विचित्र बात है, क्योंकि उस जमाने में पूर्वी बंगाल में जहाज बनाने का काम जोरों से चल रहा था। लेकिन ये जहाज ज्यादातर माल लादने के काम के थे। समुद्र पर मुकाबला करने की यह लाचारी मुगल साम्राज्य के पतन की एक वजह बतलाई जाती है। अब समुद्री शक्तियों का समय आ गया था।

जब अंग्रेज लोगों ने मुगल दरबार में आने की कोशिश की तो पुर्त-गालियों को उनसे डाह हुई और उन्होंने जहांगीर के कान उनके विरुद्ध भरने में कोई कसर न उठा रखी। लेकिन इंग्लैंड के जेम्स प्रथम का एलची सर टामस रो सन १६१५ ई० में किसी तरह जहांगीर के दरबार में जा पहुंचा। उसने सम्राट से बहुत-सी सहूलियतें हासिल कर ली और ईस्ट इंडिया कम्पनी के व्यापार की नींव जमा दी। इसी बीच अंग्रेजी बेड़े ने भार-तीय समुद्र में पुर्तगाल के बेड़े को हरा दिया। इंग्लैंड का सितारा आसमान में ऊंचा चढ़ रहा था और पुर्तगाल का सितारा पश्चिम में डूब रहा था। डचों और अंग्रेजों ने धीरे-धीरे पुर्तगालियों को पूर्वी समुद्रों से बाहर निकाल दिया। सन १६२९ ई० में हुगली में शाहजहां और पुर्तगालियों के बीच युद्ध हुआ। पुर्तगाली बाकायदा गुलामों का व्यापार करते थे और लोगों को जबरदस्ती ईसाई बना रहे थे। पुर्तगालियों ने बड़ी बहादुरी से रक्षा की, लेकिन मुगलों ने हुगली पर कब्जा कर लिया। छोटा-सा पुर्तगाल देश बार-बार के इन युद्धों से थक गया। उसने साम्राज्य की होड़ से पीछा छुड़ाया; लेकिन वह गोआ और दूसरी कई जगहों से चिपका रहा और आज भी इन जगहों पर उसका कब्जा है।

इसी दौरान में अंग्रेजों ने मद्रास और सूरत के पास, भारत के समुद्र-तट के नगरों में, कारखाने खोल दिये। मद्रास की नींव भी उन्होंने ही सन १६३९ ई० में डाली। सन १६६२ ई० में इंग्लैंड के बादशाह चार्ल्स द्वितीय ने पुर्तगाल की कैथराइन आफ ब्रैगैंजा के साथ शादी की और बम्बई का टापू उसे दहेज में मिला। कुछ दिनों बाद उसने इसे बहुत सस्ते दाम में ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ बेच दिया। यह घटना औरंगजेब के राजकाल में हुई। पुर्तगालियों के ऊपर विजय के नशे में चूर ईस्ट इंडिया कम्पनी ने यह सोचकर कि मुगल साम्राज्य कमजोर होता जा रहा है, सन १६८५ ई० में भारत में जबरदस्ती अपना अधिकार बढ़ाने की कोशिश की, लेकिन उसे नुकसान उठाना पड़ा। इंग्लैंड से लड़ाई के जहाज दौड़े हुए आये और औरंगजेब के राज्य पर पूर्व में बंगाल पर और पश्चिम में सूरत पर हमले किये गए। लेकिन अभी मुगलों में उनको बुरी तरह हरा देने की ताकत थी। अंग्रेजों ने इससे शिक्षा ली और आगे के लिए वे बहुत सावधान हो गये।

औरंगज़ेब की मृत्यु पर भी, जबकि मुगल-शक्ति स्पष्ट ही छिन्न-भिन्न हो रही थी, ये बहुत वर्षों तक कोई बड़ा हमला करने से पहले आगा-पीछा सोचते रहे। सन १६९० ई० में जाब चार्नोक ने कलकत्ता शहर की नींव डाली। इस तरह मद्रास, बम्बई और कलकत्ता, इन तीनों शहरों की स्थापना अंग्रेजों के हाथों से हुई और शुरू-शुरू में ये शहर अंग्रेजों के ही साहसपूर्ण प्रयत्नों से बढ़े।

अब फ्रान्स ने भी भारत में कदम रखा। एक फ्रांसीसी व्यापारी कम्पनी बनी और सन १६६८ ई० में उसने सूरत में और कुछ अन्य जगहों में कारखाने खोले। कुछ साल बाद उसने पांडिचेरी शहर खरीद लिया, जो पूर्वी तट पर सबसे महत्वपूर्ण व्यापारिक बन्दरगाह बन गया।

सन १७०७ ई० में करीब नब्बे वर्ष की बड़ी उम्र में औरंगज़ेब की मृत्यु हुई। उसकी छोड़ी हुई शानदार सम्पत्ति, यानी भारत, को हथियाने के लिए संघर्ष का सूत्रपात हुआ। एक तो खुद उसीकी अयोग्य सन्तान और उसके कुछ बड़े-बड़े सूबेदार थे; उधर मराठे और सिख थे; दूसरी तरफ उत्तर-पश्चिम सीमा के पार के लोग दांत लगाये हुए थे; और समुद्र पार के दो शक्तिशाली राष्ट्र अंग्रेज और फ्रान्सीसी थे। बेचारे भारतवासियों की चिन्ता किसे होती?

: २३ :

शिवाजी

औरंगजेब की मृत्यु के कुछ ही दिन बाद सिखों का विद्रोह हुआ। इसे तो दबा दिया गया, लेकिन सिख लोग अपना बल बढ़ाते रहे और पंजाब में अपनी स्थिति को मजबूत बनाते रहे।

ये सब बगावतें तो दिक्कत में डालनेवाली थी हीं, पर मुगल साम्राज्य को असली खतरा दक्षिण-पश्चिम में मराठों की बढ़ती हुई शक्ति से था। शाहजहां के राज्य में ही शाहजी भोंसले नाम के एक मराठा सरदार ने सर उठाया था। वह पहले तो अहमदनगर की रियासत में और बाद में बीजापुर रियासत में हाकिम रहा था। लेकिन मराठों का गौरव और मुगल साम्राज्य

को थर्रा देनेवाला अगर कोई था तो वह इसका पुत्र शिवाजी था, जिसका जन्म सन १६२७ ई० में हुआ था। वह उन्नीस वर्ष का भी न हुआ था कि उसने लूट-मार शुरू कर दी और पूना के पास पहला किला जीत लिया। वह एक वीर सेनानायक, छापामारों का योग्य नेता और जोखिम उठानेवाला था। उसने बहादुर और मजबूत पहाड़ियों का एक गिरोह इकट्ठा कर लिया, जो उसपर जान देते थे। इनकी मदद से उसने बहुत-से किलों पर क़ब्ज़ा कर लिया और औरंगजेब के सेनापतियों को खूब परेशान किया। सन १६६५ ई० में उसने अचानक सूरत पर धावा बोल दिया, जहां अंग्रेजों का कारखाना था, और शहर को लूट लिया। बातों में आकर वह आगरे में औरंगजेब के दरबार में भी गया, लेकिन जब उसके साथ एक स्वतन्त्र राजा का-सा बर्ताव नहीं किया गया तो इसमें उसने अपने गौरव और मान की हानि महसूस की। उसे वहां कैद कर लिया गया, लेकिन वह छूटकर भाग निकला। फिर भी औरंगजेब ने उसे राजा का खिताब देकर अपनी तरफ मिलाने की कोशिश की।

लेकिन शिवाजी ने फिर लड़ाई छेड़ दी और दक्षिण के मुगल हाकिम तो उससे इतने डर गये कि वे अपनी रक्षा के लिए उसे धन देने लगे। यही वह इतिहास-प्रसिद्ध 'चौथ' यानी लगान का चौथा अंश थी, जिसे मराठे लोग जहां जाते, वहीं वसूल करते थे। इस तरह मराठों की ताकत तो बढ़ती गई और दिल्ली का साम्राज्य कमजोर होता गया। सन १६७४ ई० में शिवाजी ने रायगढ़ में बड़े ठाट-बाट के साथ राजसिंहासन ग्रहण किया। सन १६८० ई० में, अपनी मृत्यु तक वह बराबर विजय-पर-विजय प्राप्त करता रहा।

मराठा देश के केन्द्र पूना शहर में कुछ समय रहने पर मालूम हो जाता है कि वहां के लोग शिवाजी से कितना प्रेम करते है और उसकी कितनी पूजा करते हैं। जिस धार्मिक राष्ट्रीय जागृति का जिक्र मैं अभी कर चुका हूं, उसका यह प्रतीक था। आर्थिक संकट और आम जनता की दुर्दशा ने जमीन तैयार कर दी थी, और रामदास और तुकाराम नामक दो मराठा सन्त कवियों ने अपनी कविताओं और भजनों से इसमें खाद डाल दी। इस तरह मराठा लोगों को जागृति और एकता हासिल हुई और ठीक उसी समय उनका नेतृत्व करके विजय प्राप्त करानेवाला एक तेजस्वी सेनानी पैदा हो गया।

: २४ :

क्लाइव और हेस्टिंग्स

अठारहवी सदी में यूरोप में इंग्लैंड और फ्रान्स की अक्सर मुठभेड़ होती रहती थी और उनके प्रतिनिधि भारत में भी एक-दूसरे से लड़ते थे। लेकिन कभी-कभी यूरोप मे दोनों देशों मे बाकायदा सुलह होने पर भी भारत में ये लड़ते रहते थे। दोनों तरफ दुस्साहसी और भले-बुरे का विचार न करनेवाले ले-भग्गू थे, जिनकी सबसे बड़ी आकांक्षा थी धन और शक्ति प्राप्त करना, इसलिए इनके बीच घोर प्रतियोगिता स्वाभाविक थी। फ्रान्सीसियों मे उस समय सबसे जोरदार आदमी डूप्ले था और अंग्रेजों में से क्लाइव। डूप्ले ने दो रियासतों के आपसी झगड़ों मे दखल देने का फायदेमन्द खेल शुरू किया। पहले तो वह अपने शिक्षित सैनिक किराये पर दे देता और बाद में रियासत हड़प जाता। फ्रान्सीसियों का प्रभाव बढ़ने लगा; लेकिन अंग्रेजों ने भी बहुत जल्दी उसके तरीकों को अपना लिया और उससे भी आगे बढ़ गये। भूखे गिद्धों की तरह दोनों गड़बड़ी की ताक में रहते थे और उस वक्त ऐसी गड़बड़ें काफी मिल भी जाती थीं। दक्षिण में जब कभी उत्तराधिकार के बारे में झगड़ा होता तो शायद अंग्रेज एक दावेदार की ओर फ्रान्सीसी दूसरे की तरफदारी करते दिखाई पड़ते थे। पन्द्रह साल के लड़ाई-झगड़े (सन् १७४६-१७६१ ई०) के बाद इंग्लैंड ने फ्रान्स पर विजय पाई। भारत में अंग्रेज दुस्साहसियों को अपने देश की पूरी हिमायत थी; लेकिन डूप्ले और उसके साथियों को फ्रान्स से ऐसी कोई सहायता नहीं मिली। यह ताज्जुब की बात नहीं है। भारत में रहनेवाले अंग्रेजों की पीठ पर ब्रिटिश व्यापारी लोग और ईस्ट इंडिया कम्पनी के हिस्सेदार दूसरे लोग थे और वे पार्लमेंट और सरकार पर प्रभाव डाल सकते थे; लेकिन फ्रान्सीसियों के ऊपर उस वक्त पन्द्रहवां लुई था, जो मजे के साथ सत्यानाश की ओर दौड़ रहा था। समुद्र पर अंग्रेजों के प्रभुत्व ने भी बहुत मदद पहुंचाई। अंग्रेज और फ्रान्सीसी दोनों ही भारतीय सैनिकों को, जो सिपाही कहलाते थे, फौजी तालीम देते थे और चूंकि इन सिपाहियों के पास देशी फौजों से

अच्छे हथियार होते थे और इनका अनुशासन भी उनमें अच्छा होता था, इसलिए इनकी बड़ी माग रहती थी।

बस, अंग्रेजों ने भारत में फ्रान्सीसियों को हरा दिया और चन्द्रनगर तथा पांडिचेरी के फ्रान्सीसी शहरों को बिल्कुल तहस-नहस कर डाला। यह बरबादी ऐसी हुई कि दोनों जगह एक भी मकान साबित न बचा। इस समय से फ्रान्सीसियों का भारत की रंगभूमि से लोप होना जारी हो गया।

इस जमाने मे अंग्रेजों और फ्रान्सीसियों की युद्ध-भूमि सिर्फ भारत तक ही सीमित न थी। यूरोप के अलावा वे कनाडा और दूसरी जगहों में भी लड़े। कनाडा में भी अंग्रेजों की जीत हुई, लेकिन थोड़े दिन बाद ही इंग्लैंड अमरीका के उपनिवेशों से हाथ धो बैठा और फ्रान्स ने इन उपनिवेशों को मदद देकर अंग्रेजों से अपना बदला चुकाया।

फ्रान्सीसियों को निकाल बाहर करने के बाद अंग्रेजो के रास्ते मे और क्या रुकावटें रह गई थी! पश्चिम में, मध्य-भारत में और कुछ हद तक उत्तर में भी मराठे तो थे ही। हैदराबाद का निजाम भी था, लेकिन उसकी ज्यादा बिसात नही थी। हा, दक्षिण में एक नया और ताकतवर प्रतिद्वन्द्वी हैदरअली था। वह पुराने विजयनगर साम्राज्य के बचे-खुचे टुकड़ों का, जिनसे आजकल की मैसूर रियासत बन गई है, स्वामी बन बैठा। उत्तर में बगाल सिराजुद्दौला नाम के एक बिल्कुल निकम्मे आदमी के कब्जे में था। दिल्ली का साम्राज्य तो, जैसाकि हम देख चुके हैं, एक खयाल-ही-खयाल रह गया था। लेकिन काफी मजेदार बात यह है कि सन १७५६ ई० तक, यानी नादिरशाह के हमले के बहुत बाद तक, जिसने केन्द्रीय सरकार की छाया तक मिटा दी थी, अंग्रेज लोग दिल्ली साम्राज्य को अपनी मातहती के चिह्न-रूप विनम्रता से नजराने भेंट करते रहे। पाठकों को याद होगा कि औरंगजेब के समय में एक बार बंगाल में अंग्रेजों ने सिर उठाने की कोशिश की थी, लेकिन वे बुरी तरह परास्त हुए थे और इस पराजय ने उनका दिमाग़ इतना ठंडा कर दिया था कि दुबारा हिम्मत करने के लिए वे बहुत दिन तक आगा-पीछा सोचते रहे, हालांकि उत्तर की हालत तो मानो किसी दिलेर आदमी को खुला न्यौता दे रही थी।

क्लाइव नाम का अंग्रेज, जिसको उसके देशवासी एक महान साम्राज्य-

निर्माता के रूप में प्रशंसा करते हैं, ऐसा ही हौसलेवाला आदमी था। अपने व्यक्तित्व और अपने कार्यों मे वह इस बात का उदाहरण पेश करता है कि साम्राज्य किस तरह निर्माण किये जाते हैं। वह बड़ा दिलेर, दुस्साहसी और हद दरजे का लालची था और अपने इरादे के सामने वह जालसाजी और धोखेबाजी से भी नहीं चूकता था। बंगाल का नवाब सिराजुद्दौला, जो अंग्रेजों की बहुत-सी कारंवाइयों से चिढ़ गया था, अपनी राजधानी मुर्शिदाबाद से चढ़कर आया और उसने कलकत्ते पर कब्जा कर लिया। 'काल-कोठरी' की कथित दुखद घटना, कहते हैं, इसी समय हुई थी। किस्सा यों बतलाया जाता है कि नवाब के हाकिमों ने बहुत-से अंग्रेजों को रात भर एक छोटी-सी दम घोटनेवाली कोठरी में बन्द कर दिया और उनमें बहुत-से दम घुटकर मर गये। यह हरकत निस्संदेह जंगली और वीभत्स है, लेकिन यह सारा किस्सा एक ऐसे आदमी के कथन पर निर्भर है, जो ज्यादा विश्वास के योग्य नहीं माना जाता। इसलिए बहुत-से लोगों का खयाल है कि यह सारा किस्सा झूठा है।

नवाब ने कलकत्ते पर कब्जा करके जो कामयाबी हासिल की, उसका बदला क्लाइव ने ले लिया, लेकिन इसके लिए इस साम्राज्य-निर्माता ने नवाब के वजीर मीरजाफर को देशद्रोह करने के लिए घूस देकर और एक जाली दस्तावेज, जिसका किस्सा बहुत लम्बा है, बनाकर अपने ही ढंग से काम किया। जालसाजी और धोखेबाजी के जरिये रास्ता साफ करके क्लाइव ने सन १७५७ ई० में नवाब को प्लासी की लड़ाई में हरा दिया। जैसी लड़ाइयां हुआ करती हैं, उनके मुकाबले में यह लड़ाई छोटी थी और इसे तो क्लाइव ने असल में अपनी साजिशों से, लड़ाई शुरू होने के पहले ही करीब-करीब जीत लिया था। लेकिन प्लासी की इस छोटी-सी लड़ाई का नतीजा बहुत बड़ा निकला। इसने बंगाल के भाग्य का निपटारा कर दिया और भारत में ब्रिटिश राज्य की शुरूआत अक्सर प्लासी से ही मानी जाती है। छल-कपट और जालसाजी की इस घृणित नींव पर भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का निर्माण हुआ, लेकिन सब साम्राज्यों और साम्राज्य-निर्माताओं का करीब-करीब यही ढंग होता है।

भाग्यचक्र के इस आकस्मिक परिवर्तन ने बंगाल के दुस्साहसी और लालची

अंग्रेजों का दिमाग आसमान पर चढ़ा दिया। वे बंगाल के स्वामी बन बैठे और उनके हाथ रोकनेवाला कोई न रहा। बस, क्लाइव की सरदारी में उन्होंने बंगाल के खजाने पर हाथ मारना शुरू किया और उसे बिलकुल खाली कर डाला। क्लाइव ने करीब पच्चीस लाख रुपये नकद खुद अपनी नजर किये और इतने पर भी संतोष न करके कई लाख रुपये साल की आमदनी की एक बड़ी कीमती जागीर भी हड़प कर ली! बाकी के सब अंग्रेज लोगों ने भी इसी तरह अपना 'हर्जाना वसूल किया'। दौलत के लिए बड़ी शर्मनाक छीना-झपटी मची और ईस्ट इंडिया कंपनी के कर्मचारियों का लालच और अविवेक तो सब मर्यादाओं को पार कर गया। अंग्रेज लोग बंगाल के नवाब-निर्माता बन गये और अपनी मर्जी के माफिक नवाबों को बदलने लगे। हर परिवर्तन के साथ घूस और भारी-भारी नजराने चलते थे। शासन की जिम्मेदारी उनपर न थी, यह तो बेचारे बदलते हुए नवाब का काम था। उनका काम तो था जल्दी-से-जल्दी धनवान बन जाना।

कुछ वर्ष बाद, सन १७६४ ई० में अंग्रेजों ने, बक्सर में एक और लड़ाई जीती, जिसका नतीजा यह हुआ कि दिल्ली का नाममात्र का बादशाह भी उनकी शरण में आ गया। उन्होंने उसे पेन्शन दे दी। अब बंगाल और बिहार में अंग्रेजों का अटल प्रभुत्व हो गया। देश से जो अपार धन वे लूट रहे थे, उससे उनको संतोष न हुआ और उन्होंने रुपया बटोरने के नये-नये तरीके निकालने शुरू किये। देश के अन्दरूनी व्यापार से उनको कुछ लेना-देना नहीं था। लेकिन अब वे उन जकातों को, जो देशी माल के व्यापारियों को देनी पड़ती थीं, दिये बिना ही व्यापार करने पर उतारू हो गये। भारत की कारीगरी और व्यापार पर अंग्रेजों की यह पहली चोट थी।

उत्तर भारत में अंग्रेजों की स्थिति अब ऐसी हो गई थी कि शक्ति और दौलत तो उनके हाथ में थी, लेकिन जिम्मेदारी उनपर कुछ भी न थी। ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारी लुटेरों को यह पता लगाने की जरूरत न थी कि ईमानदारी के व्यापार, बेईमानी के व्यापार और खुल्लम-खुल्ला लूट-मार में क्या फर्क है। ये वे दिन थे जब अंग्रेज लोग भारत से मालामाल होकर इंग्लैंड लौटते थे और 'नवाब' कहलाते थे।

राजनैतिक जोखिम और गड़बड़ें, वर्षा की कमी और अंग्रेजों की हड़पने

की नीति, इन सबका नतीजा यह हुआ कि सन १७७० ई० में बंगाल और बिहार में एक बड़ा भयंकर अकाल पड़ा। कहा जाता है कि इन प्रान्तों की एक-तिहाई से ज्यादा आबादी खत्म हो गई। लाखों आदमी भूख से तड़प-तड़पकर मर गये। प्रदेश-पर-प्रदेश उजाड़ हो गये और वहां जंगल पैदा हो गये, जिन्होंने उपजाऊ खेतों और गांवों को ढक दिया। भूख से मरनेवालों की मदद के लिए किसीने कुछ न किया। नवाब के पास न तो ताकत थी, न सत्ता और न प्रवृत्ति। ईस्ट इंडिया कम्पनी के पास ताकत और सत्ता तो थी, लेकिन वह कोई जिम्मेदारी या सहायता की प्रवृत्ति महसूस नहीं करती थी। उसका काम तो रुपया इकट्ठा करना और मालगुजारी वसूल करना था और यह काम इतनी काबलियत और खूबी के साथ किया कि भयंकर अकाल और एक-तिहाई आबादी के नाश के बावजूद बचे हुए लोगों से मालगुजारी की पूरी रकम वसूल कर ली! असल में उसने तो माल-गुजारी से भी ज्यादा वसूली कर ली और सरकारी रिपोर्ट के अनुसार यह काम उन्होंने 'जोर-जबरदस्ती के साथ' किया। महान विपत्ति से बचे हुए भूख से अधमरे लोगों से जो यह जबरदस्ती के साथ और अत्याचारपूर्ण वसूली की गई, उसकी अमानुषिकता को पूरी तरह खयाल में लाना भी मुश्किल है।

बंगाल में और फ्रान्सीसियों पर विजय-प्राप्ति हो जाने पर भी दक्षिण में अंग्रेजोंको बड़ी दिक्कतों का सामना करना पड़ा। अन्तिम विजय मिलने से पहले उनको कई बार हारना और अपमानित होना पड़ा। मैसूर का हैदरअली उनका कट्टर दुश्मन था। वह एक सुयोग्य सेनानायक था और उसने अंग्रेजी फौजों को बार-बार हराया। सन १७६९ ई० में उसने ठेठ मद्रास के किले के नीचे अपने माफिक सन्धि की शर्तें लिखवा लीं। दस साल बाद उसे फिर बहुत हद तक सफलता मिली और उसकी मृत्यु के बाद उसका पुत्र टीपू सुल्तान अंग्रेजों की राह का कांटा बन गया। टीपू को पूरी तौर पर हराने में मैसूर के दो युद्ध और हुए तथा कई साल लग गये। फिर मौजूदा मैसूर महाराजा का एक पूर्वज अंग्रेजों की छत्रछाया में गद्दी पर बिठलाया गया।

सन १७८२ ई० में दक्षिण में मराठों ने भी अंग्रेजों को हराया। उत्तर में ग्वालियर के सिन्धिया का दबदबा था और दिल्ली का बेचारा अभागा सम्राट उसकी मुट्ठी में था।

इसी अरसे में इंग्लैंड से वारेन हेस्टिंग्स भेजा गया और वह यहां का पहला गवर्नर-जनरल हुआ । ब्रिटिश पार्लमेंट अब भारत के मामलों में दिलचस्पी लेने लगी । हेस्टिंग्स भारत के अंग्रेज शासकों में सबसे बड़ा माना जाता है, लेकिन उसके शासनकाल में भी सरकारी इन्तजाम बहुत भ्रष्ट और बुराइयों से भरा हुआ था । हेस्टिंग्स द्वारा बहुत-सा रुपया ऐंठे जाने के कई उदाहरण मशहूर हो चुके हैं । जब हेस्टिंग्स इंग्लैंड लौटा तो भारत के शासन के बारे में पार्लमेंट के सामने उसपर आरोप लगाया गया, लेकिन बहुत दिन मुकदमा चलने के बाद वह बरी कर दिया गया । इससे पहले पार्लमेंट ने क्लाइव की भी निन्दा की थी और उसने तो सचमुच आत्महत्या ही कर ली । इस तरह इन लोगों की निन्दा करके या इनपर मुक़दमे चलाकर इंग्लैंड ने अपने अन्तःकरण को संतुष्ट कर लिया, लेकिन दिल-ही-दिल में वह इनकी कद्र करता था और इनकी नीति से फायदा उठाने के लिए हरदम तैयार था । क्लाइव और हेस्टिंग्स भले ही निन्दा के पात्र बनें, लेकिन ये लोग साम्राज्य-निर्माताओं के नमूने हैं, और जबतक गुलाम कौमों पर जबरदस्ती साम्राज्य लादे जायंगे और उनको निचोड़ा जायगा, तबतक ऐसे लोग आगे आयेंगे और कद्र हासिल करेंगे । शोषण के तरीके अलग-अलग युगों में भले ही बदलते रहें, लेकिन भावना वही रहती है ।

हेस्टिंग्स ने अंग्रेजों के अंगूठे के नीचे कठपुतली के समान भारतीय राजाओं को रखने की नीति की शुरुआत की ।

भारत में जैसे-जैसे ब्रिटिश साम्राज्य बढ़ा, वैसे-ही-वैसे मराठों, अफगानों, सिखों, बरमियों आदि से बहुत-से युद्ध हुए । लेकिन इन युद्धों के बारे में निराली बात यह थी कि हालांकि ये इंग्लैंड के फायदे के लिए लड़े जाते थे, लेकिन इनका खर्चा भारत के सिर पड़ता था, इंग्लैंड या इंग्लैंड के निवासियों पर कोई बोझ नहीं पड़ता था । वे तो मजे से फायदा उठाते रहते थे ।

याद रहे कि भारत पर ईस्ट इंडिया कंपनी, जो एक व्यापारी कंपनी थी, राज कर रही थी । ब्रिटिश पार्लमेंट का अधिकार बढ़ता जा रहा था, लेकिन भारत का भाग्य मुख्यतया व्यापारी लुटेरों के एक गिरोह के हाथों में था । शासन अधिकांश में व्यापार था और व्यापार अधिकांश में लूट था । इनके

बीच में भेद की रेखा बड़ी बारीक थी। कंपनी अपने हिस्सेदारों को जबरदस्त मुनाफे बांटती थी। इसके अलावा भारत में उसके एजेंट अपने लिए अच्छी रकमें बना लेते थे। कंपनी के कर्मचारी व्यापारी ठेके भी ले लेते थे और इस तरह बहुत जल्दी बेशुमार दौलत बटोर लेते थे। भारत में कंपनी की हुकूमत इस तरह की थी।

: २५ :

चीन का एक महान मंचू शासक

सन १६५० ई० से आगे के वर्षों में सारे चीन में मंचू लोगों के कदम मजबूती के साथ जम गये। इस अर्द्ध-विदेशी के मातहत चीन बहुत ताकतवर हो गया और दूसरों पर हमले तक करने लगा। मंचू लोग एक नई ताकत लेकर आये, और जहां एक ओर वे चीन के घरू मामलों में कम-से-कम रुकावटें डालते थे, वहां वे अपनी फालतू ताकत को उत्तर, पश्चिम और दक्षिण की तरफ अपना साम्राज्य बढ़ाने में खर्च करते थे।

नया राजवंश शुरू-शुरू में अक्सर कुछ सुयोग्य शासक पैदा करता है और बाद में नालायकों से उसका खात्मा हो जाता है। इसी तरह मंचुओं में भी कुछ असाधारण योग्यतावाले और निपुण शासक और राजनीतिज्ञ पैदा हुए। कांग-ही दूसरा सम्राट हुआ। जब वह गद्दी पर बैठा तो इसकी उम्र सिर्फ आठ वर्ष की थी। इकसठ वर्षों तक वह ऐसे साम्राज्य का बादशाह रहा, जो अपने जमाने की दुनिया के किसी भी साम्राज्य से बड़ा और ज्यादा आबाद था। लेकिन इतिहास में उसने जो स्थान प्राप्त किया है, वह न तो इस वजह से है और न उसकी सैनिक योग्यता के कारण। उसका नाम अमर हुआ है उसकी राजनीतिज्ञता और उसकी निराली साहित्यिक प्रवृत्तियों के कारण। वह सन १६६१ से १७२२ ई० तक सम्राट रहा, यानी चौव्वन वर्ष तक। वह फ्रान्स के महान सम्राट चौदहवें लुई का समकालीन था। इन दोनों ने बहुत ही लम्बे अरसे तक राज्य किया और रिकार्ड कायम करने की इस दौड़ में बहत्तर वर्ष राज्य करके लुई ने बाजी मार ली। इन दोनों की तुलना एक दिलचस्प चीज है, लेकिन यह तुलना सब तरह से लुई को ही नीचा

गिरानेवाली है। उसने अपने देश का सत्यानाश कर दिया और भारी कर्ज़ों का बोझ उसके सिर पर लादकर उसे बिल्कुल कमज़ोर बना दिया। धार्मिक मामलों में भी वह असहिष्णु था। कांग-ही कन्फ्यूशस का पक्का अनुयायी था, लेकिन वह दूसरे धर्मों के प्रति उदार था। उसके राज्य में और असल में पहले चार मंचू सम्राटों के राज्य में, पुरानी मिंग-संस्कृति से कोई छेड़-छाड़ नहीं की गई। उसका ऊंचा आदर्श बना रहा और कुछ हद तक तो उसमें तरक्की भी हुई। उद्योग-धंधे, कला-कौशल, साहित्य और शिक्षा उसी तरह फूलते-फलते रहे, जैसे मिंग राजाओं के ज़माने में। चीनी मिट्टी के अद्भुत बरतनों का बनना जारी रहा। रंगीन,छपाई का आविष्कार हुआ और तांबे पर खुदाई का काम जेसुइट लोगों से सीखा गया।

मंचू राजाओं की नीति-कुशलता और सफलता का भेद इस बात में था कि वे चीन की संस्कृति के पूरे हामी बन गये थे। कांग-ही एक असाधारण और अजीब खिचड़ी था, यानी दर्शन और साहित्य को लगन के साथ अध्ययन करनेवाला, सांस्कृतिक प्रवृत्तियों में डूबा हुआ और साथ ही कुशल सेनानायक, जिसे मल्क जीतने का ज़रा ज्यादा शौक था। वह साहित्य और कला-कौशल का कोई नया शौकीन या दिखाऊ प्रेमी न था। उसकी गहरी दिलचस्पी और विद्वत्ता का कुछ अन्दाजा उसके साहित्यिक कार्यों में से नीचे लिखी तीन रचनाओं से लगाया जा सकता है, जो उसकी सलाह से और ज्यादातर खुद उसीकी देखरेख में तैयार की गई थीं।

चीनी भाषा में चिह्न हैं; शब्द नहीं हैं। कांग-ही ने चीनी भाषा का एक कोश तैयार करवाया। यह एक जबरदस्त ग्रंथ था, जिसमें चालीस हज़ार से ज्यादा चिह्न थे और उनके प्रयोग बतलानेवाले कितने ही वाक्यांश थे। आजतक भी उसकी जोड़ का कोई ग्रंथ नहीं है।

कांग-ही के उत्साह ने हमें जो एक और रचना दी, वह एक बड़ा भारी सचित्र विश्वकोश है, जो कई सौ जिल्दों में पूरा होनेवाला एक अद्भुत ग्रंथ है। यह एक पूरा पुस्तकालय था; इसमें हरएक बात का बयान था, हरएक विषय की विवेचना थी। कांग-ही की मृत्यु के बाद यह ग्रंथ तांबे के उठाऊ छापों से छापा गया।

जिस तीसरे महत्वपूर्ण ग्रंथ का मैं यहां जिक्र करूंगा, वह था सारे चीन के साहित्य का निचोड़, यानी ऐसा कोश, जिसमें शब्दों और पुस्तकों के अंशों का संग्रह और मुकाबला किया गया था। यह भी एक असाधारण कार्य था, क्योंकि इसके लिए सारे चीनी साहित्य का गहरा अध्ययन जरूरी था। कवियों, इतिहास-लेखकों और निबन्ध-लेखकों की रचनाओं के पूरे-पूरे उद्धरण इसमें दिये गए थे।

कांग-ही ने और भी कितने ही साहित्यिक काम किये, लेकिन किसी को भी प्रभावित करने के लिए ये तीन ही काफी हैं। इनमें से किसीकी भी टक्कर का ऐसा कोई आधुनिक ग्रंथ मेरी निगाह में नहीं आता, सिवाय उस बड़ी 'आक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी' के, जिसे बनाने में कितने ही विद्वानों ने पचास वर्ष से ज्यादा मेहनत की।

कांग-ही ईसाई-धर्म और ईसाई मिशनरियों की तरफ काफी झुका हुआ था। वह विदेशों के साथ व्यापार को प्रोत्साहन देता था और उसने चीन के सारे बन्दरगाह इसके लिए खोल दिये थे। लेकिन उसे जल्दी ही पता लग गया कि यूरोप के लोग बदमाशी करते हैं और उनपर बन्दिश रखने की जरूरत है। उसे यह शक हो गया और इसके लिए काफी सबूत थे कि मिशनरी लोग चीन को आसानी से जीत लेने के लिए अपने-अपने देश की सरकारों के साम्राज्यवादियों के साथ साजिश कर रहे हैं। इससे उसे ईसाई-धर्म के प्रति अपना उदार रुख त्याग देना पड़ा। बाद में कैण्टन के चीनी फौजी अफसर से जो रिपोर्ट मिली, उससे उसके संदेह मजबूत हो गये। इस रिपोर्ट में बतलाया गया था कि फिलिपीन और जापान में यूरोप की सरकारों और उनके सौदागरों और मिशनरियों के बीच में कितना गहरा ताल्लुक था। इसलिए इस अफसर ने यह सिफारिश की थी कि बाहरी हमलों और विदेशियों की साजिशों से साम्राज्य को बचाने के लिए विदेशी व्यापार पर पाबन्दी लगाई जाय और ईसाई-धर्म के प्रचार को बन्द किया जाय।

इस रिपोर्ट पर चीन की बड़ी राज्यसभा ने विचार करके उसे मंजूर कर लिया। इसका नतीजा यह हुआ कि सम्राट कांग-ही ने उसके अनुसार कार्रवाई करके विदेशी व्यापार और पादरियों के प्रचार पर सख्त पाबन्दी लगाने के हुक्म जारी कर दिये।

साइबेरिया का लम्बा-चौड़ा मैदान सुदूर-पूर्व के चीन को पश्चिम के रूस से मिलाता है। सुनहरे कबीले के मंगोलों को बाहर निकालकर रूस भी एक मजबूत केन्द्रीय राज्य बन गया था और पूर्व में साइबेरिया के मैदानो की तरफ बढ रहा था। ये दोनों साम्राज्य अब साइबेरिया मे आकर मिलते हैं।

एशिया में मंगोलों का तेजी के साथ कमजोर होकर नष्ट हो जाना इतिहास की एक अजीब घटना है। मंगोल साम्राज्य के नष्ट-भ्रष्ट हो जाने के बाद करीब-करीब दोसौ वर्षों तक एशिया में होकर जानेवाले खुश्की के रास्ते बन्द रहे। सोलहवी सदी के उत्तरार्द्ध मे रूसवालों ने जमीन के रास्ते चीन को राजदूत भेजे। उन्होंने मिंग सम्राटों से राजनैतिक संबंध कायम करने की कोशिश की, लेकिन कामयाब न हुए। थोड़े दिन बाद ही यरमक नाम के एक रूसी डाकू ने कज्जाकों का एक गिरोह लेकर यूराल पहाड़ को पार किया और सिबिर के छोटे से राज्य को जीत लिया। साइबेरिया का नाम इसी राज्य के नाम से निकला है।

यह घटना सन १५८१ ई० की है। इस तारीख से रूसी लोग पूर्व की तरफ लगातार आगे ही बढ़ते गये, यहांतक कि लगभग पचास वर्ष में वे प्रशान्त महासागर तक पहुंच गये। जल्द ही आमूर की घाटी में उनकी चीनियों से मुठभेड़ हुई। दोनों में लड़ाई हुई, जिसमें रूसवालों की हार हुई। सन १६८९ ई० में दोनों देशों में नरचिन्स्क की सन्धि हुई। सरहद तय कर दी गई और व्यापार-संबंधी समझौता किया गया। यूरोप के एक देश के साथ चीनवालों की यह पहली सन्धि थी। इस सन्धि से रूस का आगे बढ़ना तो रुक गया, लेकिन कारवानों के व्यापार में बड़ी भारी तरक्की हुई। उस जमाने मे महान पीटर रूस का जार था और वह चीन से नजदीकी संबंध स्थापित करने का इच्छुक था। उसने कांग-ही के पास दो बार राजदूत भेजे और बाद में चीन के दरबार म एक स्थायी एलची मुकर्रर कर दिया।

चीन में तो बहुत पुराने जमाने से ही विदेशी राजदूत आते रहते थे। शायद रोमन सम्राट मार्कस आरेलियस एण्टोनियस ने ईसा के बाद दूसरी सदी में एक राजदूत-मंडल भेजा था। यह भी दिलचस्पी की बात है कि जब सन १६५६ ई० में हालैंड और रूस के राजदूत-मंडल चीन के दरबार

में पहुंचे तो वहां उन्होंने महान मुगल के एलची देखे। ये जरूर शाहजहां के भेजे हुए होंगे।

: २६ :

शियन-लुंग

कांग-ही का पोता शियन-लुंग चौथा सम्राट हुआ। इसने भी सन १७३६ से १७९६ ई० तक, यानी साठ वर्ष के बहुत ही लम्बे अरसे तक, राज्य किया। दूसरी बातों में भी यह अपने दादा के ही समान था। इसकी भी खास दिलचस्पी दो बातों में थी, साहित्यिक प्रवृत्तियां और साम्राज्य का विस्तार। इसने रक्षा करने लायक सब साहित्यिक ग्रंथों की बड़ी भारी खोज करवाई। इनको इकट्ठा किया गया और बड़ी तफसील के साथ इनका सूची-पत्र बनाया गया। इसके लिए सूची-पत्र शब्द मौजूं नहीं है, क्योंकि हरेक ग्रंथ के बारे में जितनी भी बातें मालूम हो सकीं वे सब लिखी गईं और साथ ही उनपर आलोचनात्मक टिप्पणियां भी जोड़ दी गईं। शाही पुस्तकालय का यह बड़ा वर्णनात्मक सूची-पत्र चार हिस्सों में था—कन्फूशस धर्म-संबंधी, इतिहास, दर्शन और सामान्य साहित्य। कहा जाता है कि इस जोड़ का ग्रंथ दुनिया में और कहीं नहीं है।

इसी जमाने में चीनी उपन्यासों, छोटी कहानियों और नाटकों का विकास हुआ और ये बड़े ऊंचे दरजे तक जा पहुंचे। यह बात ध्यान देने लायक है कि उन दिनों इंग्लैंड में भी उपन्यास का विकास हो रहा था। चीनी के बरतनों और चीनी कला की दूसरी मनोरम चीजों की यूरोप में मांग थी और इनकी तिजारत का तार बंध रहा था। चाय के व्यापार की शुरुआत और भी दिलचस्प है। यह प्रथम मंचू सम्राट के जमाने में शुरू हुआ। इंग्लैंड में चाय शायद चार्ल्स द्वितीय के जमाने में पहुंची थी। अंग्रेजी के मशहूर दिनचर्या लिखनेवाले सेम्युएल पेपीज की डायरी में सन १६६० ई० में सबसे पहले 'टी' (एक चीनी पेय) पीने के बारे में एक लेख है। चाय के व्यापार में बड़ी जबरदस्त तरक्की हुई और दोसौ वर्ष बाद, सन १८६० ई० में, अकेले फूचू नाम के चीनी बन्दरगाह से, एक मौसम में, दस करोड़

पौड चाय बाहर भेजी गई। बाद में दूसरे स्थानों में भी चाय की खेती होने लगी और अब तो भारत और लंका में भी चाय बहुतायत से पैदा होती है।

शियन-लुंग ने मध्य-एशिया में तुर्किस्तान को जीतकर और तिब्बत पर कब्जा करके अपना साम्राज्य बढ़ाया। कुछ वर्ष बाद, सन १७९० ई० में, नेपाल के गुरखा लोगों ने तिब्बत पर चढ़ाई की। इसपर शियन-लुंग ने न केवल गुरखों को तिब्बत से ही मार भगाया, बल्कि हिमालय के ऊपर होकर नेपाल तक उनका पीछा किया और नेपाल को चीनी-साम्राज्य की मातहत रियासत बनने को मजबूर कर दिया। नेपाल पर यह विजय एक मार्के की सफलता है। चीन की फौज का तिब्बत और फिर हिमालय को पार करना और गुरखों-जैसी लड़ाकू जाति को, खास उन्हींके घर में, हरा देना अचम्भे की बात है। सिर्फ बाईस वर्ष बाद, सन १८१४ ई० में, ऐसी घटना हुई कि भारत के अंग्रेजों का नेपाल से झगड़ा हो गया। उन्होंने नेपाल को एक फौज भेजी, लेकिन उसे बड़ी दिक्कतों का सामना करना पड़ा, हालांकि उसे हिमालय को पार नहीं करना पड़ा था।

शियन-लुंग के शासन के आखिरी वर्ष, यानी सन १७९६ ई० में, जो साम्राज्य सीधा उसके कब्जे में था उसमें मंचूरिया, मंगोलिया, तिब्बत और तुर्किस्तान शामिल थे। उसकी सत्ता को माननेवाली मातहत रियासतें थीं कोरिया, अनाम, स्याम और ब्रह्मदेश। लेकिन देश-विजय और सैनिक कीर्ति की लालसा बड़े खर्चीले खेल हैं। इनमें बड़ा भारी खर्चा होता है और करों का भार बढ़ता जाता है। यह भार सबसे ज्यादा गरीबों पर ही पड़ता है। उस वक्त आर्थिक परिवर्तन भी हो रहे थे, जिससे असन्तोष की आग और भी बढ़ी। देश-भर में राज्य के विरुद्ध गुप्त समितियां कायम हो गईं। इनमें से कुछके नाम भी मजेदार थे, जैसे श्वेतकमल समिति; दैवी न्याय समिति; श्वेत पंख समिति; स्वर्ग और पृथ्वी समिति।

इस दौरान में सब तरह की पाबन्दियों के होते हुए भी विदेशी व्यापार बढ़ रहा था। इन पाबन्दियों के कारण विदेशी व्यापारियों में बड़ा भारी असन्तोष था। व्यापार का सबसे बड़ा हिस्सा ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ में था, जिसने कैण्टन तक पैर फैला रखे थे, इसलिए पाबन्दियां [illegible]

क्रान्ति के नाम से पुकारी जानेवाली क्रान्ति शुरू हो रही थी और इंग्लैंड इसका अगुआ बन रहा था। भाप का इंजन ईजाद हो चुका था और नये तरीकों और मशीनों के इस्तेमाल से काम आसान हो रहा था और पैदावार बढ़ रही थी—खासकर सूती माल की। यह जो फालतू माल बन रहा था, उसका बिकना भी जरूरी था, इसलिए नई-नई मंडियां तलाश की जाती थीं। इंग्लैंड बड़ा खुशकिस्मत था कि ठीक इसी वक्त भारत उसके कब्जे में था, जिससे वह यहां अपने माल को जबरदस्ती बिकवाने का इंतजाम कर सकता था, जैसा उसने असल में किया भी। लेकिन वह चीन के व्यापार को भी हथियाना चाहता था।

इसलिए सन १७९२ ई० में ब्रिटिश सरकार ने लार्ड मैकार्टनी के नेतृत्व में एक राजदूत मंडल पेकिंग भेजा। उस समय जार्ज तृतीय इंग्लैंड का बादशाह था। शियन-लुंग ने उसको दरबार में मुलाकात के लिए बुलाया और दोनों ओर से नजराने दिये-लिये गये। लेकिन सम्राट ने विदेशी व्यापार पर लगी हुई पुरानी पाबन्दियों में कुछ भी हेर-फेर करने से इन्कार कर दिया। शियन-लुंग ने जो जवाब तीसरे जार्ज को भेजा था, वह बड़ा मजेदार खरीता है और मैं उसमें से एक हिस्सा यहां देता हूं। उसमें लिखा है :

"..... ऐ बादशाह, तू बहुत-से समुद्रों की सीमा से परे रहता है, फिर भी हमारी सभ्यता से कुछ फायदा उठाने की नम्र इच्छा से प्रेरित होकर तूने एक राजदूत-मंडल भेजा है, जो बाइज्जत तेरी अर्जी लेकर आया है। ... अपनी भक्ति का सबूत देने के लिए तूने अपने देश की बनी हुई चीजें भी भेंट में भेजी हैं। मैंने तेरी अर्जी को पढ़ा है; उसकी लिखावट की दिली भाषा से मेरे प्रति तेरी आदरपूर्ण विनम्रता प्रकट होती है, जो निहायत काबिले तारीफ है। ...

"सारी दुनिया पर राज्य करनेवाला होते भी हुए, मेरी निगाह में केवल एक ही लक्ष्य है, यानी आदर्श शासन कायम रखना और राज्य के प्रति अपने कर्तव्यों को निभाना; अजीब और बेशकीमत चीजों में मुझे दिलचस्पी नहीं है। मुझे ... तेरे देश की बनी हुई चीजों की जरूरत नहीं है। ऐ बादशाह, तुझे मुनासिब है कि मेरी भावनाओं का आदर करे और भविष्य में इससे भी ज्यादा श्रद्धा और राज्य-

भक्ति दिखलाये ताकि तू सदा हमारे राज्य-सिंहासन की छत्रछाया में रहकर अपने देश के लिए आगे को शान्ति और सुख प्राप्त करे।... डर से कांपते हुए आज्ञा-पालन कर और लापरवाही मत कर!"

तीसरे जार्ज और उसके मंत्रियों ने जब यह उत्तर पढ़ा होगा तो वे जरा सकते में आ गये होंगे। लेकिन जिस ऊंची सभ्यता में स्थिर विश्वास और जिस ताकत के बड़प्पन का पता इस जवाब से मिलता है, उसका आधार असल में टिकाऊ न था। मंचू-सरकार मजबूत दिखलाई पड़ती थी और शियन-लुंग के राज्य में वह मजबूत थी भी। लेकिन बदलती हुई आर्थिक व्यवस्था उसकी नींव को खोखली कर रही थी। जिन गुप्त समितियों का मैंने जिक्र किया है, वे इसी असन्तोष को बतलानेवाली थी। असली दिक्कत यह थी कि देश को इन नये आर्थिक परिवर्तनों के अनुकूल नहीं बनाया जा रहा था। दूसरी तरफ पश्चिम के देश इस नई व्यवस्था के अगुआ थे। वे बड़ी तेजी के साथ आगे बढ़ रहे थे और दिन-पर-दिन ताकतवर होते जाते थे। सम्राट शियन-लुंग ने इंग्लैंड के जार्ज तृतीय को जो बड़ा घमंड-भरा जवाब भेजा था, उसके बाद सत्तर साल भी न बीतने पाये थे कि इंग्लैंड और फ्रान्स ने चीन को नीचा दिखा दिया और उसके घमंड को धूल में मिला दिया।

सन १७९६ ई० में शियन-लुंग की मृत्यु हुई।

: २७ :

नेपोलियन

नेपोलियन किस तरह का आदमी था? क्या वह संसार का कोई महान पुरुष था या जैसा एच. जी. वेल्स वगैरह कहते हैं, वह खाली एक ले-भगू और विध्वंसक था, जिसने यूरोप को और उसकी सभ्यता को बड़ा भारी नुकसान पहुंचाया? शायद इन दोनों बातों में अतिशयोक्ति है; या दोनों में सच्चाई का कुछ अंश है। हम सबमें अच्छाई और बुराई, महानता और हीनता की अजीब मिलावट होती है। वह भी ऐसा ही एक मिश्रण था, लेकिन इस मिश्रण को बनाने में ऐसे असाधारण गुण लगे थे, जो हममें से बहुतों में न मिलेंगे।

उसमें साहस था और आत्म-विश्वास था; कल्पना थी और आश्चर्यजनक शक्ति तथा घोर महत्वाकांक्षा थी। वह बड़ा भारी सेनानायक था और पुराने जमाने के सिकन्दर और चंगेज जैसे सेनानियों के मुकाबले का युद्ध-कला का उस्ताद था। लेकिन वह कमीना भी था और स्वार्थी तथा घमंडी भी। उसके जीवन की प्रधान प्रेरणा किसी आदर्श के पीछे दौड़ना न थी, बल्कि सिर्फ व्यक्तिगत सत्ता की खोज थी। वह क्रान्ति में से पैदा हुआ था, फिर भी वह एक विशाल साम्राज्य के सपने देखता था और सिकन्दर की विजय-यात्राएं उसके दिमाग में भर रही थीं।

नेपोलियन बोनापार्ट का जन्म सन १७६९ ई० में कोर्सिका टापू में हुआ था, जो फ्रान्स के मातहत था। उसकी रगों में फ्रान्स, कोर्सिका और इटली का मिला हुआ खून था। उसने फ्रांस के एक फौजी स्कूल में तालीम पाई थी और राज्य-क्रांति के समय में वह जैकोबिन क्लब का सदस्य था। लेकिन शायद वह जैकोबिन लोगों में अपना ही उल्लू सीधा करने के लिए शामिल हुआ था, इसलिए नहीं कि वह उनके आदर्शों में विश्वास करता था। सन १७९३ ई० में तोलों में उसे पहली विजय प्राप्त हुई। इस जगह के धनवान लोगों ने इस डर से कि कहीं क्रांति के राज्य में उनकी सम्पत्ति न छिन जाय, सचमुच अंग्रेजों को बुला लिया और बाकी बचा हुआ फ्रान्सीसी जहाजी बेड़ा उनके हवाले कर दिया। नेपोलियन ने बागियों को पीस डाला और बड़ी उस्तादी के साथ हमला करके अंग्रेजों को हरा दिया। अब उसका सितारा बुलन्द होने लगा और चौबीस साल की उम्र में वह सेनानायक बन गया। कुछ ही महीनों में जब रोबसपीयरी गिलोतीन पर चढ़ा दिया गया तो यह आफत में फंस गया, क्योंकि इसपर रोबसपीयरी के दल का होने का संदेह किया गया। लेकिन सच तो यह है कि जिस दल में वह शामिल था, उस दल का सिर्फ एक ही सदस्य था, और वह था खुद नेपोलियन। इसके बाद डायरेक्टरी का राज आया और नेपोलियन ने साबित कर दिया कि जैकोबिन होना तो दरकिनार, वह तो प्रति-क्रान्ति का नेता था और बिना किसी हिचकिचाहट के आम जनता को गोलियों से भून सकता था।

सन १७९६ ई० में वह इटली की फौज का सेनापति हो गया और इटली

के उत्तरी हिस्से पर बड़ा चतुराईपूर्ण धावा करके उसने सारे यूरोप को चकित कर दिया। फ्रान्स की फौजों में क्रान्ति का जोश अभी कुछ बाकी था, लेकिन वे फटेहाल थीं और उनके पास न ठीक कपड़े थे, न जूते, न खाना और न रुपया। वह इस फटेहाल और पांवों में छाले पड़े हुए गिरोह को आल्प्स पहाड़ों के ऊपर होकर ले गया और उनको आशा दिलाई कि इटली के उपजाऊ मैदानों में पहुंचकर उनको खाना और आराम की चीजे सब मिलेंगी। दूसरी तरफ इटली के निवासियों को उसने स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया; वह उनको जालिमों से छुड़ाने आ रहा था। लूट-खसोट की आशामयी कल्पना के साथ क्रान्तिवादी शब्दजाल की यह कैसी विचित्र मिलावट थी! इस तरह उसने फ्रान्स और इटली, दोनों के निवासियों की भावनाओं से बड़ी चालाकी के साथ फायदा उठाया, चूंकि वह खुद भी आधा इटालवी था, इसलिए उसका खूब सिक्का जम गया। जैसे-जैसे उसे विजय मिलती गई, उसका रोब बढ़ने लगा और उसकी कीर्ति फैलने लगी। अपनी फौज में भी वह बहुत-सी बातों में साधारण सैनिकों के साथ तकलीफें उठाता था और खतरे में उनके साथ रहता था। धावे में जहां-कहीं सबसे ज़्यादा खतरा होता, वहीं वह पहुंच जाता था। वह हमेशा सच्ची योग्यता की तलाश में रहता था और इसके लिए वह तुरन्त लड़ाई के मैदान ही में इनाम दे देता था। अपने सैनिकों के लिए वह पिता—एक बहुत नौजवान पिता—के समान था, जिसे वे प्यार से 'नन्हां कारपोरल' कहते थे और 'तू' करके सम्बोधन करते थे। फिर इसमें ताज्जुब की क्या बात है कि बीस-पच्चीस साल का यह नवयुवक सेनानायक फ्रान्सीसी सैनिकों का प्राण प्यारा बन गया?

तमाम उत्तरी इटली को विजय करके और आस्ट्रिया को हराकर और वेनिस के पुराने गणराज्य का अन्त करके और वहां बड़ी भद्दी साम्राज्यशाही सुलह करके वह एक महान विजयी वीर बनकर पेरिस लौटा। फ्रान्स में उसका दबदबा कायम होना शुरू हो ही गया था। लेकिन उसने सोचा कि शायद अभी सत्ता हथियाने का अनुकूल समय नहीं आया है, इसलिए उसने एक फौज लेकर मिस्र जाने का ढोंग रचा। युवावस्था से ही पूर्व की यह पुकार उसके दिल में उठ रही थी और अब वह इसे पूरी कर सकता था। एक विशाल साम्राज्य के सपने उसके दिमाग में चक्कर लगाने लगे होंगे। भूमध्य-

सागर में अंग्रेजी जहाजी बेड़े से किसी तरह बाल-बाल बचकर वह सिकन्दरिया जा पहुंचा।

मिस्र उन दिनों तुर्की के उस्मानी साम्राज्य का हिस्सा था, लेकिन इस साम्राज्य का पतन हो चुका था और दरअसल मिस्र में ममलूक लोग राज्य कर रहे थे, जो सिर्फ़ नाम के लिए तुर्की के सुल्तान के मातहत थे। जल्द ही नेपोलियन ने 'पिरैमिडों की लड़ाई' जीती। वह नाटकीय मुद्राएं बहुत पसन्द करता था। एक पिरैमिड के नीचे अपनी फौज के सामने घोड़े पर खड़े होकर उसने कहा—"सिपाहियो, देखो, चालीस सदियां तुम्हारे ऊपर निगाह डाल रही हैं!"

नेपोलियन थल-युद्ध का उस्ताद था और वह जीतता ही गया, लेकिन समुद्र पर उसका बस न चला। वह जल-युद्ध लड़ना नहीं जानता था और शायद उसके पास योग्य समुद्री सेनानायक भी न थे। ठीक उन्हीं दिनों भूमध्यसागर में इंग्लैण्ड के जहाजी बेड़े का नायक एक असाधारण प्रतिभावाला व्यक्ति था। वह होरेशियो नेल्सन था। नेल्सन बड़ी हिम्मत करके एक दिन ठेठ बन्दरगाह में घुस आया और नील नदी की लड़ाई में उसने फ्रान्स के जहाजी बेड़े को नष्ट कर दिया। इस तरह परदेस में नेपोलियन फ्रान्स से बिछुड़ गया। वह तो किसी तरह चुपचाप बचकर निकल भागा और फ्रान्स पहुंच गया, लेकिन ऐसा करके उसने अपनी 'पूर्व की फौज' को कुरबान कर दिया।

विजयों और कुछ सैनिक कीर्ति के बावजूद पूर्वी देशों का यह जबरदस्त धावा असफल रहा, लेकिन दिलचस्पी की यह बात ध्यान में रखने लायक है कि नेपोलियन अपने साथ पंडितों, विद्वानों और आचार्यों की भीड़-की-भीड़, बहुत-सी किताबों और तरह-तरह के औजारों के साथ, मिस्र देश को ले गया था। इस मंडली में रोज चर्चाएं होती थीं, जिनमें नेपोलियन भी बराबरी की हैसियत से भाग लेता था। इन पंडितों ने वैज्ञानिक अन्वेषण का बहुत-सा अच्छा काम किया। यह भी दिलचस्प बात है कि स्वेज पर नहर काटने की एक तजवीज में नेपोलियन ने भी बहुत दिलचस्पी दिखलाई थी।

जब नेपोलियन मिस्र में था, उसने ईरान के शाह और दक्षिण भारत

के टीपू सुल्तान के साथ कुछ बातचीत चलाई थी लेकिन इनका फल कुछ न निकला, क्योंकि उसके पास समुद्री ताकत बिल्कुल न थी।

मिस्र से जब नेपोलियन लौटा तो फ्रान्स की हालत बहुत खराब हो रही थी। डायरेक्टरी बदनाम और अप्रिय हो चुकी थी। इसलिए सभीकी आंखें नेपोलियन की तरफ लगी हुई थीं। वह तो सत्ता ग्रहण करने के लिए तैयार ही बैठा था। नवम्बर, सन १७९९ ई० में, अपनी वापसी के एक महीने बाद, नेपोलियन ने अपने भाई ल्यूशन की सहायता से असेम्बली को जबरदस्ती भंग कर दिया और उस समय के जिस संविधान के मातहत डायरेक्टरी हुकूमत कर रही थी, उसका अन्त कर दिया। वह ऐसा इसीलिए कर सका कि लोग उसे चाहते थे और उसमें विश्वास रखते थे। अब एक नये संविधान का मसविदा बनाया गया, जिसमें तीन 'कौन्सल' रखे गये, लेकिन इन तीनों में प्रधान नेपोलियन था, जिसे पूरे अधिकार थे। वह 'प्रथम कौन्सल' कहलाया और दस वर्ष के लिए नियुक्त किया गया।

यह संविधान, जिसमें नेपोलियन को दस साल के लिए प्रथम कौन्सल बनाया गया था, जनता की राय के लिए पेश किया गया और तीस लाख से ज्यादा वोटरों ने उसे लगभग सर्वसम्मति से मान लिया। इस तरह फ्रान्स की जनता ने इस दुराशा में कि वह उन्हें स्वतंत्रता और सुख दिलायेगा, खुद ही सारी सत्ता नेपोलियन की भेंट कर दी।

नेपोलियन ने कई तरह से शासन-व्यवस्था में सादगी और कुशलता पैदा की। वह हर काम में दखल देता था और छोटी-छोटी बातों को याद रखने की उसमें आश्चर्य-जनक शक्ति थी। अपनी अद्‌भुत कार्यशक्ति और जानदारी से वह साथियों और मंत्रियों को थका डालता था। अकबर की तरह नेपोलियन की भी स्मरण-शक्ति असाधारण थी और उसका दिमाग पूरी तरह व्यवस्थित था। वह अपने बारे में कहता था—"जब मैं किसी बात को दिमाग से हटाना चाहता हूं तो उसकी दराज बन्द कर देता हूं और दूसरी दराज खोल देता हूं। इन दराजों में रखी हुई चीजें कभी मिलने नहीं पातीं और न वे मुझे परेशान करती हैं। मैं जब सोना चाहता हूं, तब दराज बन्द कर देता हूं और सो जाता हूं।" वास्तव में यह देखा गया था कि लड़ाई होती रहती थी और वह जमीन पर लेट जाता था और आधा घंटे के लगभग सो

लेता था, और उसके बाद उठकर फिर लम्बे समय के लिए एकाग्र होकर काम में लग जाता था।

वह दस वर्ष के लिए प्रथम कौन्सल बनाया गया था। अधिकार के जीने की दूसरी सीढ़ी तीन साल बाद सन १८०२ ई० में आई, जब उसने अपने-आपको जीवनभर के लिए कौन्सल बनवा लिया और उसके अधिकार बढ़ गये। गणतंत्र का अन्त हो चुका था और वह सब तरह से एकछत्र शासक बन गया था, शासक की उपाधि भले ही उसे न थी। और जब यह अनिवार्य हो गया तो उसने सन १८०४ ई० में जनता की राय लेकर अपने-आप को सम्राट घोषित कर दिया। फ्रान्स में वह ही सर्वेसर्वा था, लेकिन फिर भी इसमें और पुराने जमाने के स्वेच्छाचारी राजाओं में बहुत अन्तर था। वह परम्परा और दैवी अधिकार को अपनी सत्ता का आधार नहीं बना सकता था। उसे तो अपनी सत्ता अपनी कार्यकुशलता और जनता में अपनी लोकप्रियता के आधार पर रखनी पड़ी थी और वह भी खासकर किसानों में लोकप्रियता के आधार पर, जो हमेशा से उसके सबसे अधिक वफादार समर्थक रहे थे, क्योंकि वे जानते थे कि इसीने उनकी जमीनों को छिनने नहीं दिया था। लेकिन लगभग निरंतर चलनेवाले युद्ध के लिए अपने पुत्रों को देते-देते अन्त में किसान लोग भी तंग आ गये। जब यह सहारा छिन गया तो जो विशाल भवन नेपोलियन ने खड़ा किया था, वह गिरने लगा।

दस वर्ष तक वह सम्राट रहा और इन वर्षों में वह प्रभावोत्पादक सैनिक कार्रवाइयां करता हुआ और स्मरणीय लड़ाइयां जीतता हुआ यूरोप के सारे महाद्वीप में दौड़ता फिरा। सारा यूरोप उसके नाम से थर्राता था और उसका ऐसा दबदबा था, जैसा उसके पहले और बाद में आजतक किसीका नहीं हुआ। मारेंगो (यह लड़ाई सन१८०० ई० में हुई, जब उसने अपनी फौज के साथ स्वीजरलैंड की बर्फ से ढकी हुई सेंट बर्नार्ड की घाटी को पार किया) उल्म, आस्तरलित्ज, येना, ईलू, फ्रीडलैंड, वैग्राम वगैरह उसकी जीती हुई मशहूर लड़ाइयों के नाम हैं। आस्ट्रिया, प्रशिया, रूस वगैरह सब उसके सामने भर-भराकर गिर पड़े। स्पेन, इटली, निदरलैंड्स, राइन का कान्फ़डरेशन कहलानेवाला जर्मनी का बड़ा हिस्सा, पोलैंड, जो वारसा की डची कहलाता था, ये सब राज्य उसके मातहत हो गये। पुराना पवित्र रोमन साम्राज्य, जो

बहुत दिनों से नाम-मात्र के लिए रह गया था, अब बिल्कुल खत्म हो गया।

यूरोप की बड़ी शक्तियों में से सिर्फ इंग्लैण्ड ही आफत से बच गया। इंग्लैंड को उसी समुद्र ने बचाया, जो नेपालियन के लिए हमेशा एक रहस्य रहा, और समुद्र से सुरक्षित रहने के कारण इंग्लैण्ड उसका सबसे जबरदस्त और कट्टर दुश्मन बन गया। मैं बतला चुका हूं कि किस तरह नेपोलियन की जीवन-यात्रा के शुरू में ही नेल्सन ने नील नदी की लड़ाई में उसके जहाजी बेड़े को नष्ट कर दिया था। २१ अक्तूबर सन १८०५ ई० को स्पेन के दक्षिणी किनारे पर टैफलगर अन्तरीप के पास नेल्सन ने फ्रान्स और स्पेन के सम्मिलित जहाजी बेड़ों पर और भी जबरदस्त विजय प्राप्त की। नेल्सन तो विजय की घड़ी में मारा गया, लेकिन इस विजय ने, जिसे अंग्रेज लोग बड़े अभिमान से याद करते हैं और जिसका स्मारक लंदन के ट्रैफलगर स्क्वायर में नेल्सन-स्तम्भ के रूप में बना हुआ है, नेपोलियन के इंग्लैण्ड पर धावा बोलने के स्वप्न को नष्ट कर दिया।

नेपोलियन ने यूरोप महाद्वीप के सारे बन्दरगाहों को इंग्लैण्ड के लिए रोक देने की आज्ञा निकालकर इसका बदला लिया। उससे किसी तरह के भी यातायात सम्बन्ध रखने की मनाही कर दी गई और 'बनियों के राष्ट्र' इंग्लैंड को इस तरह काबू में लाने की सोची गई। उधर इंग्लैण्ड ने इन बन्दरगाहों की नाकाबन्दी कर दी और नेपोलियन के साम्राज्य तथा अमरीका आदि दूसरे देशों के बीच होनेवाले व्यापार को रोक दिया। यूरोप में लगातार साजिशें करके और नेपोलियन के शत्रुओं तथा उदासीन राज्यों में दिल खोलकर सोना बांटकर इंग्लैण्ड ने नेपोलियन से लड़ाई लड़ी। इस काम में उसे यूरोप के कई बड़े-बड़े दौलतमन्द घरानों से, खासकर राथ्सचाइल्ड-घराने से, बड़ी सहायता मिली।

इंग्लैंड ने नैपोलियन के विरुद्ध एक और भी तरीका काम में लिया, जो प्रचार का था। संग्राम का यह नया ही ढंग था, लेकिन तबसे यह बहुत प्रचलित हो गया है। फ्रान्स के, और खासकर नेपोलियन के विरुद्ध अखबारों में, आन्दोलन शुरू किया गया। तरह-तरह के लेख, पुस्तिकाएं, समाचार-पत्रिकाएं, नये सम्राट का मखौल उड़ानेवाले कार्टून और झूठी बातों से

भरे हुए नकली संस्मरण लंदन से प्रकाशित होते थे और चोरी-छिपे फ्रान्स में दाखिल कर दिये जाते थे।

नेपोलियन जहां-कहीं गया, वही वह अपन साथ फ्रान्स की राज्यक्रांति की कुछ बातें लेता गया और और जिन देशों को उसने जीता, वहां के लोग उसके आने से नाखश नहीं हुए। वे लोग अपने निकम्मे और अर्द्ध-सामन्ती शासकों से तंग आ गये थे, जो उनकी गरदन पर सवार थे। इससे नेपोलियन को बहुत सहायता मिली और जैसे-जैसे वह आगे बढ़ता गया, सामंतशाही उसके सामने टूटकर गिरने लगी। जर्मनी म तो खासतौर पर सामंतशाही का सफाया हो गया। स्पेन में उसने इनक्विजिशन का अन्त कर दिया। लेकिन जिस राष्ट्रीयता की भावना को उसने अनजान में उत्तेजित किया था, वही उसके विरुद्ध उठ खड़ी हुई और अन्त में इसीने उसे परास्त कर दिया। वह पुराने बादशाहों और सम्राटों को नीचा दिखा सकता था, लेकिन अपने विरुद्ध भड़के हुए सारे राष्ट्र को नहीं। इस तरह स्पेन के लोग उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए और वर्षों तक उसकी शक्ति और उसके साधनों को निचोड़ते रहे। जर्मन लोग भी बैरन वान स्टीन नाम के एक महान देशभक्त के नेतृत्व में संगठित हो गये। यह नेपोलियन का घोर शत्रु हो गया। जर्मनी में स्वाधीनता का संग्राम हुआ। इस तरह राष्ट्रीयता, जिसे खुद नेपोलियन ने ही जगाया था, समुद्री शक्ति से मेल करके उसके पतन का कारण बन गई। लेकिन किसी भी सूरत में यह मुश्किल था कि सारा यूरोप एक तानाशाह को सहन कर लेता। या शायद खुद नेपोलियन की ही बात सही थी, जो उसने बाद में कही थी—"मेरे पतन का दोष मेरे सिवा किसीपर नहीं है। मैं खुद ही अपना सबसे बड़ा दुश्मन रहा हूं और अपने विनाशकारी दुर्भाग्य का कारण हुआ हूं।"

इस अद्भुत प्रतिभावाले व्यक्ति में कमजोरियां भी बहुत असाधारण थीं। उसमें हमेशा कुछ नई नवाबी का रंग रहा और उसके दिल में यह अजीब लालसा रही कि पुराने और निकम्मे बादशाह और सम्राट उससे बराबरी का बर्ताव करें। उसने अपने भाई-बहनों को बड़े भद्दे तौर पर बढ़ाया, हालांकि वे बिल्कुल नालायक थे। ल्यूशन ही एक लायक भाई था, जिसने सन १७९९ में संकट की घड़ी में उसकी सहायता की थी, लेकिन जो बाद में खटपट हो जाने के कारण इटली में आकर बस गया। दूसरे भाइयों को, जो घमंडी

और बेवकूफ थे, नेपोलियन ने कहीं का राजा और कहीं का शासक बना दिया। जब उसपर मुसीबत पड़ी, तो इनमें से करीब-करीब सबने उसे धोखा दिया और उससे किनाराकशी की। नेपोलियन को अपना राजवंश स्थापित करने की भी बड़ी उत्कण्ठा थी। अपने जीवन के आरम्भ में, इटली पर चढ़ाई करने और प्रसिद्ध होने से भी पहले, उसने जोसेफाइन दि बोहार्नाइ नामक एक सुन्दर, लेकिन चंचल औरत से विवाह कर लिया था। जब उससे कोई संतान न हुई तो नेपोलियन को बड़ी भारी निराशा हुई, क्योंकि उसके दिल में राजवंश चलाने की लालसा थी। बस उसने जोसेफाइन को तलाक देकर दूसरी स्त्री से विवाह करने का इरादा कर लिया, हालांकि वह जोसेफाइन से प्रेम करता था। उसकी इच्छा रूस की एक ग्रांड डचेस से विवाह करने की थी, लेकिन ज़ार ने अनुमति नहीं दी। नेपोलियन भले ही लगभग सारे यूरोप का स्वामी हो, लेकिन रूस के शाही खान्दान में विवाह की आकांक्षा करना ज़ार की राय में उसके लिए कुछ गुस्ताखी की बात थी! तब नेपोलियन ने किसी तरह आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग सम्राट को मजबूर किया कि वह अपनी पुत्री मेरी लुइमी का विवाह उसके साथ करदे। उसकी कोख से एक लड़का पैदा हुआ, लेकिन वह मूढ़ और मूर्ख थी और नेपोलियन को बिल्कुल नहीं चाहती थी। नेपोलियन के लिए वह बहुत बुरी पत्नी साबित हुई। जब नेपोलियन पर आफत आई तो वह उसे छोड़कर भाग गई और उसे बिल्कुल ही भूल गई।

बड़े आश्चर्य की बात है कि यह व्यक्ति, जो कई बातों में अपनी पीढ़ी के लोगों से बहुत ऊंचा था, बादशाहत के पुराने विचारों से पैदा होनेवाली थोथी तड़क-भड़क का शिकार हो गया। फिर भी बहुत बार वह क्रांति की-सी बातें करता था और इन निकम्मे बादशाहों का मखौल उड़ाया करता था। उसने क्रान्ति की और नई व्यवस्था की जान-बूझकर उपेक्षा कर दी थी। पुरानी व्यवस्था न तो उसके अनुकूल थी और न उसे अपनाने के लिए तैयार थी। इसलिए इन दोनों के बीच में उसका पतन हो गया।

धीरे-धीरे सैनिक कीर्ति के इस जीवन-संग्राम का दुखद अन्त होता है, जो अनिवार्य था। खुद उसके ही कुछ मंत्री लोग दगाबाज हो जाते हैं और उसके विरुद्ध साजिशें करते हैं; तेलीरेंद रूस के ज़ार से मिलकर साज़िश करता

है और फोशे इंग्लैण्ड से मिलकर। नेपोलियन उनकी दगाबाजी पकड़ लेता है, लेकिन फिर भी, ताज्जुब है, उनकी सिर्फ लानत-मलामत करके उन्हें मंत्रियों के पद पर रहने देता है। बर्नादोत नामक उसका एक सेनानायक उसके विरुद्ध हो जाता है और उसका कट्टर दुश्मन बन जाता है। माता और भाई ल्यूशन के सिवाय उसके कुटुम्ब के सारे लोग बदमाशियां करते चले जाते हैं और अवसर उसकी जड़ भी काटते रहते हैं। फ्रान्स में भी असंतोष बढ़ता चला जाता है और उसकी तानाशाही बड़ी कठोर और निर्मम हो जाती है, और कितने ही लोग बिना मुकदमे के जेल में डाल दिये जाते हैं। उसका सितारा निश्चय ही नीचे गिरता हुआ मालूम होता है और तालाब को सूखता देखकर बहुत-सी मछलियां उसे छोड़ जाती हैं। आयु अधिक न होने पर भी उसकी शारीरिक और मानसिक शक्तियां कमजोर होती जाती हैं। ठेठ लड़ाई के बीच में कभी-कभी उसके पेट में वायु-गोले का दर्द उठ खड़ा होता है। सत्ता भी उसे भ्रष्ट कर देती है। पुरानी चतुराई तो उसमें मौजूद है, लेकिन अब उसकी चाल भारी पड़ गई है। वह अक्सर आगा-पीछा सोचने में रह जाता है और वहम करने लगता है। उसकी फौजें भी पहले से ज्यादा भारी-भरकम हो गई हैं।

सन १८१२ ई० में एक जबरदस्त फौज के साथ वह रूस पर चढ़ाई करने के लिए रवाना होता है। वह रूसवालों को हरा देता है और बिना अधिक विरोध के आगे बढ़ता चला जाता है। रूस की फौजें लगातार पीछे हटती चली जाती हैं और लड़ने के लिए सामने नहीं आतीं। नेपोलियन की 'ग्राण्ड आर्मी' उनकी असफल तलाश करती-करती अन्त में मास्को पहुंच जाती है। ज़ार तो घुटने टेकने के लिए तैयार हो जाता है, लेकिन दो व्यक्ति, एक तो फ्रान्सीसी बर्नादोत, नेपोलियन का पुराना सहयोगी और सेनानायक, तथा दूसरा जर्मन राष्ट्रवादियों का नेता बैरन वान स्टीन, जिसे नेपोलियन ने बागी घोषित कर दिया था, ज़ार को ऐसा करने से रोक देते हैं। रूसी लोग दुश्मन को धुएं से भगा देने के लिए अपने प्यारे मास्को नगर में ही आग लगा देते हैं।

शीतकाल का आरम्भ है। नेपोलियन जलते हुए मास्को को छोड़कर फ्रान्स लौटने का निश्चय करता है। 'ग्राण्ड आर्मी' बर्फ़ में होकर थकी-मांदी

धीरे-धीरे वापस सिमटती है। उधर रूस के कज्जाक लोग, जो बराबर उसके दोनों ओर तथा पीछे-पीछे लगे हुए है, उसपर हमले करते हैं, छापे मारते हैं और पिछड़ जानेवालों को मौत के घाट उतार देते हैं। कड़ी सरदी और कज्जाक लोग, दोनों मिलकर हजारों जानें ले लेते हैं और 'ग्राण्ड आर्मी' भूतों का-सा जलूस बन जाती है, जिसमें सब लोग पैदल-पैदल, फटेहाल, पांवों में छाले पड़े हुए और ठंड से गले हुए, थकावट से लड़खड़ाते हुए चलते हैं। अपने गोलन्दाजों के साथ नेपोलियन को भी पैदल चलना पड़ता है। यह यात्रा बड़ी भयंकर और हृदय-विदारक साबित होती है और वह जबरदस्त फौज कम होती-होती अन्त में करीब-करीब लुप्त हो जाती है। सिर्फ मुट्ठी भर लोग वापस लौट पाते हैं।

रूस की यह चढ़ाई जबरदस्त चोट साबित हुई। इसने फ्रान्स की जन-शक्ति को खत्म कर दिया और उससे भी ज्यादा यह हुआ कि इससे नेपोलियन पर बुढ़ापा-सा छा गया, वह चिन्ताग्रस्त हो गया और लड़ाई-झगड़ों से ऊब गया। लेकिन फिर भी उसे चैन से नहीं बैठने दिया गया। शत्रुओं ने उसे घेर लिया और हालांकि अभीतक वह विजयें प्राप्त करनेवाला चतुर सेनानायक था, लेकिन फंदा अब धीरे-धीरे कसने लगा। तेलीरेंद की साजिशें बढ़ने लगीं और नेपोलियन के कुछ विश्वासपात्र सेनाधीश तक भी उसके विरुद्ध हो गये। अन्त में उकताकर और तंग आकर नेपोलियन ने अप्रैल, सन १८१४ ई० में राजगद्दी छोड़ दी।

नेपोलियन के रास्ते से हटते ही यूरोप के शक्तिशाली राष्ट्रों की एक बड़ी कांग्रेस यूरोप का नया नकशा तय करने के लिए वियना में की गई। नेपोलियन को भूमध्य सागर के एक छोटे-से टापू ऐल्बा में भेज दिया गया। बोर्बन राज्यवंश का एक और लुई, जो गिलोतीन पर मारे गये लुई का भाई था, जहां कहीं छिपा पड़ा था, वहीं से निकालकर लाया गया और अठारहवें लुई के नाम से फ्रान्स की राजगद्दी पर बैठाया गया। इस तरह बोर्बन लोग फिर वापस आ गये और उनके साथ पुरानी जुल्मशाही भी वापस आ गई। बैस्तील के पतन से लगाकर अबतक पच्चीस वर्ष के वीरतापूर्ण कारनामों का बस यह अंत हुआ! वियना में बादशाह लोग और उनके मंत्री लोग आपस में तर्क-वितर्क कर रहे थे और लड़-झगड़ रहे थे और जब इन

बातों से वे फ़ुरसत पाते तो मौज उड़ाते थे। उन्होंने अब आराम की सांस ली। एक बड़ा भारी आतंक दूर हो गया था और वे लोग खुलकर सांस ले सकते थे। नेपोलियन के साथ विश्वासघात करनेवाला देशद्रोही तेलीरेंद बादशाहों और मंत्रियों की इस भीड़ में बड़ा लोकप्रिय था और कांग्रेस में उसने बड़ा महत्वपूर्ण भाग लिया।

एक वर्ष से कम समय में ही नेपोलियन तो ऐल्बा से तंग आ गया और फ्रान्स बोर्बन लोगों से। वह किसी तरह एक छोटी-सी नाव में वहां से भाग निकला और २६ फरवरी, सन १८१५ ई० को शायद अकेला ही रिवियरा पर केन्स नामक जगह में किनारे पर आ लगा। किसानों ने बड़े उत्साह से उसका स्वागत किया। उसके विरुद्ध भेजी गई फौजों ने जब अपने पुराने सेनापति 'नन्हें कार्पोरल' को देखा तो वे 'सम्राट जिन्दाबाद' का घोष करके उससे मिल गईं। बस, वह बड़े विजयोल्लास के साथ पेरिस पहुंचा और बोर्बन बादशाह वहां से तुरन्त भाग गया। लेकिन यूरोप की बाकी सब राजधानियों में आतंक और घबड़ाहट फैल गई। वियना में, जहां कांग्रेस अभी तक लस्टम-पस्टम चल रही थी, नाच-गान और दावतें एकदम खत्म हो गईं। इस सर्व-ग्राही भय के कारण सारे बादशाह और मंत्री अपने आपसी झगड़े-टंटों को भूल गये और उनका सारा ध्यान नेपोलियन को दुबारा फिर कुचल डालने के एक ही काम की तरफ लग गया। बस, सारा यूरोप हथियार लेकर उसके विरुद्ध आ डटा। लेकिन फ्रान्स तो लड़ाइयों से उकता गया था। और नेपोलियन, जो अभी छियालीस वर्ष का ही था, और जिसे उसकी स्त्री मेरी लुईसी तक छोड़ भागी थी, अब एक थका हुआ वृद्ध था। कुछ लड़ाइयों म उसकी जीत हुई, लेकिन अन्त में फ्रान्स में उतरने के ठीक सौ दिन बाद, वेलिंगटन और ब्लूशर के मातहत अंग्रेजी और प्रशियाई फौजों ने ब्रसेल्स नगर के पास वाटरलू में उसे हरा दिया। इसलिए उसकी वापसी का यह समय 'सौ दिन' कहलाता है। वाटरलू की लड़ाई में दोनों तरफ करारा मुकाबला था और यह बतलाना कठिन था कि जीत किसकी होगी। नेपोलियन की किस्मत बहुत बुरी निकली। उसके लिए इस लड़ाई में विजय प्राप्त करना बहुत सम्भव था, लेकिन अगर वह जीत भी जाता तो कुछ दिन बाद उसे यूरोप की सम्मिलित शक्ति के आगे घुटने टेकने पड़ते। अब चूंकि वह हार चुका था,

इसलिए उसके बहुत-से समर्थकों ने उसके विरुद्ध होकर अपनी जानें बचानी चाहीं। अब लड़ना व्यर्थ था, इसलिए उसने दुबारा राजगद्दी छोड़ दी और फ्रान्स के एक बन्दरगाह में पड़े हुए एक अंग्रेजी जहाज पर जाकर उसके कप्तान को यह कहकर आत्म-समर्पण कर दिया कि वह शान्ति के साथ इंग्लैण्ड में बसना चाहता है।

लेकिन अगर वह इंग्लैण्ड या यूरोप से उदार और शिष्ट बर्ताव की आशा रखता था, तो यह उसकी भूल थी। ये उससे बहुत ज्यादा डरे हुए थे और ऐल्बा से उसके निकल भागने से उनकी धारणा बन गई थी कि उसे बहुत दूर और कड़े पहरे में रखा जाना जरूरी है। इसलिए, उसके विरोध करने पर भी, उसे बन्दी घोषित कर दिया गया और कुछ साथियों के साथ दक्षिण अटलांटिक महासागर के सुदूर टापू सेंट हेलेना में भेज दिया गया। वह 'यूरोप का बन्दी' माना गया और कई राष्ट्रों ने सेंट हेलेना में उसपर निगरानी रखने के लिए कमिश्नर भेजे। लेकिन वास्तव में उसपर निगरानी रखने की पूरी जिम्मेदारी इंग्लैण्ड पर थी। सारी दुनिया से अलग उस सुदूर टापू में भी उसपर पहरा देने के लिए एक अच्छी-खासी फौज रखी गई। उस समय वहां के रूसी कमिश्नर काउण्ट बालमैन ने सेंट हेलेना की इस इस एकान्त चट्टान के बारे में लिखा है कि यह "संसार की वह जगह है, जो सबसे अधिक दुखभरी, सबसे ज्यादा अलग, सबसे ज्यादा अगम्य, सबसे ज्यादा सुरक्षित, हमले के लिए सबसे ज्यादा दुस्तर और बातचीत के लिए सबसे ज्यादा अकेली है।" इस टापू का अंग्रेज गवर्नर एक बिल्कुल गंवार और जंगली व्यक्ति था और वह नेपोलियन के साथ बड़ा निकृष्ट बर्ताव करता था। उसे टापू के सबसे अधिक अस्वास्थ्यकर भाग के एक बुरी तरह के मकान में रखा गया और उसपर तथा उसके साथियों पर तरह-तरह की अपमानजनक पाबन्दियां लगा दी गईं। कभी-कभी तो उसे खाने के लिए अच्छा खाना भी पेटभर नहीं मिलता था। उसे यूरोप में रहनेवाले मित्रों से पत्र-व्यवहार नहीं करने दिया जाता था, यहांतक कि अपने छोटे-से पुत्र से भी नहीं, जिसे अपनी सत्ता के दिनों में उसने रोम के बादशाह की उपाधि दी थी। पत्र-व्यवहार तो क्या, उसके पुत्र की खबर तक उसके पास नहीं पहुंचने दी जाती थी।

यह आश्चर्य की बात है कि नेपोलियन के साथ कैसा कमीना बर्ताव किया गया। लेकिन सेंट हेलेना का गवर्नर तो सिर्फ अपनी सरकार का औजार था, और मालूम होता है कि अंग्रेज सरकार की जान-बूझकर यह नीति थी कि इस बन्दी के साथ बुरा बर्ताव किया जाय और उसे नीचा दिखाया जाय। यूरोप के दूसरे राष्ट्र इससे सहमत थे। नेपोलियन की माता वृद्धा होने पर भी सेण्ट हेलेना में अपने पुत्र के साथ रहना चाहती थी, लेकिन इन बड़ी शक्तियों ने कहा कि ऐसा नहीं हो सकता। नेपोलियन के साथ जो कमीना बर्ताव किया गया, वह उस आतंक का एक माप है, जो अभी-तक यूरोप में उसके नाम से फैला हुआ था, हालांकि उसके पर काट दिये गये थे और वह एक बहुत दूर के टापू में अशक्त होकर पड़ा था।

साढ़े पांच वर्ष तक उसने सेण्ट हेलेना में यह जिन्दा मौत सहन की। छोटी-सी चट्टान सरीखे उस टापू में पिंजरा-बन्द होकर और रोज कमीनी जिल्लतें उठाकर, इस असीम शक्तिवाले और महत्वाकांक्षी व्यक्ति ने जो कष्ट उठाये होंगे, उनकी कल्पना करना कठिन नहीं है।

नेपोलियन मई, सन १८२१ ई० में मरा। मरने के बाद भी गवर्नर की घृणा-वृत्ति उसके पीछे पड़ी रही और उसके लिए एक बहुत बुरी कब्र बनवाई गई। धीरे-धीरे नेपोलियन के साथ किये गए दुर्व्यवहार और अत्याचार की खबर जैसे ही यूरोप पहुंची (उन दिनों खबर बहुत देर में पहुंचा करती थीं) वैसे ही उसके विरोध में इंग्लैण्ड-सहित बहुत-से देशों में शोर मच गया। इंग्लैण्ड का विदेश-मंत्री केसल रे, जो इस दुर्व्यवहार के लिए सबसे ज्यादा जिम्मेदार था, इस कारण तथा अपनी कठोर घरू नीति के कारण बहुत बदनाम हो गया। उसे इसका इतना पछतावा हुआ कि उसने आत्म-हत्या कर ली।

महान और असाधारण व्यक्तियों को आंकना कठिन होता है; और इसमें कोई सन्देह नहीं है कि नेपोलियन अपनी तरह का एक महान और असाधारण व्यक्ति था। उसमें एक प्राकृतिक बल की तरह का एक तात्विक बल था। विचारों और कल्पनाओं से भरा हुआ होने पर भी वह आदर्शों और निस्स्वार्थ भावनाओं के मूल्यों की कदर नहीं करता था। वह लोगों को कीर्ति और धन देकर वश में करने और प्रभावित करने की कोशिश करता था।

इसलिए जब उसका कीर्त्ति और सत्ता का भंडार खाली हो गया तो जिन लोगों को उसने बढ़ाया था, उन्हींको अपना बनाये रखने के लिए उसके पास कोई आदर्श प्रेरणाएं नहीं रही। इसलिए बहुत-से उसे कमीनेपन के साथ दगा दे गये। धर्म को तो वह गरीबों और दुखियों को अपने दुर्भाग्य से संतुष्ट रखने का केवल एक साधन समझता था। वह निपट अधार्मिक था, लेकिन फिर भी धर्म को प्रोत्साहन देता था, क्योंकि वह इसे उस समय की सामाजिक व्यवस्था का पुश्तीबान समझता था। वह कहता था—"धर्म ने स्वर्ग के साथ बराबरी की भावना का विचार जोड़ रखा है, जो गरीबों को धनवानों की हत्या करने से रोकता है। धर्म का वही उपयोग है, जो चेचक के टीके का। वह हमारी चमत्कारों की रुचि को संतुष्ट कर देता है...। संपत्ति की असमानता के बिना समाज ठहर नहीं सकता और सम्पत्ति की असमानता बिना धर्म के नहीं ठहर सकती। जो भूख से मर रहा है, लेकिन जिसका पड़ोसी स्वादिष्ट भोजनों की दावत उड़ा रहा है, उसे सान्त्वना देनेवाली एक बात तो है पारलौकिक सत्ता में आस्था और दूसरी यह धारणा कि परलोक में वस्तुओं का बंटवारा दूसरे ही ढंग से होगा।"

उसमें महान व्यक्तियों की-सी आकर्षण-शक्ति थी और उसने बहुत-से लोगों की स्नेहपूर्ण मित्रता प्राप्त कर ली थी। अकबर की तरह उसकी निगाह में आकर्षण था। एक बार उसने कहा था—"मैंने तलवार बहुत कम खींची है। मैंने लड़ाइयां अपनी आंखों से जीती हैं, हथियारों से नहीं।" जिस आदमी ने सारे यूरोप को युद्ध में फंसा दिया, उसके मुंह से ये शब्द विचित्र मालूम होते हैं! बाद में, जब वह निर्वासित था, उसने कहा था कि बल-प्रयोग कोई इलाज नहीं है और मनुष्य की आत्मा तलवार से भी जोरदार है। उसने कहा था—"तुम जानते हो, मुझे सबसे ज्यादा अचंभा किस बात पर होता है? इस बात पर कि बल-प्रयोग किसी चीज का संगठन करने की शक्ति नहीं रखता। दुनिया में सिर्फ दो ही ताकतें हैं—एक तो आत्मा और दूसरी तलवार। अन्त में जाकर आत्मा सदा तलवार पर विजय प्राप्त करेगी।" लेकिन अन्त में जाकर विजय प्राप्त करना उसके लिए न था। वह तो जल्दी में था, और अपनी जीवन-यात्रा के प्रारंभ में ही उसने तलवार का मार्ग चुन लिया था, तलवार से ही उसने विजय पाई और तलवार ही उसके पतन का कारण

हुई। फिर उसका कहना था—"युद्ध अब समय की चीज नहीं है। एक दिन ऐसा आयेगा, जब बिना तोपों और संगीनों के विजयें प्राप्त हो जाया करेंगी।" परिस्थितियों ने उसे दबा दिया था—उसकी छलांग भरनेवाली महत्वाकांक्षा, युद्ध जीतने में आसानी और यूरोप के शासकों की इस कल के छोकरे के प्रति घृणा तथा भय की भावना, इन सबने उसे शान्ति के साथ जमने न दिया। रणभूमि में वह बड़ी बेपरवाही के साथ लोगों की जानें झोंक देता था, लेकिन फिर भी यह कहा जाता है कि लोगों की तकलीफों को देखकर उसका दिल पसीज जाता था।

व्यक्तिगत जीवन में वह बहुत सादा-मिजाज था और काम के सिवाय कभी किसी बात में अति नहीं करता था। उसकी राय में "कोई मनुष्य चाहे जितना कम खाये, वह हमेशा जरूरत से ज्यादा खाता है। अधिक भोजन करने से आदमी बीमार पड़ सकता है, कम खाने से कभी नहीं।" यही सादा जीवन था, जिसके कारण उसका स्वास्थ्य इतना अच्छा था और उसमें असीम कार्य-शक्ति थी। वह जब चाहता और जितना कम चाहता, सो सकता था। सुबह से लगातार तीसरे पहर तक घोड़े पर सौ मील का सफर कर लेना उसके लिए कोई असाधारण बात न थी।

जैसे-जैसे उसकी महत्वाकांक्षा यूरोप के महाद्वीप को पार करती हुई आगे बढ़ती गई, वैसे-वैसे वह यह सोचने लगा कि यूरोप एक राज्य है, एक इकाई है, जहां एक कानून और एक ही सरकार होनी चाहिए। बाद में सेण्ट हेलेना में निर्वासित किये जाने पर जब उसका दिमाग ठिकाने आया तो यह विचार फिर उसके हृदय में अधिक विशाल रूप में पैदा हुआ—"कभी-न-कभी घटना-चक्र के बल से (यूरोप के राष्ट्रों का) यह मेल होगा। पहला धक्का लग चुका है और मुझे तो लगता है कि मेरी प्रणाली का अन्त होने के बाद यूरोप में संतुलन स्थापित करने का अगर कोई मार्ग है तो वह एक राष्ट्र-संघ के द्वारा है।" यूरोप अब राष्ट्र-संघ के बारे में प्रयोग कर रहा है।

लेकिन ये सब विचार उसके दिमाग में तब आये जब वह निर्वासन में था और जब उसकी अकल ठिकाने आ गई थी। या शायद उसने आगे के लोगों को अपने पक्ष में करने के लिए ऐसा लिखा हो। अपनी महानता के

दिनों में वह इतना अधिक क्रियाशील व्यक्ति था कि वह दार्शनिक नहीं बन सकता था। वह तो सत्ता की वेदी पर उपासना करता था; उसका सच्चा और अकेला प्रेम सत्ता मे था और वह उससे गंवारू तौर पर नहीं, बल्कि एक कलाकार की तरह प्रेम करता था। लेकिन अतिशय सत्ता की लालसा खतरनाक होती है और जो व्यक्ति या राष्ट्र इसके पीछे पड़ते हैं, उनका कभी-न-कभी पतन और नाश हो ही जाता है। बस नेपोलियन का भी अन्त हो गया, और यह अच्छा ही हुआ।

इधर बोर्बन लोग फ्रान्स में राज्य कर रहे थे, लेकिन यह कहा जाता है कि बोर्बन लोगों ने न तो कुछ नसीहत ली और न वे पुरानी बातों को भूले। नेपोलियन के मरने के नौ साल बाद फ्रान्स उनसे तंग आ गया और उसने उन्हें उखाड़ फेंका। एक दूसरी राजसत्ता स्थापित हुई और नेपोलियन की स्मृति के प्रति सद्भावना प्रकट करने के लिए उसकी मूर्ति, जो वैन्दोम स्तम्भ के ऊपर से हटा दी गई थी, फिर वहीं रख दी गई। नेपोलियन की दुखिया माता ने, जो बुढ़ापे में अंधी हो गई थी, कहा—"सम्राट एक बार फिर पेरिस में आ गया है।"

: २८ :

कुछ और हिन्दू सुधारक

भारत पर पश्चिमी विचारों की टक्कर का कुछ असर हिन्दूधर्म पर भी पड़ा। जन-साधारण पर तो कोई प्रभाव नहीं हुआ। सरकार की नीति ने तो जानकर कट्टरपंथियों को ही सहायता पहुंचाई। लेकिन सरकारी मुलाजिमों और पेशेवर लोगों का जो नया मध्यम वर्ग बन रहा था, उनपर असर पड़ा। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही बंगाल में हिन्दूधर्म को पश्चिमी ढंग पर सुधारने का कुछ प्रयत्न किया गया। इस नये प्रयत्न पर निश्चित रूप से ईसाईयत और पश्चिमी विचारों का असर था। इस प्रयत्न के करनेवाले थे एक महान पुरुष और महान विद्वान राजा राममोहन राय। उन्हें संस्कृत, अरबी और कई अन्य भाषाओं का अच्छा ज्ञान था और उन्होंने विविध धर्मों का गंभीर अध्ययन किया था। वह पूजा-पाठ

आदि धार्मिक कर्म-कांड के विरुद्ध थे और सामाजिक सुधार और स्त्री-शिक्षा के प्रतिपादक थे। उन्होंने जो संगठन स्थापित किया, वह ब्रह्म-समाज कहलाया। जहांतक संख्या का संबंध है, यह एक छोटी-सी संस्था थी, अब भी वैसी ही है और बंगाल के अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित रही है। लेकिन बंगाल के जीवन पर इसका जबरदस्त असर पड़ा है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर का परिवार इसका अनुयायी बन गया और कविवर रवीन्द्रनाथ के पिता महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर बहुत वर्षों तक इसके आधार और स्तम्भ रहे। इसके एक और प्रमुख सदस्य थे केशवचन्द्र सेन।

इस सदी के पिछले हिस्से में एक और धार्मिक सुधार-आन्दोलन चला। स्वामी दयानन्द सरस्वती इसके प्रवर्त्तक थे। उन्होंने आर्यसमाज नाम की एक संस्था स्थापित की। इसने भी हिन्दूधर्म में पीछे से पैदा हुई अनेक रूढ़ियों का खण्डन किया और जात-पांत के साथ युद्ध छेड़ा। इसकी पुकार थी—"वेदों की शरण में आओ।" हालांकि यह मुस्लिम और ईसाई विचारों से प्रभावित एक सुधार-आन्दोलन था, लेकिन तत्वतः यह एक उग्र आध्यात्मिक आक्रमण का आन्दोलन था। इसका विचित्र परिणाम यह हुआ कि आर्यसमाज, जो शायद हिन्दुओं के अनेक सम्प्रदायों में सबसे ज्यादा इस्लाम के नजदीक पहुंचता था, इस्लाम का प्रतिद्वंद्वी और विरोधी बन गया। यह रक्षात्मक तथा निश्चेष्ट हिन्दूधर्म को एक उग्र प्रचारक धर्म में बदल देने की कोशिश थी। इसका उद्देश्य हिन्दूधर्म का पुनरुद्धार करना था। राष्ट्रीयता का रंग दे देने से इस आन्दोलन को कुछ बल मिल गया। वास्तव में इस आन्दोलन के रूप में हिन्दू राष्ट्रीयता अपना सिर ऊंचा कर रही थी और चूंकि यह हिन्दू राष्ट्रीयता थी, अतः इसके लिए भारतीय राष्ट्रीयता बन जाना कठिन हो गया।

ब्रह्म-समाज की अपेक्षा आर्यसमाज का कहीं अधिक व्यापक प्रचार था, खासकर पंजाब में। लेकिन यह ज्यादातर मध्यम वर्ग के लोगों तक ही सीमित था। इसने शिक्षा-प्रचार का बहुत बड़ा काम किया है और लड़के और लड़कियों दोनों ही के लिए स्कूल और कालेज खोले हैं।

इस सदी के एक और असाधारण धार्मिक महापुरुष रामकृष्ण परमहंस हुए। लेकिन वह उन महापुरुषों से बहुत भिन्न थे, जिनका मैंने जिक्र किया

है। उन सबसे वह जुदा थे। उन्होंने सुधार के लिए किसी उग्र समाज की स्थापना नहीं की। उन्होंने सेवा पर जोर दिया और 'रामकृष्ण सेवाश्रम' देश के अनेक भागों में दुर्बलों की तथा दरिद्र-नारायण की सेवा की यह परम्परा आज भी चला रहे हैं। रामकृष्ण के एक प्रसिद्ध शिष्य स्वामी विवेकानन्द हुए हैं, जिन्होंने अत्यन्त धाराप्रवाही और जोशीले ढंग से राष्ट्रीयता के मन्त्र का प्रचार किया। यह राष्ट्रीयता किसी प्रकार भी मुस्लिम-विरोधी या और किसीकी विरोधी नहीं थी, न आर्यसमाज की संकुचित राष्ट्रीयता की तरह की थी। फिर भी विवेकानन्द की राष्ट्रीयता का स्वरूप हिन्दू राष्ट्रीयता ही था और इसका आधार हिन्दूधर्म और हिन्दू संस्कृति ही थी।

इस तरह यह एक दिलचस्प बात मालूम होती है कि उन्नीसवीं सदी में भारत में राष्ट्रीयता की आरम्भिक लहरों का रूप धार्मिक और हिन्दू था। इस हिन्दू राष्ट्रवाद में मुसलमान स्वभावतः ही कोई भाग नहीं ले सकते थे। वे अलग ही रहे। अंग्रेजी शिक्षा से अपनेको दूर रखने के कारण नये विचारों का उनपर कम असर हुआ और उनमें मानसिक चेतना बहुत ही कम थी। कई दशाब्दियों बाद उन्होंने अपने तंग दायरे से बाहर निकलना शुरू किया और तब हिन्दुओं की तरह उनकी राष्ट्रीयता ने इस्लामी रूप धारण कर लिया। वे इस्लामी परम्पराओं और संस्कृति की ओर मुड़कर देखने लगे और उन्हें यह डर हो गया कि हिन्दुओं के बहुमत के कारण कहीं वे इन्हें खो न बैठें। लेकिन मुसलमानों का यह आन्दोलन बहुत दिन बाद, सदी के अन्त में, प्रकट हुआ।

हिन्दूधर्म और इस्लाम के इन सुधारक और प्रगतिशील आन्दोलनों के बारे में एक और मजेदार बात यह है कि इन्होंने अपने पुराने धार्मिक विचारों और दस्तूरों को, जहांतक हो सका, पश्चिम से प्राप्त नवीन वैज्ञानिक और राजनैतिक विचारों के अनुकूल बनाने की कोशिश की। न तो वे निर्भयता के साथ इन पुराने विचारों और दस्तूरों के संबंध में शंका करने को और उन्हें कसौटी पर कसने को तैयार थे, न वे विज्ञान और राजनैतिक तथा सामाजिक विचारों की अपने चारों ओर की नई दुनिया की उपेक्षा कर सकते थे। इसलिए उन्होंने यह साबित करने की कोशिश करके दोनों का मेल मिलाने का प्रयत्न किया कि तमाम आधुनिक विचारों और

उन्नति का स्रोत धार्मिक ग्रन्थों में मिल सकता है। यह प्रयत्न लाजमी तौर पर असफल होना ही था। इसने लोगों को सही विचार करने से रोक दिया। साहस के साथ विचार करने और दुनिया को बदलनेवाले नये कारणों तथा नये विचारों को समझने के बजाय वे प्राचीन प्रथाओं और परम्पराओं के बोझ से मतिहीन हो गये। आगे देखने और आगे बढ़ने के बजाय वे हर वक्त लुक-छिपकर पीछे की तरफ ताकते थे। अगर कोई अपनी गर्दन हमेशा मोड़े रहे और पीछे की तरफ देखता रहे तो आसानी से आगे नहीं बढ़ सकता।

: २९ :

डा० सनयात सेन

रूस-जापान-युद्ध के समय चीन चुपचाप खड़ा देखता रहा, हालांकि लड़ाई चीन के ही प्रदेश मंचूरिया में हो रही थी। जापान की विजय ने चीन के सुधारकों के हाथ मजबूत कर दिये। शिक्षा को नया रूप दिया गया। आधुनिक विज्ञानों के अध्ययन के लिए बहुत-से विद्यार्थी यूरोप, अमरीका और जापान भेजे गये। अफसरों की नियुक्ति का पुराना तरीका उठा दिया गया। यह अजीब तरीका, जो चीन का एक विशेष नमूना था, दो हजार वर्ष से चला आ रहा था। इसकी उपयोगिता तो बहुत पहले ही खत्म हो चुकी थी और यह चीन की प्रगति को रोके हुए था। इसलिए उसका उठ जाना अच्छा ही हुआ।

घटना-चक्र ने चीन के बहुत-से लोगों में नवजीवन भर दिया और उन्हें अन्यत्र जाकर लगनपूर्वक ज्ञान-ज्योति की तलाश करने के लिए मजबूर किया। जनता इससे भी तेजी के साथ आगे बढ़ रही थी। सन १८९४ ई० में डा० सनयात सेन ने 'चीन-पुनरुद्धार समिति' स्थापित कर दी थी और चीन पर विदेशी शक्तियों ने जो अन्यायपूर्ण और एक-तरफा सन्धियां, जिन्हें चीनी लोग 'असमान सन्धियां' कहा करते हैं, जबरदस्ती लादी थीं, उनके विरोध-स्वरूप बहुत-से लोग इस समिति में शामिल हो गये। यह समिति बढ़ने लगी और देश के नवयुवक इसकी तरफ आकर्षित

होने लगे। सन १९११ में इसका नाम बदलकर 'कुओ-मिन-ताग' यानी 'जनता का राष्ट्रीय दल' रखा गया और यह चीन की क्रांति का केन्द्र बन गया। इस आन्दोलन के प्राण डा० सनयात सेन सयुक्त राज्य अमरीका को आदर्श मानते थे। वह गणतन्त्र चाहते थे, न कि इंग्लैंड का-सा वैधानिक एकतन्त्र और जापान की-सी सम्राट-पूजा तो हरगिज नही। चीनियो ने अपने सम्राटो को पूजा की चीज कभी नही माना, फिर उनका तत्कालीन शासक राजवंश तो 'चीनी' भी नही था। वह राजवंश मंचू था और जनता में मंचू-विरोधी भावना खूब फैली हुई थी।

जनता की मंचू-विरोधी और एकतन्त्र-विरोधी भावना जोर पकड़ने लगी। क्रांतिकारी भी जोर पकड़ने लगे। इस समय चीन के एक प्रान्त का वाइसराय युआन-शी-काई ही ऐसा मजबूत आदमी था, जो इनका मुकाबला कर सकता था। यह बूढ़ी लोमड़ी की तरह चालाक था और संयोग से चीन की एक-मात्र आधुनिक तथा होशियार सेना, जिसका नाम 'आदर्श सेना' था, उसके हाथ में थी। मचू शासकों ने बड़ी बेवकूफी से आकर इसे चिढ़ा दिया और पद से हटा दिया और इस तरह उन्होंने ऐसे एकमात्र व्यक्ति को खो दिया, जो उन्हें कुछ देर के लिए बचा सकता था। अक्तूबर, सन १९११ मे, यागसी की घाटी में क्रांति भड़क उठी और शीघ्र ही मध्य और दक्षिणी चीन के बड़े हिस्से में विद्रोह फैल गया। सन १९१२ की पहली जनवरी को इन प्रान्तों ने गणराज्य की घोषणा कर दी और नानकिंग को राजधानी बनाया। डा० सनयात सेन राष्ट्रपति चुने गये।

इधर युआन-शी-काई भी इस नाटक को देख रहा था कि ज्योंही अपने फायदे का मौका मिले, हाथ मारे। रीजेण्ट ने (जो उस वक्त बालक सम्राट के एवज में राज्य कर रहा था) युआन को बरखास्त कर बाद में दुबारा बुलाया, इसका किस्सा भी दिलचस्प है। पुराने चीन में हरएक बात बड़ी शिष्टता और नम्रता के साथ की जाती थी। जिस वक्त युआन को बरखास्त करना जरूरी था, यह घोषणा की गई थी कि उसकी टांग में तकलीफ है। वास्तव में सबको अच्छी तरह मालूम था कि उसकी टांग बिल्कुल मजे में है और उसे बरखास्त करने का यह सिर्फ औपचारिक ढंग था। लेकिन युआन ने भी अपना बदला ले लिया। दो साल बाद, सन १९११ में, जब

सरकार के विरुद्ध विप्लव और विद्रोह उठ खड़ा हुआ, रीजेण्ट ने घबराकर युआन को बुलवाया। लेकिन युआन का इरादा तबतक जाने का नहीं था, जबतक उसकी शर्तें मंजूर न कर ली जायं। उसने रीजेण्ट को जो जवाब भेजा, उसमें खेद के साथ कहा कि उसके लिए घर छोड़ना सम्भव नहीं है, क्योंकि टांग में तकलीफ होने के कारण वह यात्रा नहीं कर सकता! लेकिन एक महीने बाद जब उसकी शर्तें मंजूर कर ली गई तो उसकी टांग भी अद्भुत गति से चंगी हो गई!

लेकिन अब इतनी देर हो चुकी थी कि क्रांति नहीं रुक सकती थी। युआन भी इस कदर चालाक था कि दोनों में से किसी पक्ष के साथ बंधकर अपनी स्थिति को खतरे में नहीं डालना चाहता था। आखिरकार उसने मंचुओं को गद्दी छोड़ने की सलाह दी। इधर तो गणतन्त्र उनके मुकाबले में खड़ा था, और उधर उनके सेनापति ने उनका साथ छोड़ दिया था, इसलिए मंचू शासकों के लिए कुछ चारा ही न था। १२ फरवरी, सन १९१२ ई० को सिंहासन-त्याग का फरमान निकाल दिया गया। इस प्रकार ढाई सदी से ज्यादा के स्मरणीय शासन के बाद चीन के रंगमंच से मंचू-राजवंश का प्रस्थान हुआ। एक चीनी कहावत के अनुसार उन्होंने "सिंह जैसी गर्जना करते हुए प्रवेश किया और सांप की पूंछ की तरह प्रस्थान किया।"

इसी १२ फरवरी के दिन नये गणराज्य की राजधानी नानकिंग म, जहां प्रथम मिंग बादशाह का मकबरा बना हुआ था, एक अजीब रस्म पूरी की गई—ऐसी रस्म, जिसने पुरानी तथा नई बातों का भेद दर्शाते हुए उन्हें एक साथ ला दिया। गणराज्य के राष्ट्रपति सनयात सेन ने अपने मंत्रिमंडल के साथ मकबरे पर जाकर पुराने तरीके से प्रसाद चढ़ाया। इस मौके पर भाषण देते हुए उन्होंने कहा—"हम पूर्वी एशिया के लिए गणतन्त्री शासन का नमूना सबसे पहले पेश कर रहे हैं। जो लोग कोशिश करते हैं, उन्हें देर-अबेर सफलता मिलती ही है। नेकी का अन्त में जरूर इनाम मिलता है। फिर हम आज यह गम क्यों करें कि विजय इतनी देर से आई!"

बहुत वर्षों तक, अपने देश में और निर्वासित रहकर सनयात सेन चीन की आजादी के लिए जान लड़ाते रहे और अन्त में सफलता आती दिखाई दी। लेकिन आजादी एक बेवफा दोस्त है और सफलता प्राप्त करने

में पहले उसकी पूरी कीमत चुकानी पड़ती है। अक्सर वह हमें झूठी उम्मीदें दिखा-दिखाकर बहलाती है; कठिनाइयां पैदा करके हमारी परीक्षा लेती है और तब कहीं प्राप्त होती है। चीन और डा० सेन की मंजिल पूरी होने में अभी बहुत देर थी। बहुत वर्षों तक इस नये गणराज्य को अपने जीवन के लिए संघर्ष करना पड़ा।

मंचुओं ने तो राजगद्दी छोड़ दी, लेकिन गणराज्य के रास्ते में युआन अभीतक अड़ा हुआ था। पता नहीं, उसका क्या इरादा था। उत्तरी भाग उसके हाथ में था और दक्षिणी भाग गणराज्य के हाथ में। शान्ति की खातिर और गृह-युद्ध बचाने के लिए डा० सेन ने अपनेको मिटाकर राष्ट्रपति का पद छोड़ दिया और युआन को राष्ट्रपति चुनवा दिया, लेकिन युआन तो गणतन्त्रवादी नहीं था। वह तो अपनी बुलन्दी के लिए सत्ता हथियाने की फ़िराक़ में था। जिस गणराज्य ने उसे अपना राष्ट्रपति चुनकर सम्मानित किया था, उसीको कुचलने के लिए उसने विदेशी शक्तियों से रुपया उधार लिया। उसने पार्लमेंट को बरखास्त कर दिया और कुओ-मिन-तांग को तोड़ दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि दो दल हो गये और डा० सेन की अध्यक्षता में दक्षिण में एक प्रतिपक्षी सरकार की स्थापना हुई। जिस फूट को बचाने के लिए डा० सेन ने उद्योग किया था, वही पैदा हो गई, और जिस समय प्रथम महायुद्ध शुरू हुआ, चीन में दो सरकारें थी। युआन ने सम्राट बनने की कोशिश की, लेकिन वह सफल नहीं हुआ और थोड़े ही दिनों बाद मर गया।

अगस्त, सन १९१७ में, युद्ध प्रारम्भ होने के तीन वर्ष बाद, चीन मित्र-राष्ट्रों के साथ मिल गया और उसने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी। यह उपहास की-सी बात थी, क्योंकि चीन जर्मनी का कुछ नहीं बिगाड़ सकता था। इसमें चीन का सारा उद्देश्य यह था कि वह मित्र-राष्ट्रों के साथ अपने बिगड़े हुए संबंध को ठीक करना चाहता था और जापान के और अधिक शिकंजों से अपने-आपको बचाना चाहता था।

इसके कुछ ही दिन बाद नवम्बर, १९१७ में रूसी बोल्शेविक क्रान्ति हो गई, जिसके फलस्वरूप सारे उत्तरी एशिया में बड़ी भारी गड़बड़ फैल गई। सोवियत तथा सोवियत-विरोधी फौजों का एक रण-क्षेत्र साइबेरिया था। रूसी 'श्वेत' सेनापति कोलचक्र सोवियतों के विरुद्ध साइबेरिया

को अपना अड्डा बनाकर लड़ रहा था। सोवियत की शानदार विजय से चौकन्ने होकर जापानियों ने साइबेरिया को एक बड़ी सेना भेजी। ब्रिटिश और अमरीकी सैनिक भी वहां भेजे गये। कुछ समय के लिए साइबेरिया से और मध्य-एशिया से रूसी प्रभाव गायब हो गया। ब्रिटिश सरकार ने इन क्षेत्रों में रूस का इकबाल पूरी तरह खत्म करने का भरसक प्रयत्न किया। मध्य-एशिया के बीचों-बीच काशगर में अंग्रेजों ने बोल्शेविक-विरोधी प्रचार के लिए एक रेडियो स्टेशन कायम कर दिया।

मंगोलिया में भी सोवियत तथा सोवियत-विरोधी लोगों के बीच घमासान लड़ाई हुई। सन १९१५ में जब महायुद्ध चल ही रहा था, जारशाही रूस की सहायता से मंगोलिया चीनी सरकार से स्वशासन का बहुत-कुछ अधिकार प्राप्त करने में सफल हो गया था। सर्वोपरि सत्ता तो चीन की ही बनी रही, पर मंगोलिया के वैदेशिक संबंधों के मामले में रूस को भी वहां कुछ बराबरी का दरजा दे दिया गया। यह निराली व्यवस्था थी। सोवियत क्रान्ति के बाद मंगोलिया में गृह-युद्ध हुआ, जिसमें तीन वर्ष से ऊपर संघर्ष के बाद सोवियतों की जीत हुई।

महायुद्ध के बाद होनेवाले शान्ति-सम्मेलन ने—बड़ी शक्तियों ने—जिनमें खासतौर से इंग्लैंड, फ्रान्स और संयुक्त राज्य अमरीका को गिनना चाहिए, चीन का शांतुंग प्रान्त जापान की भेंट करना तय किया। इस प्रकार, इस युद्ध के फलस्वरूप, इन शक्तियों ने अपने साथी चीन से उसके देश का एक टुकड़ा सचमुच जापान को दिलवा दिया! इसका कारण यह था कि युद्ध के दौरान में इंग्लैंड, फ्रान्स और जापान के बीच कोई गुप्त संधि हो गई थी। कारण चाहे जो रहा हो, चीन के साथ इस गन्दी चालबाजी पर चीनी जनता ने तीव्र रोष प्रकट किया और पेकिंग की सरकार को धमकी दी कि यदि उसने इस मामले में समझौता कर लिया तो क्रान्ति हो जायगी। जापानी माल के सख्त बहिष्कार की भी घोषणा कर दी गई और जापान-विरोधी दंगे हुए। चीनी सरकार ने (जिससे मेरा मतलब उत्तर की पेकिंग सरकार से है, जो मुख्य सरकार थी) शान्ति की संधि पर सही करने से इन्कार कर दिया।

दो वर्ष बाद संयुक्त राज्य अमरीका के वाशिंगटन नगर में एक सम्मेलन हुआ, जिसमें शांतुंग का यह प्रश्न उठाया गया। यह सम्मेलन उन सब शक्तियों

का था, जिनका सुदूर पूर्व के सवाल में सरोकार था, और वे अपनी जल-सेनाओं की संख्या पर विचार करने के लिए एकत्र हुई थीं। जहांतक चीन और जापान का संबंध था, सन १९२२ के इस वाशिंगटन-सम्मेलन से कई महत्वपूर्ण परिणाम निकले। जापान शांतुंग वापस देने को राजी हो गया, और इस तरह, जिस एक सवाल ने चीनी लोगों को बुरी तरह विचलित कर रखा था, उसका फैसला हो गया। इन शक्तियों के बीच दो महत्वपूर्ण राजीनामे भी हुए।

इनमें से एक राजीनामा, जो अमरीका, इंग्लैंड, जापान और फ्रांस के बीच हुआ, 'चार-शक्ति-करार' कहलाता है। इन चारों शक्तियों ने आपस में वचन दिये कि प्रशान्त महासागर में एक-दूसरे के अधिकृत स्थानों की प्रादेशिक सीमाओं का खयाल रखेंगे, अर्थात उन्होंने वादे किये कि वे एक-दूसरे के प्रदेशों पर अनधिकार प्रवेश नहीं करेंगे। दूसरा राजीनामा, जो 'नौ-शक्ति सन्धि' कहलाता है, इस सम्मेलन में शामिल होनेवाली संयुक्त राज्य अमरीका, बेल्जियम, इंग्लैंड, फ्रान्स, इटली, जापान, हालैण्ड, पुर्तगाल और चीन, इन नौ शक्तियों के बीच हुआ।

इन दोनों राजीनामों का अभिप्राय भावी आक्रमणों से चीन की रक्षा करना था। इनका अभिप्राय था शक्तियों के रियायतों की तलाश और कब्जा करने के उस खेल को रोकना, जो वे अबतक खेलती आ रही थीं। पश्चिमी शक्तियों को युद्धोत्तर समस्याओं से ही फुरसत नहीं थी, इसलिए उस समय चीन में उन्हें कोई दिलचस्पी नही थी। इसीलिए उन्होंने आत्म-त्याग का यह कायदा बनाकर उसे पालन करने की शपथपूर्वक प्रतिज्ञा की। जापान ने भी इसके पालन की प्रतिज्ञा की, यद्यपि यह उस निश्चित नीति से टक्कर खाता था, जिसे वह बहुत वर्षों से बरत रहा था। लेकिन अधिक वर्ष बीतने न पाये थे कि यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया कि तमाम राजीनामों और प्रतिज्ञाओं के बावजूद जापान ने अपनी पुरानी नीति जारी रखी और चीन पर हमला कर दिया। अन्तर्राष्ट्रीय वचन-भंग और मक्कारी का यह एक अद्भुत निर्लज्जतापूर्ण उदाहरण है। आगे चलकर जो घटनाएं हुई, उनकी पृष्ठभूमि समझाने के लिए मुझे यहां वाशिंगटन-सम्मेलन का जिक्र करना पड़ा।

इसी वाशिंगटन-सम्मेलन के अवसर के आस-पास ही साइबेरिया से विदेशी सैनिकों को अन्तिम रूप से हटा लिया गया। जापानी सबसे आखिर में हटे। इनके हटते ही स्थानीय सोवियतें तुरन्त मैदान में आ गईं और रूस के सोवियत गणराज्य में शामिल हो गई।

सोवियत गणराज्य ने स्थापित होने के कुछ ही दिन बाद चीनी सरकार को लिखा था और उन तमाम खास विशेषाधिकारों को छोड़ने का इरादा जाहिर किया था, जिनका अन्य साम्राज्यशाही शक्तियों के समान जारशाही रूस भी उपभोग कर रहा था। एक तो साम्राज्यवाद और साम्यवाद का किसी तरह का साथ नहीं हो सकता, पर इसके अलावा भी, सोवियत ने पूर्वी देशों के प्रति, जिन्हें पश्चिमी शक्तियां बहुत समय से निचोड़ रही थीं और दबा रही थीं, जान-बूझकर उदार नीति का अवलम्बन किया। सोवियत रूस के लिए यह नेक कर्तव्य पालन तो था ही, ठोस नीति भी थी, क्योंकि इससे पूर्व के कई देश उसके मित्र बन गये। खास विशेषाधिकारों को छोड़ने का रूस का प्रस्ताव बिना किसी तरह की शर्तों के था, वह बदले में कुछ नहीं चाहता था। इसपर भी चीनी सरकार रूस के साथ ताल्लुक बढ़ाने में डरती थी कि कहीं पश्चिम की यूरोपीय शक्तियां नाराज न हो जायं। खैर, अन्त में रूसी और चीनी प्रतिनिधि एक जगह मिले और सन १९२४ में दोनों में कुछ बातों पर राजीनामा हो गया। इस राजीनामे की खबर लगते ही फ्रान्सीसी, अमरीकी और जापानी सरकारों ने पेकिंग सरकार को अपना विरोध लिख भेजा और वह इतनी घबरा गई कि उसने सचमुच इस राजीनामे पर अपने प्रतिनिधि के हस्ताक्षर को ही मानने से इन्कार कर दिया! इसपर रूसी प्रतिनिधि ने राजीनामे की सारी इबारत प्रकाशित कर दी। इससे काफी सनसनी फैल गई। यह पहला ही मौका था कि शक्तियों के साथ व्यवहार में चीन के प्रति सम्मान और भलमनसाहत का बर्ताव किया गया था और उसके अधिकारों को मान्यता दी गई थी। चीनी लोग तो इसपर खुशी से उछल पड़े और सरकार को इसके ऊपर सही करनी पड़ी। साम्राज्यशाही शक्तियों के लिए इसे नापसन्द करना स्वाभाविक था, क्योंकि इससे उनकी सारी पोल खुल जाती थी। वे सभी खास विशेषाधिकारों पर अड़ी हुई थीं।

सोवियत सरकार ने डा० सनयात सेन की दक्षिणी चीनी सरकार से भी बातचीत शुरू की, जिसका सदर मुकाम कैण्टन में था और दोनों में आपसी समझौता हो गया। करीब-करीब इस सारे ही समय में उत्तर और दक्षिण के बीच तथा उत्तर में विभिन्न फौजी सेनापतियों के बीच एक हलका-सा गृह-युद्ध चल रहा था। ये उत्तरी तूशन, या इनमें से महा-तूशन कहलानेवाले कुछ लोग, किसी सिद्धान्त या कार्यक्रम के लिए नहीं लड़ रहे थे, उनकी लड़ाई तो व्यक्तिगत अधिकार की थी। वे एक-दूसरे के साथ मिल जाते और फिर दूसरे पक्ष में जा मिलते और नये गठबंधन बना लेते। ये निरन्तर बदलनेवाले गठबन्धन बाहरवालों को बहुत चक्कर में डाल देते थे। ये तूशन, या सैनिक हौसले-बाज, निजी सेनाएं खड़ी करते थे, निजी टैक्स वसूल करते थे निजी युद्धों में लगे रहते थे, और इन सबका बोझ पड़ता था बेचारी चिर-पीड़ित चीनी जनता पर। कहते हैं कुछ महा-तूशनों की पीठ पर विदेशी शक्तियां थीं; खासकर जापान। शांघाई की बड़ी-बड़ी व्यापारिक कम्पनियों से भी इन्हें रुपये-पैसे की मदद मिलती रहती थी।

इस अंधकार के बीच दक्षिण ही एक आलोकित स्थान था, जहां डा० सनयात सेन की सरकार काम कर रही थी। इसके कुछ आदर्श थे और एक नीति थी, और यह तूशनों की कुछ हुकूमतों की तरह लुटेरों का मामला नहीं थी। सन १९२४ में कुओ-मिन-तांग या जनता के दल की पहली राष्ट्रीय कांग्रेस हुई और डा० सनयात सेन ने इसके सामने एक घोषणा-पत्र रखा। इस घोषणा-पत्र में उसने राष्ट्र का मार्ग-प्रदर्शन करनेवाले सिद्धान्तों का निरूपण किया।

मार्च, सन १९२५ ई०, में डा० सनयात सेन की मृत्यु हो गई। उन्होंने अपनी जान चीन की सेवा में खपा दी थी और यह चीनी जनता के परम-प्रिय पात्र बन गये थे।

: ३० :

रज़ाशाह पहलवी

सन १९१४ के महायुद्ध में ईरान ने निष्पक्षता की घोषणा की, मगर कमजोरों की घोषणाओं का बलवानों पर कुछ असर नहीं होता। ईरान की

निष्पक्षता की किसी भी पक्ष ने परवा न की। अभागी ईरानी सरकार कुछ भी समझा करे, विदेशी फौजें आ-आकर उसकी जमीन पर आपस म लड़ती रहीं। ईरान के चारों तरफ युद्ध में लड़नेवाले देश थे। एक तरफ इंग्लैंड और रूस आपस में दोस्त थे। दूसरी तरफ तुर्की, जिसके राज्य में उस समय इराक और अरबस्तान शामिल थे, जर्मनी का साथी था। सन १९१८ में महायुद्ध समाप्त हुआ और इसमें इंग्लैंड, फ्रान्स और उनके साथियों की जीत हुई। उस समय सारे ईरान पर ब्रिटिश फौजों का क़ब्जा था। इंग्लैंड ईरान पर अपना संरक्षण ोषित करने ही वाला था, जो कब्जा करने का मुलायम रूप था। साथ ही भूमध्यसागर से लगाकर बलूचिस्तान और भारत तक एक विशाल मध्य-पूर्वीय साम्राज्य कायम करने के सपने भी देखे जा रहे थे। मगर ये सपने पूरे नहीं हुए। ब्रिटेन के दुर्भाग्य से रूस में जारशाही का अन्त हो गया था और उसकी जगह सोवियत रूस बन चुका था। ब्रिटेन का यह भी दुर्भाग्य रहा कि तुर्की में उसकी चालें बेकार हुई और कमालपाशा ने अपने देश को मित्र-राष्ट्रों की दाढ़ों में से बचाकर निकाल लिया।

इनसब घटनाओं से ईरानी राष्ट्रवादियों को मदद मिली और ईरान नाममात्र के लिए आजाद बना रहने में सफल हो गया। सन १९२१ में एक ईरानी सिपाही रजाखां सैनिक चालबाजी से सामने आया। उसने फौज पर कब्जा कर लिया और फिर प्रधानमंत्री बन गया। सन १९२५ में शाह गद्दी से उतार दिया गया और विधान परिषद की राय से रजाखां नया शाह चुन लिया गया। उसने रजाशाह पहलवी का नाम और उपाधि धारण की।

रजाशाह शान्तिपूर्ण और जाहिरा तौर पर लोकतन्त्री उपायों से गद्दी पर पहुंचा। पिछले कुछ वर्षों में ईरान बहुत अधिक बदल गया है, जोरदार राष्ट्रीय पुनर्जीवन हो रहा है, जिसने देश में नई जान डाल दी है। जहां कहीं ईरान में विदेशी स्वार्थों का संबंध है, वहां यह नवजीवन आक्रमणकारी राष्ट्रीयता का रूप धारण कर रहा है।

यह बड़ी दिलचस्प बात है कि यह राष्ट्रीय नवचेतना ईरान की दो हजार वर्ष की सच्ची परम्परा के अनुकूल है। उसकी नजर शुरू के दिनों

की, इस्लाम से पहले की, ईरान की महानता पर लौट रही है और वह उसीसे प्रेरणा लेने की कोशिश कर रहा है। रजाशाह ने अपने वंश के लिए जो 'पहलवी' नाम रखा है, वह भी उस पुराने जमाने की याद दिलाता है। वैसे ईरान के लोग शिया मुसलमान हैं, मगर जहांतक उनके देश का सवाल है, वहां राष्ट्रीयता इस्लाम से भी ज्यादा जोरदार बल है। एशिया भर में यही हो रहा है। यूरोप में ऐसा ही सौ वर्ष पहले, यानी उन्नीसवीं सदी में, हुआ था। लेकिन आज तो वहां अनेक लोग राष्ट्रीयता के सिद्धान्त को भी उतार फेंका हुआ मानने लगे हैं और ऐसे नये धर्मों और विश्वासों की तलाश में हैं, जो मौजूदा हालतों के ज्यादा अनुकूल हों।

ईरान को पहले फारस कहते थे, पर अब इसका सरकारी नाम ईरान कर दिया गया है। रजाशाह ने आज्ञा निकाल दी कि फ़ारस नाम का उपयोग न किया जाय।

: ३१ :

मेजिनी और गैरीबाल्डी

इटली की राष्ट्रीयता का पैग़म्बर ग्वीसेप मेजिनी था। सन १८३१ में उसने 'नौजवान इटली' नामक समिति का संगठन किया, जिसका उद्देश्य इटली का एक गणराज्य स्थापित करना था। उसने इस उद्देश्य के लिए वर्षों तक काम किया। उसे निर्वासित भी रहना पड़ा और अक्सर अपनी जान जोखिम में डालनी पड़ी। उसकी अनेक राष्ट्रीय रचनाएं साहित्य के रत्न बन गई हैं। सन १८४८ में, जब उत्तरी इटली में जगह-जगह विद्रोहों की आग भड़क रही थी, मेजिनी को मौका मिल गया और वह रोम चला आया। पोप को निकाल बाहर किया गया और तीन आदमियों की समिति के मातहत गणराज्य का ऐलान कर दिया गया। इस त्रिमूर्ति को पुराने रोमन इतिहास के एक शब्द के अनुसार "त्रियमवीर" नाम दिया गया। इनमें एक मेजिनी था। इस नवजात गणराज्य पर चारों तरफ से हमले होने लगे—आस्ट्रियावालों द्वारा, नेपल्सवालों द्वारा, यहांतक कि फ़ान्सीसियों द्वारा भी, जो पोप को फिर से गद्दी पर बिठाने के लिए आये। रोम के

गणराज्य की तरफ़ से लड़नेवालों का सरदार गैरीबाल्दी था। उसन आस्ट्रिया-वालों को रोक रखा, नेपल्सवालों को हरा दिया और फ्रान्सवालों को भी आगे न बढ़ने दिया। यह सब स्वयंसेवकों की मदद से किया गया और गण-राज्य की रक्षा में रोम के अच्छे-से-अच्छे और बहादुर-से-बहादुर युवकों ने अपनी जानें दीं। पर अन्त में एक वीरतापूर्ण संघर्ष के बाद रोम का गणराज्य फ्रान्सीसियों से हार गया और उन लोगों ने पोप को फिर से ला बिठाया।

इस तरह संघर्ष की पहली कला का अन्त हुआ। प्रचार तथा अगले बड़े प्रयत्न की तैयारी के रूप में मेजिनी तथा गैरीबाल्दी अपना-अपना काम भिन्न-भिन्न तरीकों से करते रहे। वे एक-दूसरे से बहुत भिन्न थ। एक विचारक और आदर्शवादी था और दूसरा सिपाही, जिसमें छापामार युद्ध-कला की असाधारण प्रतिभा थी। दोनों में इटली की आजादी और एकता की जबरदस्त लगन थी। इसी समय इस बड़े खेल में एक तीसरा खिलाड़ी और प्रकट हुआ। यह पीडमाण्ट के राजा विक्टर इम्मानुएल का प्रधान मंत्री कावूर था। उसका मुख्य लक्ष्य विक्टर इम्मानुएल को इटली का बादशाह बनाना था। चूंकि इसके लिए कई छोटे-छोटे राजाओं को दबाने और हटाने की जरूरत थी, इसलिए क़ावूर मेज़िनी और गैरीबाल्दी के कार्यों का फायदा उठाने को पूरी तरह तैयार था। उसने फ्रान्सवालों से साजिश की और उन्हें अपने दुश्मन आस्ट्रियावालों के साथ लड़ाई में फंसा दिया। उस समय फ्रांस का शासक नेपोलियन तृतीय था। यह सन १८५९ ई० की बात है। फ्रान्स-वालों के हाथों आस्ट्रियावालों की पराजय से गरीबाल्दी ने फ़ायदा उठाया और नेपल्स तथा सिसली के बादशाह पर बिना किसीसे सलाह किये तथा अपने ही नेतृत्व में एक असाधारण फौजी धावा कर दिया। गैरीबाल्दी और उसके एक हजार लाल कुरतेवालों का यह मशहूर फौजी धावा था। इन लोगों ने, जिन्हें न तो सैनिक शिक्षा मिली थी और न जिनके पास ठीक हथियार और सामान थे, अपने सामने डटी हुई शिक्षित सेनाओं का मुक़ाबला किया। दुश्मन की सेना इन एक हजार लाल कुरतेवालों से बहुत ज्यादा थी लेकिन उनके जोश और जनता की सद्भावना से उन्हें विजय-पर-विजय प्राप्त होती गई। गैरीबाल्दी की कीर्त्ति चारों तरफ़ फैल गई। उसके नाम में ऐसा जादू था कि उसके नजदीक पहुंचते ही फौजें तितर-बितर हो जाती थीं।

फिर भी गैरीबाल्दी का काम मुश्किल था और कितनी ही बार वह तथा उसके स्वयंसेवक पराजय और घोर विपत्ति के किनारे पड़ जाते थे। किन्तु पराजय की घड़ियों में भी भाग्य उसका साथ देता था और पराजय को विजय में बदल देता था। जान झोंककर साहसपूर्ण कार्य करनेवालों पर भाग्य की ऐसी ही कृपा रहती है।

गैरीबाल्दी और उसके हजार साथी सिसली के तट पर उतरे। वहां से वे लड़ते-लड़ते धीरे-धीरे इटली तक जा पहुंचे। दक्षिण इटली के गांवों में होकर कूच करते हुए वह स्वयंसेवकों की मांग करता जाता था और निराले ही इनाम देने की घोषणा करता था। वह कहता—"चले आओ! चले आओ! जो घर में घुसा रहता है, वह कायर है। मैं तुम्हें थकान, तकलीफें और लड़ाइयां देने का वादा करता हूं। परन्तु हम या तो जीतेंगे या मर मिटेंगे।" दुनिया सफलता की कद्र करती है। गैरीबाल्दी की शुरू की सफलताओं ने इटली के लोगों की राष्ट्रीयता की भावना को ऐसा उभारा कि स्वयंसेवकों का तांता बंध गया और वे गैरीबाल्दी का गीत गाते हुए उत्तर की तरफ बढ़े। उस गीत का आशय यह है:

उघड़ गई हैं कब्रें
मुर्दे दूर-दूर से आते उठकर।
ले तलवारें हाथों में,
औ' कीर्त्ति ध्वजा के साथ
युद्ध के लिए खड़े हो रहे प्रेतगण
अमर शहीदों के अपने,
जिनके मृत हृदयों में गरमी
इटली का नाम रही है भर,
आओ, दो उनका साथ!
देश के नवयुवको,
तुम चलो उन्हींके पीछे।
आओ, फहरा दो झंडा अपना
औ' बाजे जंगी सब साजो।
आ जाओ, सब लेकर ठंडी फौलादी तलवारें

लेकिन हो आग हृदय में भरी हुई !
आ जाओ सब लेकर
इटली की आशाओं की ज्योति भरे !
इटली से बाहर हो !
ओ परदेशी,
तू बाहर निकल
हमारे प्यारे वतन इटली से

राष्ट्रीय गीत सब जगह कितने समान होते हैं !

कावूर ने गैरीबाल्दी की सफलताओं से फायदा उठाया और इस सबका नतीजा यह हुआ कि सन १८६१ में पीडमाण्ट का विक्टर इम्मानुएल इटली का बादशाह हो गया। रोम पर अभीतक फ्रान्सीसी सैनिकों का कब्जा था और वेनिस पर आस्ट्रियावालों का। दस वर्ष के भीतर वेनिस और रोम बाकी इटली में मिल गये और रोम राजधानी बन गया। आखिर इटली एक संयुक्त राष्ट्र हो गया। लेकिन मेजिनी को इससे खुशी नहीं हुई। उसने सारी उम्र गणराज्य के आदर्श के लिए जान लड़ाई थी और अब इटली सिर्फ पीडमाण्ट के विक्टर इम्मानुएल की रियासत बन गया। यह सही है कि नया राज्य संवैधानिक राज्य था और विक्टर इम्मानुएल के राजा बनते ही तुरन्त टूरिन में इटली की पार्लमेंट की बैठक हुई।

इस तरह इटली का राष्ट्र फिर से विदेशी शासन से मुक्त हो गया। यह तीन आदमियों की करामात थी—मेजिनी, गैरीबाल्दी और कावूर की। इन तीनों में से एक भी न होता तो शायद इस आजादी को आने में बहुत देर लगती।

इटली की आजादी की लड़ाई के दिनों में अंग्रेज जनता की सहानुभूति गैरीबाल्दी और उसके लाल कुरतेवालों के साथ थी और कितने ही अंग्रेज कवियों ने इस लड़ाई पर जोशीली कविताएं लिखी थीं। यह अजीब बात है कि जहां अंग्रेजों का स्वार्थ आड़े नहीं आता, वहां उनकी सहानुभूति अक्सर आजादी के लिए लड़नेवाले राष्ट्रों के साथ किस तरह हो जाती है ! यूनान आजादी के लिए लड़ता है तो वे अपने कवि बायरन और अन्य लोगों को भेज देते हैं। उस समय इटली के बारे में स्विनबर्न,

मेरीडिथ और एलीजाबेथ बैरेट ब्राउनिंग ने बड़ी सुन्दर कविताएं लिखी थीं। मेरीडिथ ने तो इस विषय पर उपन्यास भी लिखे थे।

: ३२ :

जर्मनी का लौहपुरुष बिस्मार्क

उन्नीसवीं सदी के मध्य के लगभग प्रशिया में एक आदमी उठा, जो आगे चलकर बहुत दिनों तक न सिर्फ जर्मनी पर, बल्कि यूरोप की राजनीति पर हावी होनेवाला था। यह आदमी प्रशिया का एक जमींदार था और इसका नाम औटो वॉन बिस्मार्क था। वह वाटरलू की लड़ाई के साल (१८१५ ई०) में पैदा हुआ था और उसने अलग-अलग दरबारों में कई वर्ष कूटनीतिक राजदूत का काम शुरू किया था। सन १८६२ में वह प्रशिया का प्रधान मंत्री बना और तुरन्त ही उसने अपना सिक्का जमाना शुरू कर दिया। प्रधान मंत्री बनने के एक सप्ताह के अन्दर उसने अपने एक भाषण के दौरान में कहा—"इस जमाने की बड़ी समस्याएं भाषणों और बहुमत के प्रस्तावों से नहीं, बल्कि लोहे और खून से हल होंगी।"

लोहा और खून! प्रसिद्धि प्राप्त करनेवाले ये शब्द सचमुच उसकी उस नीति के प्रतीक थे, जिसे उसने दूरंदेशी और कठोरता के साथ निभाया। उसे लोकतन्त्र से नफरत थी और वह पार्लामेंटों और लोकप्रिय विधान-मंडलों को हिकारत की नजर से देखता था। वह पुराने जमाने का अवशेष मालूम होता था, मगर उसकी योग्यता और दृढ़ता ऐसी थी कि उसने वर्तमान काल को अपनी इच्छा के सामने झुका लिया। उसने आधुनिक जर्मनी का निर्माण किया और उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में यूरोप के इतिहास को अपने सांचे में ढाला। दार्शनिकों और वैज्ञानिकों का जर्मनी तो पीछे रह गया और खून और लोहेवाला तथा सैनिक कुशलतावाला नया जर्मनी यूरोप के महाद्वीप पर हावी होने लगा। उस समय के एक प्रमुख जर्मन ने कहा था—"बिस्मार्क जर्मनी को महान बना रहा है और जर्मनों को छोटा।" जर्मनी को यूरोप में और अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में महान शक्ति बनाने की उसकी नीति से जर्मन

लोग खुश होते थे और बढ़ती हुई राष्ट्रीयता की चकाचौंध से वे बिस्मार्क के सब तरह के दमन को सहन कर लेते थे।

बिस्मार्क के हाथ में जब बागडोर आई, उसके दिमाग में साफ-साफ विचार थे कि उसे क्या-क्या करना है और उसके पास सावधानी से बनाई हुई योजना थी। वह दृढ़ता के साथ उस योजना पर डटा रहा और उसे अद्‌भुत सफलता मिली। वह जर्मनी का और जर्मनी के जरिये प्रशिया का यूरोप में प्रभुत्व कायम करना चाहता था। उस समय नेपोलियन तृतीय के मातहत फ्रान्स यूरोप में सबसे बलवान राष्ट्र समझा जाता था। आस्ट्रिया भी एक बड़ा प्रतिद्वन्द्वी था। पुराने ढंग की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और कूटनीति के एक पाठ की तरह यह देखकर चित्त मोहित हो जाता है कि बिस्मार्क दूसरी शक्तियों को किस तरह खेल खिलाता था और बारी-बारी से एक-एक करके उनसे कैसे निबटता था। सबसे पहली चीज जिसे करने का उसने बीड़ा उठाया था, यह थी कि जर्मनों के नेतृत्व का सवाल सदा के लिए हल कर दिया जाय। प्रशिया और आस्ट्रिया की पुरानी लाग-डांट जारी नहीं रहने दी जा सकती थी। इस सवाल का अन्तिम निर्णय प्रशिया के पक्ष में होना चाहिए था और आस्ट्रिया को महसूस कर लेना चाहिए था कि उसका दरजा दूसरा रहेगा। आस्ट्रिया के बाद फ्रान्स की बारी थी। (जब मैं प्रशिया, आस्ट्रिया और फ्रान्स की बात करता हूं, तब मेरा मतलब वहां की सरकारों से है। ये सरकारें थोड़ी या बहुत मात्रा में निरंकुश थीं और वहां की पार्लमेंटों के हाथ में कोई सत्ता नहीं थी।)

बस, बिस्मार्क ने अपनी फौजी मशीन को चुपचाप मुकम्मिल कर लिया। इसी बीच नेपोलियन तृतीय ने आस्ट्रिया पर हमला करके उसे हरा दिया। इस हार के फलस्वरूप गैरीबाल्दी की दक्षिण इटली में सैनिक कार्रवाई हुई, जिसके परिणामस्वरूप इटली सदा के लिए आजाद हो गया। ये सब बातें बिस्मार्क के अनुकूल थीं, क्योंकि इनसे आस्ट्रिया कमजोर पड़ गया। रूसी पोलैंड में जब राष्ट्रीय विद्रोह हुआ, बिस्मार्क ने जार को यह प्रस्ताव भेजा कि यदि आवश्यकता हो तो वह पोलैंडवालों को गोली से उड़ा देने में मदद देने को तैयार है। यह बड़ा कमीना प्रस्ताव था, मगर यूरोप की किसी भावी उलझन में जार की सहानुभूति प्राप्त करने का उद्देश्य

इससे पूरा हो गया। आस्ट्रिया से मिलकर उसने डेनमार्क को हराया और फिर शीघ्र ही उसने आस्ट्रिया की तरफ मुंह किया। इसके लिए उसने होशियारी से फ्रान्स और इटली का समर्थन प्राप्त कर लिया था। सन १८६६ में कुछ ही समय में प्रशिया ने आस्ट्रिया को दबा दिया। जब उसने जर्मन नेतृत्व का सवाल तय कर लिया और यह स्पष्ट कर दिया कि प्रशिया ही उसका नेता है तो फिर उसने बड़ी बुद्धिमानी से आस्ट्रिया के साथ उदारता का बर्ताव किया, जिससे कोई कटुता बाकी न रहे। अब प्रशिया के नेतृत्व में एक उत्तर-जर्मन संघ बनाने का रास्ता साफ हो गया (आस्ट्रिया उसमें नहीं था)। बिस्मार्क इस संघ का चांसलर बना। आजकल जहां हमारे कुछ राजनीतिज्ञ और कानून-विशारद महीनों और वर्षों संघों और संविधानों के बारे में चर्चाएं और दलीलें किया करते हैं, वहां ध्यान देने की दिलचस्प बात है कि बिस्मार्क ने उत्तर-जर्मन संघ का नया संविधान पांच घंटे में लिखवा दिया था। यही संविधान, इधर-उधर के कुछ संशोधनों के साथ, पचास वर्ष तक जर्मनी का संविधान बना रहा, यानी महायुद्ध के बाद सन १९१८ में जब गणराज्य स्थापित हुआ तबतक।

बिस्मार्क ने अपना पहला महान उद्देश्य प्राप्त कर लिया था। दूसरा कदम फ्रान्स को नीचा दिखाकर यूरोप में अपनी प्रभुता का दरजा स्थापित करना था। इसकी तैयारी उसने चुपचाप और बिना शोरगुल मचाये की। साथ-साथ वह जर्मनी की एकता स्थापित करने का प्रयत्न करता रहा और ऐसा बर्ताव करता रहा कि अन्य यूरोपीय शक्तियां उसकी ओर से सशंकित न हो जायं। पराजित आस्ट्रिया के साथ भी ऐसा नरम बर्ताव किया गया कि उसकी दुर्भावना प्रायः दूर हो गई। इंग्लैंड फ्रान्स का ऐतिहासिक प्रतिद्वन्द्वी था और वह नेपोलियन तृतीय की महत्त्वाकांक्षाभरी योजनाओं को बड़ी शंका की दृष्टि से देखता था। इस कारण फ्रान्स के विरुद्ध किसी भी संघर्ष में इंग्लैंड की सद्भावना प्राप्त करना बिस्मार्क के लिए कठिन नहीं था। जब वह युद्ध के लिए पूरी तरह तैयार हो गया, उसने अपना खेल इतनी होशियारी के साथ खेला कि वास्तव में सन १८७० में नेपोलियन तृतीय ने ही प्रशिया के विरुद्ध लड़ाई की घोषणा की! यूरोप को ऐसा लगा मानो प्रशिया की सरकार ही आक्रमणकारी फ्रान्स की बेकसूर शिकार हुई। पेरिस

के लोग "बर्लिन को ! बर्लिन को !" चिल्लाने लगे और नेपोलियन तृतीय ने अपने मन में बड़े संतोष से समझ लिया कि वह शीघ्र ही अपनी विजयी फौज के साथ सचमुच बर्लिन पहुंच जायगा। मगर हुआ कुछ और ही। बिस्मार्क का सधा हुआ सैनिक संगठन फ्रान्स की उत्तर-पूर्वी सरहद पर टूट पड़ा और उसके आगे फ्रान्स की फौज छिन्न-भिन्न हो गई। कुछ ही सप्ताहों में सेदान नामक स्थान पर खुद सम्राट नेपोलियन तृतीय और उसकी सेना जर्मनों के हाथों कैद हुई।

इस तरह दूसरा फ्रान्सीसी साम्राज्य समाप्त हुआ और तुरन्त ही पेरिस में गणतंत्री शासन स्थापित हो गया। नेपोलियन तृतीय के पतन के कई कारण थे। मुख्य कारण यह था कि अपनी दमन-नीति की वजह से वह प्रजा में अपनी लोकप्रियता बिल्कुल खो चुका था। विदेशों से युद्ध करके उसने जनता का ध्यान बंटाने की कोशिश की; आफत में फंसे हुए बादशाहों और सरकारों का यह मुंह लगा तरीका है। नेपोलियन सफल नहीं हुआ। हां, युद्ध ने उसकी महत्वाकांक्षा का अवश्य सदा के लिए अन्त कर दिया।

पेरिस में राष्ट्र-रक्षा की सरकार बनी। उसने प्रशिया के सामने शान्ति का प्रस्ताव रखा, मगर बिस्मार्क की शर्तें इतनी अपमानजनक थीं कि लगभग सारी सेना का नाश हो जाने पर भी उन्हें लड़ाई जारी रखने का निर्णय करना पड़ा। जर्मन फौजें बहुत समय तक वर्साई में और पेरिस के चारों तरफ घेरा डाले पड़ी रहीं। अन्त में पेरिस ने हथियार डाल दिये और नये गणराज्य ने हार मानकर, बिस्मार्क की कठोर शर्तें मंजूर कर लीं। युद्ध के हरजाने की भारी रकम देना कबूल किया गया और जिस बात से फ्रान्स को सबसे ज्यादा चोट पहुंची, वह यह थी कि अलसेस तथा लॉरेन के प्रान्त दोसौ साल से अधिक फ्रान्स के हिस्से में रहने के बाद जर्मनी के हवाले कर देने पड़े।

मगर पेरिस का घेरा उठने से पहले ही वर्साई में एक नये साम्राज्य का जन्म हो गया। सन १८७० के सितम्बर में तो नेपोलियन तृतीय के फ्रांसीसी साम्राज्य का अन्त हुआ और सन १८७१ की जनवरी में वर्साई के सोलहवें लुई के राजमहल के भव्य दीवानखाने में संयुक्त जर्मनी की

घोषणा हुई और प्रशिया का बादशाह कैसर के नाम से सम्राट बना। जर्मनी के सब राजाओं और प्रतिनिधियों ने वहां एकत्र होकर अपने नये सम्राट कैसर को ताजीम दी। अब प्रशिया के हायनजालर्न का राजघराना एक शाही घराना बन गया और संयुक्त जर्मनी संसार की एक महान शक्ति हो गया।

इधर वर्साई में हर्ष और उत्सव मनाया जा रहा था और उधर पास ही पेरिस में शोक और विपत्ति और पूरी जलालत छाई हुई थी। अनेक आफतों के कारण जनता हक्की-बक्की हो रही थी और कोई सुव्यवस्थित शासन नहीं था। राष्ट्रपरिषद में एकतंत्रवादी बड़ी संख्या में चुनकर आ गये थे और ये लोग बादशाही को फिर से स्थापित करने की साजिशें कर रहे थे। उन्होंने अपने रास्ते का कांटा दूर करने के लिए राष्ट्रीय रक्षक दल के हथियार छीनने का प्रयत्न किया, क्योंकि यह दल गणतंत्रवादी समझा जाता था। नगर के सब लोकतंत्रवादी और क्रान्तिकारी तत्वों को ऐसा लगा कि इसका अर्थ फिर से प्रतिगामिता और दमन हैं। इसलिए सन १८७१ के मार्च में विद्रोह उठ खड़ा हुआ और पेरिस के 'कम्यून' यानी पंचायती राज्य की घोषणा की गई। यह एक तरह की म्युनिसिपैलिटी थी और इसे फ्रान्स की महान राज्यक्रान्ति से प्रेरणा मिली थी। मगर इसमें इससे ज्यादा और भी बहुत कुछ था। जरा अस्पष्ट रूप में ही सही, इसमें वे समाजवादी विचारधाराएं मूर्तिमान थीं, जो उस समय पैदा हो चुकी थीं। एक तरह से यह रूस की सोवियत प्रणाली की पूर्वज थी।

मगर सन १८७१ का यह पेरिस कम्यून थोड़े ही दिन टिका। एकतंत्रवादियों और उच्च मध्यम-वर्ग के लोगों ने आम जनता की इस बगावत से डरकर पेरिस के उस भाग पर घेरा डाल दिया, जो कम्यून के अधिकार में था। पास ही वर्साई में और अन्य जगहों पर जर्मन सेनाएं यह सब चुपचाप देखती रहीं। जो फ्रान्सीसी सिपाही जर्मनों की क़ैद से छूटकर पेरिस लौटे, वे अपने पुराने अफसरों के साथ हो गये और कम्यून के विरुद्ध लड़ने लगे। उन्होंने कम्यून के समर्थकों पर धावा बोल दिया और सन १८७१ की मई के अन्त में एक दिन उन्हें हराकर पेरिस की सड़कों पर तीस हजार स्त्री-पुरुषों को गोलियों से उड़ा दिया। बाद में पंचायत-पक्ष के अनेक पकड़े हुए लोगों को भी नृशंसता के साथ गोलियों से मार दिया गया। इस तरह

पेरिस के कम्यून का अन्त हुआ। इससे यूरोप में बड़ी सनसनी फैली। इस सनसनी का कारण केवल यही नहीं था कि पंचायत का खून-खूराबी के साथ दमन कर दिया गया, बल्कि यह भी था कि यह उस समय की प्रचलित प्रणाली के विरुद्ध पहला समाजवादी विद्रोह था। गरीबों ने धनवानों के विरुद्ध हथियार तो पहले भी कितनी ही बार उठाये थे, लेकिन जिस व्यवस्था के कारण वे ग़रीब थे, उसे बदलने का उन्होंने विचार नहीं किया था। यह कम्यून लोकतंत्री तथा आर्थिक दोनों तरह का विद्रोह था और इस कारण यूरोप में समाजवादी विचारधारा के विकास का यह एक निशान है। फ्रान्स में कम्यून के अत्याचारपूर्ण दमन ने समाजवादी विचारों को नीचे धंसा दिया और फिर उन्हें उभरने में देर लगी।

यद्यपि कम्यून दबा दी गई,तथापि फ्रान्स बादशाहत के और अधिक प्रयोगों से बच गया। कुछ समय में वह निश्चय ही गणतंत्रवाद पर जम गया और सन १८७५ की जनवरी में वहां एक नये संविधान के अन्तर्गत तीसरे गणराज्य की घोषणा की गई। फ्रान्स में अब भी कुछ ऐसे लोग हैं, जो बादशाहों को चाहते हैं, मगर उनकी संख्या बहुत कम है और मालूम होता है कि फ्रान्स ने निश्चयपूर्वक गणराज्य को स्वीकार कर लिया है। फ्रान्स का गणराज्य उच्च मध्यम-वर्ग गण राज्य का है और उसकी बागडोर सम्पन्न मध्यम वर्गों के हाथों में है।

फ्रान्स सन १८७०-७१ के जर्मन-युद्ध की मार से फिर पनप गया और उसने हरजाने की भारी रकम भी चुका दी, लेकिन फ्रान्स की जनता को जिस तरह ज़लील किया गया था उससे लोगों के दिलों में गुस्सा भरा हुआ था। वे स्वाभिमानी लोग हैं और बातों को बहुत दिन तक याद रखते हैं। इसलिए बदले की भावना उन्हें सताने लगी। अलसेस और लारेन के हाथ से चले जाने का उन्हें खासतौर पर दुख था। बिस्मार्क न आस्ट्रिया को हराने के बाद उसके प्रति उदारता दिखाकर अक्लमंदी की थी; लेकिन फ्रान्स के साथ उसके कठोर बर्ताव में न तो उदारता थी और न बुद्धिमानी। एक स्वाभिमानी शत्रु को नीचा दिखाने की कीमत देकर उसने उन लोगों की सदा हरी रहने-वाली शत्रुता मोल ले ली। सेदान की लड़ाई के बाद ही, जब युद्ध का अन्त भी नहीं हुआ था, कार्ल मार्क्स ने एक भविष्यवाणी की कि अलसेस पर कब्जा

करने के फलस्वरूप दोनों देशों के बीच जानी दुश्मनी पैदा होगी और स्थायी शान्ति के बजाय केवल अस्थायी सन्धि रहेगी। अन्य कई मामलों की तरह इस मामले में भी मार्क्स की भविष्यवाणी सच्ची निकली।

जर्मनी में अब 'शाही दीवान' बिस्मार्क ही सर्वेसर्वा था। फिलहाल तो 'खून और लोहा' की नीति सफल हो गई थी। जर्मनी ने इस नीति को स्वीकार कर लिया था और उदार विचारों की कीमत घट गई थी। बिस्मार्क की यह कोशिश थी कि सत्ता बादशाह के हाथ में रहे, क्योंकि उसे लोकतन्त्र में कोई विश्वास नहीं था। जैसे-जैसे जर्मनी की औद्योगिक उन्नति होती जाती थी और मजदूर-वर्ग ज़ोर पकड़ता जाता था, वैसे-वैसे यह वर्ग आमूल परिवर्तन-कारी मांगें पेश करता और नई समस्या पैदा करता जा रहा था। बिस्मार्क ने इसका दो तरह से उपाय किया। एक तरफ वह मजदूरों की हालत सुधारता गया और दूसरी तरफ समाजवाद को कुचलता रहा। उसनें सामाजिक उन्नति के कानून बनाकर मजदूरों को चारा डालकर अपने पक्ष में करने की या कम-से-कम उन्हें उग्र बनने से रोकने की कोशिश की। इस तरह जर्मनी नें मजदूरों के लिए बुढ़ापे की पेंशनें, बीमे और चिकित्सा-सम्बन्धी तथा उनकी हालत सुधारने के कानून बनाकर इस दिशा में सबसे पहले कदम बढ़ाया, जबकि इंग्लैण्ड का उद्योग और मजदूर-आन्दोलन जर्मनी से पुराना होते हुए भी वह इस दिशा में ज्यादा कुछ नहीं कर पाया था। इस नीति को कुछ सफलता तो मिली, लेकिन फिर भी मजदूरों का संगठन बढ़ता ही गया।

मजदूरों के संगठन बढ़ने लगे और सन १८७५ में सबने मिलकर समाजवादी लोकतन्त्री दल बनाया। बिस्मार्क समाजवाद की इस बढ़ती को सहन नहीं कर सका। किसीने सम्राट की हत्या का प्रयत्न किया और बिस्मार्क को समाजवादियों पर भीषण आक्रमण करने का यह अच्छा बहाना मिल गया। सन १८७८ में हर तरह की समाजवादी प्रवृत्तियों को दमन करनेवाले समाजवाद-विरोधी कानून बनाये गए। जहांतक समाजवादियों का सम्बन्ध था, उनके लिए एक तरह का फौजी कानून जारी हो गया और हजारों को देश-निकाले का या कैद की सजाएं दे दी गईं। निर्वासितों में से बहुत-से लोग अमरीका चले गये और वहां जाकर समाजवाद के प्रथम प्रचारक बनें। समाजवादी लोकतन्त्री दल को चोट तो सख्त लगी, मगर वह मरा

नहीं और आगे चलकर फिर जोर पकड़ गया। बिस्मार्क का आतंकवाद उसे मार न सका, उलटे इसकी सफलता और भी हानिकर साबित हुई। जैसे-जैसे इस दल की ताकत बढ़ती गई, इसका संगठन बहुत विशाल हो गया।

बिस्मार्क की कूटनीतिक कुशलता ने अन्त तक उसका साथ नहीं छोड़ा और उसने अपने जमाने की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जबरदस्त खेल खेला। यह राजनीति उस समय भी और आज भी षड्यंत्र, प्रति-षड्यंत्र धोखा-धड़ी और मक्कारी का अजीब और पेचीदा जाला है और ये सब बातें छिपकर और परदे के पीछे की जाती हैं। अगर यह सब खुले तौर पर हों तो ज्यादा दिन नहीं टिक सकतीं। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया और इटली को मिलाकर 'त्रिदलीय गठ-बंधन" नामक गठ-बन्धन बनाया, क्योंकि अब उसे फ्रान्सवालों के प्रतिशोध का भय होने लगा था। इस तरह दोनों पक्ष हथियार जमा करने, साजिशें करने और एक-दूसरे पर आंखें निकालने में लगे रहे।

सन १८८८ में सम्राट विल्हेल्म द्वितीय के नाम से एक युवक जर्मनी का कैसर हुआ। उसके दिमाग में यह खयाल खूब भर गया कि वह जोरदार आदमी है और बहुत जल्दी ही वह बिस्मार्क से लड़ पड़ा। इस 'लौह-पुरुष दीवान' को बुढ़ापे में उसके पद से बरखास्त कर दिया गया। इसपर उसे बहुत गुस्सा आया। आंसू पोंछने के लिए उसे 'प्रिन्स' का खिताब दे दिया गया, मगर बादशाहों के बारे में उसका भ्रम दूर हो गया और ग्लानि के मारे वह अपनी जागीर में एकान्तवास करने लगा। एक मित्र से उसने कहा था—"मैंने जब पद सम्हाला था, मेरे पास राजभक्ति की भावनाओं का और बादशाह के प्रति श्रद्धा का बड़ा भंडार था, लेकिन अब मुझे दुःख के साथ मालूम हो रहा है कि यह भंडार दिन-पर-दिन खाली होता जा रहा है। मैंने तीन बादशाहों का नंगा रूप देख लिया है और यह दृश्य मुझे कुछ सुहावना नहीं लगा!"

यह बदमिजाज बूढ़ा कुछ वर्ष और जिया और सन १८९८ में तिरासी वर्ष की उम्र में मरा। कैसर के हाथों बरखास्त होने और मौत के बाद भी उसकी छाया जर्मनी पर बनी रही और उसकी आत्मा उसके उत्तराधिकारियों को प्रेरित करती रही। मगर उसके बाद आनेवाले व्यक्ति उसकी तुलना में तुच्छ थे।

: ३३ :

कुछ प्रसिद्ध लेखक

अक्सर कला और साहित्य से किसी राष्ट्र की आत्मा का जितना गहरा परिचय मिलता है, उतना जन-समूह की ऊपरी प्रवृत्तियों से नहीं। चेतना, कला और साहित्य हमें शान्त और गंभीर विचार के राज्य में पहुंचा देते हैं, जिसपर तत्कालीन वासनाओं तथा राग-द्वेषों का प्रभाव नहीं पड़ता। मगर आज कवि और कलाकार को भविष्य का सन्देशवाहक बहुत कम समझा जाता है और उन्हें कोई सम्मान नहीं दिया जाता। अगर उन्हें कुछ सम्मान मिलता भी है तो आम तौर पर उनकी मृत्यु के बाद मिलता है।

इसलिए मैं सिर्फ थोड़े-से नाम बताऊंगा। मैं उन्नीसवीं सदी के शुरू के हिस्से को ही लूंगा। याद रहे कि यूरोप के कई देशों के साहित्यों में उन्नीसवीं सदी की उत्कृष्ट रचनाओं के भंडार भरे हुए हैं।

असल में तो गेटे अठारहवीं सदी का था, क्योंकि उसका जन्म सन १७४९ में हुआ था, मगर उसने तिरासी वर्ष की अच्छी लम्बी उम्र पाई थी और इस कारण उसने अगली सदी के तिहाई भाग को भी देखा था। उसने अपने जीवन में यूरोपीय इतिहास के एक सबसे अधिक तूफानी जमाने को पार किया था और अपने देश को नेपोलियन की सेनाओं द्वारा पद-दलित होते हुए देखा था। स्वयं अपने जीवन में भी उसे बहुत दुःखों का अनुभव हुआ था, लेकिन धीरे-धीरे उसने जीवन की कठिनाइयों पर आन्तरिक नियंत्रण प्राप्त कर लिया तथा वह अनासक्ति और गंभीरता की उस स्थिति को पहुंच गया था कि इन चीजों ने उसे शान्ति प्रदान की। नेपोलियन उससे पहले-पहल उस समय मिला, जब उसकी आयु साठ वर्ष से ऊपर हो चुकी थी। जब वह दरवाजे में खड़ा था तो उसके चहरे पर निश्चिन्तता की कुछ ऐसी झलक तथा उसके रूप में कुछ ऐसा गौरवपूर्ण ढंग था कि नेपोलियन के मुंह से निकल पड़ा—"आदमी तो यह है!" उसने कई चीजों में हाथ डाला और जो कुछ किया, उत्कृष्टता के साथ किया। वह दार्शनिक, कवि, नाटककार और विभिन्न विज्ञानों में रुचि रखनेवाला वैज्ञानिक था। इन सबके अलावा व्यवहार में वह एक छोटे-से जर्मन राजा के दरबार में मंत्री था!

हम तो उसे सबसे अधिक एक लेखक के रूप में जानते हैं। उसकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'फॉस्ट' है। उसके जीवनकाल में ही उसकी कीर्ति दूर-दूर फैल गई थी और साहित्य के अपने निजी क्षेत्र में तो उसके देशवासी उसे देवता की तरह मानने लगे थे।

गेटे का समकालीन शिलर नामक एक और व्यक्ति था, जो उम्र में उससे कुछ छोटा था। यह भी एक महान कवि था। उससे भी कम उम्र का हीनरिख हीन था। यह जर्मन भाषा का एक और महान तथा प्रमोदकारी कवि था। इसने बहुत ही सुन्दर गीति-काव्य लिखे हैं। गेटे, शिलर और हीन—ये तीनों ही प्राचीन यूनान की उच्च श्रेणी की संस्कृति में शराबोर थे।

जर्मनी बहुत लम्बे समय से दार्शनिकों का देश करके मशहूर रहा है। अठारहवीं सदी का महान जर्मन दार्शनिक इम्मान्युएल काण्ट था। वह सदी के बदलने तक जीवित रहा। उस समय उसकी उम्र अस्सी वर्ष की थी। दर्शन के क्षेत्र में दूसरा महान नाम हीगल का है। वह काण्ट का अनुगामी था और ऐसा माना जाता है कि साम्यवाद के जनक कार्ल मार्क्स पर उसके विचारों का बहुत प्रभाव पड़ा था। यह तो दार्शनिकों की बात हुई।

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में प्रख्यात कवि काफी संख्या में पैदा हुए, खासकर इंग्लैण्ड में। रूस का सबसे विख्यात राष्ट्रीय कवि पुश्किन इसी समय हुआ। एक द्वन्द्व-युद्ध में वह जवानी में ही मारा गया। फ्रान्स में भी कई कवि हुए, लेकिन मैं सिर्फ दो के ही नामों का जिक्र करूंगा। एक तो विक्टर ह्यूगो था, जिसका जन्म सन १८०२ में हुआ था। इसने भी गेटे की तरह ही तिरासी वर्ष की उम्र पाई और गेटे की तरह यह भी अपने देश में साहित्य के देवता की तरह माना गया। लेखक और राजनीतिज्ञ दोनों ही रूप में उसका जीवन बड़ा परिवर्तनपूर्ण रहा। जीवन के प्रारम्भ में वह राजाओं का उग्र समर्थक तथा एक तरह से निरंकुशता का विश्वासी था। धीरे-धीरे वह एक-एक कदम बदलता गया, यहांतक कि सन १८४८ में वह गणतन्त्रवादी बन गया। जब लुई नेपोलियन अल्पजीवी द्वितीय गणराज्य का अध्यक्ष हुआ तो उसने ह्यूगो को उसके विचारों के कारण देश से निकाल दिया। सन १८७१ में विक्टर ह्यूगो ने पेरिस के कम्यून का पक्ष लिया। कट्टरपन्थ के ठेठ दक्षिण छोर से धीरे-धीरे, पर निश्चित रूप से, सरकता-सरकता

वह समाजवाद के ठेठ वाम छोर पर जा पहुंचा। ज्यादातर लोग ढलती हुई उम्र के साथ कट्टरपन्थी और प्रतिगामी बनते जाते हैं, लेकिन ह्यूगो ने बिल्कुल उलटी ही बात की। मगर यहां तो उससे हमारा वास्ता लेखक के रूप में है। वह महान कवि, उपन्यास-लेखक और नाटककार था।

दूसरा नाम, जिसका मैं जिक्र करूंगा, आरे द बालजक का है। यह भी विक्टर ह्यूगो का समकालीन था, मगर दोनों में बड़ा फर्क था। यह गजब की शक्ति रखनेवाला उपन्यासकार था और छोटे-से जीवन के भीतर उसने बड़ी भारी संख्या में उपन्यास लिख डाले। उसकी कहानियां एक-दूसरे से सम्बद्ध हैं, वे ही पात्र अक्सर उनमें आते हैं। उसका उद्देश्य अपने उपन्यासों में अपने समय के पूरे फ्रान्सीसी जीवन का प्रतिबिम्ब दिखाना था और उसने सारी ग्रन्थमाला का नाम 'मानवता का प्रहसन' रखा। यह कल्पना बड़ी महत्वाकांक्षापूर्ण थी और यद्यपि उसने कठोर तथा वर्षों तक परिश्रम किया, पर जो जबरदस्त काम उसने उठाया था, उसे वह पूरा न कर सका।

उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भिक वर्षों में इंग्लैण्ड में तीन प्रतिभाशाली नौजवान कवियों के नाम खासतौर पर सामने आते हैं। ये तीनों समकालीन थे और तीनों ही कम उम्र में एक-एक करके तीन साल के भीतर मर गये। ये कीट्स, शेली और बायरन थे। कीट्स को गरीबी और निरुत्साह से कठोर संघर्ष करना पड़ा और जब सन १८२१ में छब्बीस वर्ष की उम्र में रोम में उसकी मृत्यु हुई, लोग उसे नहीं जानते थे, यद्यपि उसने कुछ कविताएं तो बहुत ही सुन्दर लिखी थीं। कीट्स मध्यमवर्ग का था और दिलचस्प बात तो यह है कि यदि धनाभाव के कारण उसके मार्ग में बाधा हुई तो गरीबों के लिए कवि और लेखक बनना कितना अधिक कठिन होना चाहिए!

शेली बड़ा ही सर्वप्रिय जीव था। युवावस्था के शुरू से ही उसके दिल में एक आग भरी थी और वह हर बात में आजादी का हिमायती था। 'नागरिकता की आवश्यकता' पर एक निबन्ध लिखने के कारण उसे आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से निकाल दिया गया था। कवियों के लिए जैसा खयाल किया जाता है, इसने (और कीट्स ने भी) अपना अल्पकालिक जीवन अपनी कल्पना में और उड़ान में ही रहते-रहते बिता दिया और सांसारिक

कठिनाइयों की कुछ भी परवा न की। कीट्स की मृत्यु के साल भर बाद वह इटली के समुद्र-तट के पास डूबकर मर गया। उसकी छोटी कविताओं में से एक यहां दी जा रही है। यह उसकी सर्वोत्तम रचनाओं में से तो हरगिज नहीं है, लेकिन यह हमारी मौजूदा सभ्यता म गरीब मजदूर के भीषण दुर्भाग्य को प्रकट करती है। उसका करीब-करीब वही बुरा हाल है, जो पुराने जमाने में गुलामों का होता था। इस कविता को लिखे हुए सौ वर्ष से ज्यादा हो गये हैं, मगर फिर भी आज की परिस्थितियों पर यह लागू होती है। इसका नाम 'अराजकता का नकाब' है।

स्वतन्त्रता क्या है ?—यह तो तुम
खूब बता सकते हो।
है क्या चीज गुलामी,
क्योंकि उसका नाम
बना है नाम तुम्हारे का ही गुंजन।
यही गुलामी है
कि काम तुम करते रहो मजूरी लेकर,
केवल उतनी ही, बस जिससे
अटके रहें तुम्हारे तन में
प्राण तुम्हारे,
काल कोठरी के बन्दी की भांति
परिश्रम अत्याचारी के हित करने।
बन जाओ तुम
करघे, हल, तलवार, फावड़े, उनके
औ' जुट जाओ उनकी रक्षा में
उनके पोषण में
बिना विचारे इच्छा है या नहीं तुम्हारी।
यही गुलामी है कि तुम्हारे बच्चे
भूखों मरें और उनकी माताएं
सूख-सूख कांटा हो जायें—

देखो मेरे कहते ही कहते
जाड़े की चली हवाएं ठंडी
जिनसे मरने लगे दीन बेचारे।
तुम्हें तरसते रहना है उस भोजन को
जिसको धनवाला
मतवाला हो फेंक रहा है
अपने उन मोटे कुत्तों के आगे,
जो उसकी आंखों के नीचे
छककर मस्त पड़े हैं सोते।
यही गुलामी है
जिसमें बनना है तुमको दास
आत्मा से भी,
जिससे रहे न तुमको काबू
अपनी इच्छाओं पर,
और बनो तुम वैसे
जैसा लोग दूसरे तुम्हें बनायें।
और अन्त में जब तुम
करने लगो शिकायत
धीरे-धीरे वृथा रुदन कर,
तब अत्याचारी के नौकर
तुमको औ' पत्नियों तुम्हारी को
घोड़ों के तले कुचलकर,
ओस कणों की भांति
तुम्हारे लहू की बूंदें
देते बिछा घास पर।

बायरन ने भी आजादी की प्रशंसा में सुन्दर कविताएं लिखी हैं। मगर यह आजादी राष्ट्रीय है, शेली की कविता में वर्णित आजादी की तरह आर्थिक नहीं है। वह शेली के दो वर्ष बाद तुर्की के विरुद्ध यूनान की स्वतंत्रता के राष्ट्रीय युद्ध में मारा गया। इसे युवावस्था में ही वह ख्याति प्राप्त हो

गई, जो कीट्स को और शेली को नसीब नहीं हुई। लन्दन के समाज ने उसे सिर पर बिठाया, लेकिन फिर नीचे भी पटक दिया।

इसी समय के आसपास दो और सुप्रसिद्ध कवि हुए। वे दोनों इस युवा-त्रिमूर्ति से ज्यादा जिये। वर्ड्सवर्थ ने सन १७७० से १८५० तक अस्सी साल की उम्र पाई। वह महान अंग्रेजी कवियों में गिना जाता है। उसे प्रकृति से बड़ा प्रेम था और उसका अधिकांश काव्य निसर्ग काव्य है। दूसरा कवि कॉलरिज था। उसकी कुछ कविताएं बहुत अच्छी हैं।

उन्नीसवीं सदी के शुरू में तीन प्रसिद्ध उपन्यासकार भी हुए। वाल्टर स्काट इनमें सबसे बड़ा था और उसके वेवर्ली उपन्यास बहुत लोकप्रिय हैं। दूसरे दो उपन्यासकार थैकरे तथा डिकन्स थे। मेरे खयाल से दोनों स्काट से कहीं ऊंचे दर्जे के हैं। थैकरे का जन्म सन १८११ में कलकत्ते में हुआ था और उसने पांच-छः वर्ष यहीं बिताये थे। उसकी कुछ पुस्तकों में भारतीय नवाबों का यथार्थ वर्णन दिया गया है। ये वे अंग्रेज थे, जो अपार धनराशि जमा करके मोटे और लाल हो जाते थे और फिर मौज करने के लिए इंग्लैण्ड लौट जाते थे।

उन्नीसवीं सदी के शुरू के लेखकों के बारे में मैं बस इतना ही लिखना चाहता हूं। एक बड़े विषय के लिए यह वर्णन बहुत ही तुच्छ है। इस विषय का जानकार आदमी इस बारे में बड़े चित्ताकर्षक ढंग से लिख सकता है।

मैं इस लेख को गेटे के 'फास्ट' से एक कविता देकर पूरा कर दूंगा। अलबत्ता यह जर्मन भाषा से अनुवाद है :

अफसोस है, अफसोस है !
तूने किया है वार दुनिया पर,
गिराया है उसे भू पर,
किया है जर्जरित और
नष्ट कर उसको,
दिया है फेंक शून्याकाश में,
मानो कुचल डाला उसे
दैवी किसी आघात ने।
संसार के इन ठीकरों को

हम उठा ले जा रहे हैं,
गीत गाते हैं
लुटी सुकुमारता के,
और उस सौंदर्य के,
जो मार डाला है किसीने।
ओ पुत्र पृथ्वी के महा!
निर्माण कर उसका दुबारा,
औ' फिर सुन्दर गुणों से युक्त
तू उसको बना दे,
और कर निर्माण उसको निज हृदय में
कर प्रतिष्ठित उच्च आसन पर उसे तू!
फिर जगा तू ज्योति जीवन की,
लगा फिर दौड़ जीवन-यात्रा में,
पार कर सब विघ्न-बाधा
बज उठे लहरी स्वरों की,
सदा से भी अधिक
सुन्दर, मधुरतामय।

: ३४ :

चार्ल्स डार्विन

उन्नीसवीं सदी के बीच में, यानी सन १८५९ में, इंग्लैण्ड में एक पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसने कट्टरता और वैज्ञानिक दृष्टिकोण के संघर्ष को आखिरी दर्जे पर पहुंचा दिया। यह पुस्तक चार्ल्स डार्विन की 'प्राणि वर्ग की उत्पत्ति' (ओरिजिन ऑव स्पीशीज) थी। डार्विन की गिनती बहुत बड़े वैज्ञानिकों में नहीं है, उसने जो कुछ लिखा उसमें कोई बहुत नई बात नहीं थी। डार्विन से पहले दूसरे भूगर्भ-शास्त्रियों और प्रकृति-शास्त्रियों ने भी काम किया था और बहुत-सी सामग्री एकत्र की थी। फिर भी डार्विन का ग्रंथ युग-प्रवर्तक था। इसका व्यापक प्रभाव पड़ा और किसी

अन्य वैज्ञानिक रचना की अपेक्षा इससे सामाजिक दृष्टिकोण बदलने में ज्यादा मदद मिली। इसने एक मानसिक भूकम्प पैदा कर दिया और डार्विन को विख्यात कर दिया।

प्रकृति-शास्त्री की हैसियत से डार्विन दक्षिण अमरीका और प्रशान्त महासागर में इधर-उधर खूब घूमा था और उसने सामग्री तथा अनुमानों का जबरदस्त जखीरा इकट्ठा कर लिया था। इसका उपयोग करके उसने यह दिखाया कि जीवों का हरएक उप-वर्ग प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा किस प्रकार बदला और विकसित हुआ है। उस समय तक बहुत लोगों की यह धारणा थी कि मनुष्यसहित प्राणियों के प्रत्येक उप-वर्ग या प्रजाति को ईश्वर ने अलग-अलग रचा है, और सृष्टि के शुरू से ही वे अलग-अलग रहे हैं और उनमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। कहने का मतलब यह कि एक प्राणी-वर्ग बदलकर दूसरा नहीं बन सकता। डार्विन ने ढेरों यथार्थ उदाहरण देकर साबित कर दिया कि एक वर्ग दूसरे वर्ग में अवश्य बदलता है और विकास का यही प्राकृतिक क्रम है। ये परिवर्तन प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा होते हैं। अगर किसी छोटे-से परिवर्तन से किसी प्राणी-वर्ग को कुछ भी लाभ हुआ या दूसरों के मुकाबले में जीवित रहने में मदद मिली तो वह परिवर्तन धीरे-धीरे स्थायी हो जायगा, क्योंकि यह जाहिर है कि इस परिवर्तित वर्ग के अधिक प्राणी जियेंगे। कुछ समय बाद इस परिवर्तित वर्ग का बाहुल्य हो जायगा और वह अन्य वर्गों का सफाया कर देगा। इस तरीके से एक के बाद एक रूपान्तर तथा परिवर्तन होते चले जायंगे और कुछ समय बाद लगभग एक नया ही वर्ग पैदा हो जायगा। इस तरह समय पाकर प्राकृतिक निर्वाचन द्वारा योग्य-तमावशेष की इस प्रक्रिया के कारण बहुत-से नये-नये प्राणी-वर्ग पैदा होते रहेंगे। यह नियम पौधों, जानवरों और मनुष्यों तक पर लागू होगा। इस मत के अनुसार यह सम्भव है कि आज वनस्पति तथा जानवरों के जो विभिन्न वर्ग दिखाई दे रहे हैं, उन सबका कोई एक ही पूर्वज रहा होगा।

कुछ ही वर्ष बाद डार्विन ने अपनी दूसरी पुस्तक 'मनुष्य का अनुवंश' (इवोल्यूशन ऑव मैन) प्रकाशित की, जिसमें उसने यही मत मनुष्य-जाति पर लागू करके दिखाया। क्रम-विकास और प्राकृतिक निर्वाचन का यह विचार अब ज्यादातर लोगों ने मान लिया है, यद्यपि ठीक उसी रूप में नहीं

माना ह, जिसमें डार्विन और उसके अनुयायियों ने उसे प्रतिपादित किया था। वास्तव में जानवरों की नस्ल सुधारने तथा पौधों, फलों और फूलों के उगाने में निर्वाचन के इस नियम का व्यावहारिक प्रयोग लोगों के लिए एक साधारण चीज हो गया है। आजकल के अनेक इनामी जानवर और पौधे कृत्रिम उपायों से पैदा किये हुए नये उप-वर्ग ही तो हैं। अगर मनुष्य अपेक्षाकृत थोड़े-से समय में इस तरह के परिवर्तन तथा नये उप-वर्ग पैदा कर सकता है तो लाखों और करोड़ों वर्षों के समय में प्रकृति इस दिशा में क्या-क्या नहीं कर सकी होगी ? लन्दन के साउथ केनसिंगटन म्यूजियम जैसे किसी प्रकृति-विज्ञान-सम्बन्धी संग्रहालय को देखने से पता चलता है कि किस तरह वनस्पति और प्राणी निरन्तर अपनेको प्रकृति के अनुकूल बनाते जा रहे हैं।

आज ये सब बातें हमें स्वतःसिद्ध-सी नजर आती हैं। लेकिन सत्तर वर्ष पहले यह स्थिति नहीं थी। उस वक्त पश्चिम के ज्यादातर लोगों का यही विश्वास था कि बाइबिल के वर्णन के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति ईसा मसीह से ठीक ४००४ वर्ष पूर्व हुई थी और हरएक पेड़ और जानवर अलग-अलग पैदा किया गया था और सबसे अन्त में मनुष्य बनाया गया था। वे मानते थे कि जल-प्रलय हुआ था और नूह की नाव में सारे जानवरों के जोड़े इसलिए रखे गये थे कि किसी भी प्राणी-वर्ग का लोप न हो जाय। ये सब बातें डार्विन के मत से मेल नहीं खाती थीं। डार्विन और भूगर्भ-शास्त्री लोग जब पृथ्वी की आयु का जिक्र करते थे तो ६,००० वर्ष के अल्पकाल के बजाय करोड़ों वर्षों की बात करते थे। इस तरह लोगों के दिमाग में जबरदस्त खींच-तान मची हुई थी और बहुत-से भूले आदमियों को यह नहीं समझ पड़ता था कि क्या करें। उनकी पुरानी श्रद्धा उन्हें एक बात मानने को कहती थी और उनका विवेक दूसरी। जब मनुष्य रूढ़ियों में अन्ध-विश्वास रखते हैं और उन रूढ़ियों को धक्का लगता है तो वे अपने-आपको दुखी और असहाय महसूस करते हैं और खड़े होने के लिए उन्हें कहीं ठोस धरती दिखाई नहीं देती। मगर जिस धक्के से हमें यथार्थ का ज्ञान हो, वह अच्छा होता है।

बस इंग्लैण्ड और यूरोप के अन्य देशों में विज्ञान और धर्म के बीच बड़ा वाद-विवाद और संघर्ष हुआ। इसके परिणाम के बारे में तो कोई संदेह

ही नहीं हो सकता था। उद्योग और यंत्र-विज्ञान की नई दुनिया का दारो-मदार विज्ञान पर था, इस कारण विज्ञान को छोड़ा नहीं जा सकता था। विज्ञान की बराबर विजय होती चली गई और 'प्राकृतिक निर्वाचन' तथा 'योग्यतमावशेष' न्याय लोगों की साधारण शब्दावली में आगये और वे इनका अर्थ पूरी तरह समझे बिना ही इन वाक्यांशों का उपयोग करने लगे।

डार्विन ने अपनी 'मनुष्य का अनुवंश' में यह बताया था कि मनुष्य और कुछ बन्दर-जातियों का पूर्वज शायद एक ही रहा होगा। यह बात विकास-क्रिया की अलग-अलग सीढ़ियों के उदाहरण देकर साबित नहीं की जा सकती थी। इसीसे 'खोई हुई कड़ी' का आम मजाक चल पड़ा और विचित्र बात यह हुई कि शासक-वर्ग ने भी डार्विन के मत को तोड़-मरोड़कर उससे अपनी सुविधा का अर्थ निकाल लिया। उनका पक्का विश्वास हो गया कि इस मत में उनकी श्रेष्ठता का एक प्रमाण और भी मिल गया। जीवन-संग्राम में सबसे योग्य होने के कारण वे बच गये थे, इसलिए 'प्राकृतिक निर्वाचन' के द्वारा वे सबके ऊपर आ गये और शासक-वर्ग बन गये! एक वर्ग का दूसरे वर्ग पर या एक जाति का दूसरी जाति पर प्रभुत्व करने के पक्ष में यह एक बहाना बन गया। साम्राज्यवाद और गोरी जातियों की सर्वोपरिता की यह निर्णायक दलील हो गई और पश्चिम के बहुत लोग समझने लगे कि दूसरों पर जितनी ज्यादा धौंस जमायेंगे और जितने ज्यादा क्रूर और बलवान बनकर रहेंगे, मानव-जीवन के मूल्यों के क्रम में उनका दर्जा उतना ही ऊंचा होना सम्भव है। यह दार्शनिक विचारधारा भली नहीं है। मगर इससे एशिया और अफरीका में पश्चिम की साम्राज्यवादी शक्तियों के रवैये का रहस्य कुछ-कुछ समझ में आ जाता है।

आगे चलकर अन्य वैज्ञानिकों ने डार्विन के मत की आलोचना की है लेकिन उसके व्यापक विचार आज भी सही माने जाते हैं। उसके मत की व्यापक स्वीकृति का एक नतीजा यह हुआ कि लोगों का प्रगति के विचार में विश्वास हो गया। इस विचार का यह अर्थ था कि यह मनुष्य, समाज तथा संसार पूर्णता की ओर बढ़ रहे हैं और दिन-पर-दिन सुधरते जा रहे हैं। प्रगति की यह कल्पना केवल डार्विन के ही मत का परिणाम नहीं थी।

वैज्ञानिक खोज की सारी प्रवृत्ति ने और औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप तथा उसके बाद पैदा होनेवाले परिवर्तनों ने लोगों का दिमाग इसके लिए तैयार कर दिया था। डार्विन के मत ने इसकी पुष्टि कर दी और लोग कल्पना करने लगे की मानवीय पूर्णता का लक्ष्य कुछ भी हो, वे विजय-पर-विजय प्राप्त करते हुए अभिमान के साथ उसकी तरफ बढ़ रहे हैं। ध्यान देने की बात यह है कि प्रगति की यह कल्पना बिल्कुल नई थी। गुजरे हुए जमाने में यूरोप, एशिया या पुरानी किसी भी सभ्यता में भी ऐसी कोई कल्पना रही हो, ऐसा नही लगता। यूरोप में ठेठ औद्योगिक क्रान्ति तक लोग भूतकाल को आदर्श काल मानते थे। यूनान और रोम की उत्कृष्ट रचनाओं का पुराना जमाना बाद के जमानों से अधिक श्रेष्ठ, समुन्नत तथा सुसंस्कृत माना जाता था। लोग ऐसा समझने लगे थे कि मनुष्य-जाति का क्रमागत ह्रास या पतन होता जा रहा है, या कम-से-कम कोई स्पष्ट परिवर्तन नहीं हो रहा है।

भारत में भी ह्रास की तथा विगत स्वर्णयुग की लगभग ऐसी ही धारणा है। भारतीय पुराण भी समय की गणना भौगर्भिक युगों की तरह दीर्घकालीन युगों में करते है, परन्तु वे सतयुग से शुरू करके कलियुग के वर्तमान अधर्म युग पर आते हैं।

इसलिए हम देखते हैं मानव-प्रगति की कल्पना बिल्कुल आधुनिक है। प्राचीन इतिहास का हमें जैसा कुछ ज्ञान है, उससे हमें इस कल्पना में विश्वास होता है। लेकिन हमारा ज्ञान अभी बहुत परिमित है और सम्भव है, इस ज्ञान में वृद्धि होने पर हमारा दृष्टिकोण बदल जाय। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इस 'प्रगति' की बाबत जितना उत्साह था, उतना तो आज भी नहीं रहा है। अगर प्रगति का नतीजा यही हो कि पिछले महायुद्ध की तरह हम एक-दूसरे को बड़े पैमाने पर नष्ट करें तब तो ऐसी प्रगति में कुछ-न-कुछ खराबी है। दूसरी बात यह याद रखने की यह है कि डार्विन के 'योग्यतमावशेष' न्याय का जरूरी अर्थ यह नहीं है कि जीवन-संग्राम में श्रेष्ठतम ही अवशेष रहता है। ये सब तो विद्वानों के अनुमान हैं। हमारे ध्यान में रखने की बात तो सिर्फ यह है कि अचल या अपरिवर्तनशील या पतनशील समाज के पुराने और व्यापक विचार को उन्नीसवीं सदी में आधुनिक विज्ञान ने एक तरफ धकेल दिया और उसकी जगह पर यह विचार फैल गया कि समाज गति-

शील और परिवर्तनशील है। इसके साथ ही प्रगति का विचार भी पैदा हुआ और इसमें सन्देह नहीं कि इस जमाने में समाज वास्तव में इतना बदल गया है कि उसे पहचाना नहीं जा सकता।

जब मैं डार्विन का प्राणी-वर्गों के मूल का मत बता रहा हूं, तो यह जानना और भी दिलचस्प होगा कि इस विषय में एक चीनी दार्शनिक ने २,५०० वर्ष पहले क्या लिखा था। उसका नाम त्सोन-त्से था और उसने ईसा से छः सौ वर्ष पहले, बुद्धकाल के आस-पास लिखा था :

"सब प्राणी-वर्गों की उत्पत्ति एक ही वर्ग से हुई है। इस अकेले मूल वर्ग में धीरे-धीरे तथा निरन्तर परिवर्तन होते गये, जिसके फलस्वरूप प्राणियों के विभिन्न रूप प्रकट हुए। इन प्राणियों में तुरन्त ही विभिन्नता नहीं पैदा हुई थी, बल्कि इसके विपरीत उन्होंने अपनी भिन्नताएं पीढ़ी-दर-पीढ़ी धीरे-धीरे होनेवाले परिवर्तनों से प्राप्त की थीं।"

यह सिद्धान्त डार्विन के सिद्धान्त से काफी मिलता-जुलता है और यह चकित करनेवाली बात है कि यह पुराना चीनी प्राणी-शास्त्री ऐसे परिणाम पर पहुंच गया, जिसकी फिर से खोज करने में संसार को ढाई हजार साल लग गये।

जैसे-जैसे उन्नीसवीं सदी प्रगति करती गई, वैसे-वैसे परिवर्तनों की गति भी तेज होती गई। विज्ञान ने चमत्कार-पर-चमत्कार प्रकट किये और खोज तथा आविष्कार के कभी समाप्त न होनेवाले भव्य दृश्य से लोगों की आंखें चौंधिया गई। इनमें से तार, टेलीफोन, मोटर और फिर हवाई जहाज-जैसे कितने ही आविष्कारों ने जनता के जीवन में महान परिवर्तन कर दिया है। विज्ञान ने दूर-से-दूर आकाश, अदृश्य परमाणु और उसके भी छोटे हिस्सों को नापने की हिम्मत की। उसने मनुष्य की थकानेवाली मशक्कत कम कर दी और करोड़ों का जीवन सुभीते का हो गया। विज्ञान के कारण दुनिया की और खासकर औद्योगिक देशों की आबादी में जबरदस्त वृद्धि हो गई। साथ ही विज्ञान ने विनाश के पूरे कामिल साधन भी तैयार कर डाले। मगर इसमें विज्ञान का दोष नहीं था। इसने तो प्रकृति पर मनुष्य का काबू बढ़ा दिया, मगर इस तमाम शक्ति को प्राप्त करके मनुष्य यह नहीं जान पाया कि अपने ऊपर काबू कैसे किया जाता है। इसलिए उसने अनुचित

व्यवहार किया और विज्ञान की देन को व्यर्थ गंवा दिया। लेकिन विज्ञान की यह विजय-यात्रा जारी रही और उसने डेढ़सौ साल के भीतर ही दुनिया की काया ऐसी पलट दी, जैसी पिछले तमाम हजारों वर्षों में भी नहीं हो पाई थी। सचमुच विज्ञान ने हर दिशा में और जीवन के हर विभाग में संसार-व्यापी क्रान्ति कर दी है।

विज्ञान की यह प्रगति अब भी चल रही है और वह पहले से भी ज्यादा तेजी से दौड़ता नजर आ रहा है। उसके लिए कोई विश्राम नहीं है। एक रेल-मार्ग बनता है, मगर जबतक उसके चालू होने का समय आता है तबतक वह समयानुकल ही नहीं रह जाता है! एक मशीन खरीदकर खड़ी की जाती है कि एक-दो साल में ही उसी तरह की उससे बढ़िया और ज्यादा कारगर मशीनें बनने लगती हैं। बस, यह बेतहाशा दौड़ चलती रहती है।

: ३५ :

लोकतंत्र के प्रतिपादक

अठारहवीं सदीके उत्तरार्द्ध में इंग्लैण्ड में एक मार्के की पुस्तक निकली। यह ऐडम स्थिम की 'राष्ट्रों की सम्पत्ति' (वेल्थ ऑव नेशन्स) थी। यह पुस्तक राजनीनि पर नहीं थी, बल्कि राजनैतिक अर्थशास्त्र पर थी। उस समय के अन्य सब विषयों की तरह यह विषय भी धर्म और नीति के साथ मिला हुआ था और इसलिए इसके बारे में बड़ा घपला था। ऐडम स्मिथ ने इस विषय का वैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया और तमाम नैतिक उलझनों की उपेक्षा करके अर्थशास्त्र का संचालन करनेवाले स्वाभाविक नियमों का पता लगाने की कोशिश की। अर्थशास्त्र इस बात की विवेचना करता है कि लोगों के या किसी समूचे देश की आय और व्यय की व्यवस्था कैसे की जाती है, वे क्या पैदा करते हैं और क्या उपभोग करते हैं, और आपस में तथा दूसरे देशों और जातियों के साथ उनके क्या संबंध हैं। ऐंडम स्मिथ का विश्वास था कि ये सारी विशेष जटिल प्रक्रियाएं कुछ निश्चित स्वाभाविक नियमों के अनुसार होती हैं और इन नियमों का उसने अपनी पुस्तक में उल्लेख किया। उसका यह भी विश्वास था कि उद्योग-धंधों के

विकास के लिए पूरी स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए, जिससे इन नियमों में खलल न पड़े। उस समय फ्रान्स में जो नये लोकतंत्री विचार अंकुरित हो रहे थे, उनसे ऐडम स्मिथ की पुस्तक का कोई वास्ता न था। परन्तु मनुष्यों तथा राष्ट्रों पर प्रभाव डालनेवाली एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या के वैज्ञानिक निरूपण का उसका प्रयत्न जाहिर करता है कि लोग हर चीज को पुरानी धर्मशास्त्रीय दृष्टि से देखना छोड़कर एक नई दिशा में जा रहे थे। ऐडम स्मिथ अर्थशास्त्र के विज्ञान का जन्मदाता माना जाता है और उसने उन्नीसवीं सदी के अनेक अंग्रेज अर्थशास्त्रियों को प्रेरणा दी है।

अर्थशास्त्र का यह नया विज्ञान प्रोफेसरों तक तथा कुछ सुपठित लोगों तक ही सीमित रहा। लेकिन इसी बीच नये लोकतन्त्री विचार फैल रहे थे और अमरीका तथा फ्रान्स की राज्य-क्रान्तियों ने उन्हें खूब ही लोकप्रिय बनाया और उनका जबरदस्त प्रचार किया। अमरीका की स्वाधीनता की घोषणा तथा फ्रान्स की अधिकारों की घोषणा के लच्छेदार शब्दों और वाक्यांशों ने लोगों के दिलों में गहरी हलचल मचा दी। इनसे करोड़ों पीड़ितों और शोषितों के दिल फड़क उठे और उनके लिए ये मुक्ति का संदेश लेकर आये। दोनों घोषणाओं में हर आदमी की स्वतन्त्रता का और समानता का और सुखी रहने के हक का उल्लेख था। लेकिन इन प्राणप्रिय अधिकारों की अभिमान-पूर्ण जोरदार घोषणा से ही लोगों को ये प्राप्त नहीं हो गये। आज इन घोषणाओं के डेढ़सौ वर्ष बाद भी यह कहा जा सकता है कि इन अधिकारों का उपभोग करनेवालों की संख्या नहीं के बराबर है। लेकिन इन सिद्धान्तों की घोषणा ही एक असाधारण और जीवन देनेवाली बात थी।

अन्य देशों की तरह यूरोप में भी तथा अन्य धर्मों की तरह ईसाई धर्म में भी पुरानी धारणा यह थी कि पाप और दुख सभी मनुष्यों को अनिवार्य रूप से भोगने पड़ते हैं। धर्म ने मानो इस संसार में दरिद्रता तथा मुसीबत को एक स्थायी और यहांतक कि प्रतिष्ठित आसन दे दिया था। धर्म के प्रलोभन और पुरस्कार तमाम किसी परलोक के लिए थे, यहां तो हमें यही उपदेश दिया जाता था कि संतोष के साथ अपने भाग्य के भोगों को बरदाश्त करते रहें और किसी मौलिक परिवर्तन के पीछे न पड़ें। दान-पुण्य, यानी गरीबों को टुकड़े डालने की वृत्ति को प्रोत्साहित किया जाता था, मगर गरीबी

या गरीबी पैदा करनेवाली प्रणाली का नाश करने की कोई कल्पना नहीं थी। स्वतन्त्रता और समानता के तो विचार ही चर्च और समाज के अधिकारवादी दृष्टिकोण के विरोधी थे।

लोकतंत्रवाद का यह तो कभी कहना नहीं था कि सब मनुष्य यथार्थ में समान हैं। वह ऐसा कह भी नहीं सकता था, क्योंकि यह तो स्पष्ट ही है कि मनुष्य-मनुष्य के बीच असमानताएं होती हैं—शारीरिक असमानताएं, जिनके कारण ही कुछ लोग दूसरों से बलवान होते हैं; मानसिक असमानताएं, जो कुछ लोगों के दूसरों से अधिक योग्य तथा बुद्धिमान होने में दिखाई देती हैं; और नैतिक असमानताएं, जो कुछको स्वार्थी बनाती हैं और कुछको नहीं। यह बिल्कुल सम्भव है कि इनमें बहुत-सी असमानताएं भिन्न-भिन्न प्रकार के भरण-पोषण तथा शिक्षा के कारण अथवा अशिक्षा के कारण होती हों। दो समान योग्यतावाले लड़कों या लड़कियों में से एक को अच्छी शिक्षा दो और दूसरे को बिल्कुल न दो तो कुछ वर्ष बाद दोनों में जबरदस्त अंतर हो जायगा। या एक को स्वास्थ्यप्रद भोजन दो और दूसरे को खराब और नाकाफी भोजन दो तो पहले की ठीक वृद्धि होगी और दूसरा कमजोर, रोगी और दुबला-पतला रहेगा। इसलिए भरण-पोषण, वातावरण, तालीम और शिक्षा मनुष्य में भारी भेद पैदा कर देते हैं और हो सकता है कि अगर सबको एक ही तरह की तालीम और सुविधाएं मिलें तो असमानता आज से बहुत कम हो जाय। वास्तव में यह बहुत सम्भव है। लेकिन जहांतक लोकतंत्रवाद का सम्बन्ध है, वह मानता है कि यथार्थ में मनुष्य असमान होते हैं, और फिर भी वह कहता है कि हरएक मनुष्य के साथ ऐसा बरताव किया जाना चाहिए, मानो उसका राजनैतिक और सामाजिक महत्व सबके बराबर है। यदि इस लोकतंत्री सिद्धान्त को पूरी तरह मान लें तो हम तरह-तरह के क्रान्तिकारी नतीजों पर पहुंच जाते हैं। इस सिद्धान्त से स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि शासन-सभा या पार्लमिण्ट के लिए चुनाव में हर व्यक्ति को वोट देने का अधिकार होना चाहिए। वोट देने का अधिकार राजनैतिक सत्ता का प्रतीक है और यह मान लिया गया है कि अगर हर आदमी को वोट का अधिकार हो तो उसे राजनैतिक सत्ता में बराबर का हिस्सा मिल जायगा। बालिग-मताधिकार का अर्थ यह है कि हर बालिग व्यक्ति को

वोट देने का अधिकार हो। बहुत समय तक स्त्रियों को वोट देने का अधिकार नहीं था, और बहुत दिन नहीं हुए, जब स्त्रियों ने, खासतौर पर ब्रिटेन में, इस बारे में जबरदस्त आन्दोलन किया था। अधिकांश उन्नत देशों में आजकल स्त्रियों और पुरुषों दोनों को बालिग-मताधिकार प्राप्त है।

मगर विचित्र बात यह हुई कि जब ज्यादातर लोगों को वोट का अधिकार मिल गया, तब उन्हें मालूम पड़ा कि इससे उनकी हालत में कोई बड़ा अन्तर नहीं हुआ। वोट का अधिकार मिल जाने पर भी राज्य में या तो उन्हें कुछ भी सत्ता नहीं मिली या बहुत ही थोड़ी मिली। भूखे आदमी को मताधिकार किस काम का ? असली सत्ता तो उन लोगों के हाथों में रही, जो उसकी भूख से फायदा उठा सकते थे और उसे मजबूर करके अपने फायदे का कोई भी मनचाहा काम उनसे करा लेते थे। बस, वोट के अधिकार से जिस राजनैतिक सत्ता के मिलने का खयाल था, वह बिना असलियत की परछाईं और आर्थिक सत्ता-रहित साबित हुई। शुरू के लोकतंत्रवादियों के वे रौनकदार सपने कि मताधिकार मिलते ही समानता आ जायगी, विलीन हो गये।

मगर यह बात तो बहुत आगे चलकर पैदा हुई। शुरू के दिनों में, यानी अठारहवीं सदी के अन्त और उन्नीसवीं के शुरू में, लोकतंत्रवादियों में बड़ा जोश था। लोकतंत्र सबको आजाद और समान नागरिक बनानेवाला था और सरकार तथा राज्य सबके सुख का उपाय करनेवाले ! अठारहवीं सदी के बादशाहों और सरकारों ने जैसी मनमानी चलाई थी और अपनी निरंकुश सत्ता का जैसा दुरुपयोग किया था, उसके विरुद्ध बड़ी प्रतिक्रिया हुई। इससे इन लोगों को अपनी घोषणाओं में व्यक्तियों के अधिकारों का भी ऐलान करना पड़ा।

इंग्लैण्ड, जो अठारहवीं सदी में राजनैतिक विचारों में पिछड़ा हुआ था, अमरीका और फ्रान्स की राज्यक्रान्तियों से बहुत प्रभावित हुआ। उसपर पहली प्रतिक्रिया तो इस भय की हुई कि नये लोकतंत्री विचारों से देश में सामाजिक क्रान्ति न हो जाय। शासक-वर्ग पहले से भी ज्यादा कट्टर और प्रतिगामी हो गये। फिर भी पढ़े-लिखे दिमाग के लोगों में नये विचार फैलते गये। टामस पेन इस जमाने का एक आकर्षक अंग्रेज हुआ। स्वाधीनता के युद्ध के समय वह अमरीका में था और उसने अमरीकावासियों की मदद

की थी। मालूम होता है कि अमरीकी लोगों का विचार पूर्ण स्वाधीनता के पक्ष में बदल देने में इसका भी कुछ हाथ था। इंग्लैण्ड लौटने पर उसने फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति के समर्थन में 'मनुष्य के अधिकार' (राइट्स ऑव मैन) नामक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में उसने एकतंत्री शासन पर हमला किया और लोकतंत्र की हिमायत की। इसके कारण ब्रिटिश सरकार ने उसे बागी घोषित कर दिया और उसे भागकर फ्रान्स चला जाना पड़ा। पेरिस में वह बहुत जल्द राष्ट्र परिषद का सदस्य बन गया, मगर सन १७९३ में जैकोबिन लोगों ने उसे कैद कर दिया, क्योंकि उसने सोलहवें लुई के वध का विरोध किया था। पेरिस के जेलखाने में उसने 'तर्क का युग' (दि एज ऑव रीजन) नाम की दूसरी पुस्तक लिखी। इसमें उसने धार्मिक दृष्टिकोण की आलोचना की। रोबसपीयरी की मृत्यु के बाद उसे पेरिस जेल से छोड़ दिया गया। चूंकि पेन अंग्रेजी अदालतों की सीमा के बाहर था, इसलिए इस पुस्तक को छापने के अपराध में उसके अंग्रेज प्रकाशक को कैद की सजा दे दी गई। ऐसी पुस्तक समाज के लिए खतरनाक समझी गई, क्योंकि गरीबों को जहां-का-तहां रखने के लिए धर्म जरूरी माना जाता था। पेन की पुस्तक के कई प्रकाशक जेल भेज दिये गए। इनमें स्त्रियां भी थीं। यह दिलचस्प बात है कि कवि शेली ने इस सजा के विरोध में न्यायाधीश को एक पत्र लिखा था।

उन्नीसवीं सदी के सारे पूर्वार्द्ध में जो लोकतंत्री विचार फैले, यूरोप में उनकी जन्मदात्री फ्रान्स की राज्यक्रान्ति थी। परिस्थितियां जल्दी-जल्दी बदल रही थीं, फिर भी क्रांति के विचार वास्तव में बने ही रहे। ये लोकतंत्री विचार बादशाहों के तथा निरंकुशता के विरुद्ध बौद्धिक प्रतिक्रिया थे। लेकिन लोगों के लिए पुराने विचार छोड़ना और नये ग्रहण करना असाधारण तौर पर कठिन होता है। वे अपनी आंखों और अपने दिमागों को बन्द कर लेते हैं और देखने से ही इन्कार कर देते हैं और पुरानी बातों से उन्हें नुकसान पहुंचता हो तो भी उनसे चिपके रहने के लिए लड़ते हैं। रूढ़ियों की बड़ी जबरदस्त शक्ति होती है। अपनेको बहुत उन्नतिशील समझनेवाले वामपक्षी लोग भी अक्सर पुराने और थोथे विचारों से चिपके रहते हैं और बदलती हुई परिस्थितियों की तरफ से आंखें मूंद लेते हैं। कोई ताज्जुब नहीं कि प्रगति धीमी पड़ जाती है और अक्सर करके वास्तविक

परिस्थितियां लोगों के विचारों से बहुत पीछे रह जाती हैं, जिसका नतीजा यह होता है कि क्रान्तिकारी अवस्थाएं पैदा हो जाती हैं।

बीसियों वर्षों तक लोकतंत्रवाद का काम केवल फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति के विचारों और परम्पराओं को जारी रखना ही रहा। लोकतन्त्रवाद ने अपने-आपको नई परिस्थितियों में नही ढाला। इसका परिणाम यह हुआ कि सदी का अन्त होते-होते वह कमजोर पड़ गया और बाद में बीसवी सदी में तो बहुतों ने उसे अस्वीकार ही कर दिया।

शुरू के लोकतंत्रवादियों का बुद्धिवाद की शरण में जाना स्वाभाविक था। विचार और भाषण की स्वतंत्रता की उनकी मांग का रूढ़िवादी धर्म तथा धर्म-शास्त्रवाद के साथ समझौता होना असम्भव था। इस तरह लोकतंत्रवाद और विज्ञान ने मिलकर धर्मशास्त्रीय रूढ़ियों का शिकंजा ढीला किया। लोग बाइबिल की भी परीक्षा करने का साहस करने लगे, मानो वह एक साधारण पुस्तक थी और ऐसी चीज नहीं थी, जिसे बिना शंका के अंधभक्ति के साथ स्वीकार कर लिया जाय। बाइबिल की इस आलोचना को 'ऊंचे दरजे की आलोचना' कहा गया। इन आलोचकों ने यह नतीजा निकाला कि बाइबिल अलग-अलग युगों के विभिन्न व्यक्तियों के लेखों का संग्रह है। उनका यह भी मत था कि ईसा का कोई धर्म-संस्थापन करने का इरादा नहीं था। इस आलोचना से कितने ही पुराने विश्वास हिल गये।

जैसे-जैसे विज्ञान और लोकतंत्री विचारों के कारण पुरानी धार्मिक नीवें कमजोर होती गईं, वैसे-वैसे पुराने धर्म की जगह बिठाने के लिए एक नया दर्शन रचने के प्रयत्न किये गए। ऐसा ही एक प्रयत्न आगस्त काम्ते नामक फ्रान्सीसी दार्शनिक ने किया था। इसका समय सन १७९८ से १८५७ तक है। काम्ते ने महसूस किया कि पुराने धर्म-शास्त्रवाद तथा पुराणपन्थी धर्म का समय जाता रहा, मगर उसे यह भी विश्वास हो गया कि समाज को किसी-न-किसी धर्म की आवश्यकता जरूर है। इसलिए उसने 'मानव-धर्म' का प्रस्ताव किया और उसका नाम प्रत्यक्षवाद रखा। इसके आधार प्रेम, व्यवस्था और उन्नति रखे गये। इसमें कोई बात अलौकिक नहीं थी, इसका आधार विज्ञान था। उन्नीसवीं सदी की अन्य सब प्रचलित विचार-धाराओं की तरह इस विचारधारा के पीछे भी मानव-जाति की तरक्की की

कल्पना थी। कान्ते के धर्म पर कुछ गिने-चुने दिमागी लोगों का ही विश्वास रहा, मगर यूरोप के विचारों पर उसका व्यापक असर खूब पड़ा। मानव-समाज तथा संस्कृति की विवेचना करनवाले समाजशास्त्र के विज्ञान का अध्ययन इसीका प्रारम्भ किया हुआ समझना चाहिए।

अंग्रेज दार्शनिक और अर्थशास्त्री जॉन स्टुअर्ट मिल (सन १८०६-१८७३) कान्ते का समकालीन था, मगर वह कान्ते की मृत्यु के बहुत वर्ष बाद तक जीवित रहा। मिल पर कान्ते की विवेचना तथा समाजवादी विचारों का प्रभाव पड़ा था। ऐडम स्मिथ की विवेचनाओं को केन्द्र मानकर राज-नैतिक अर्थशास्त्र का जो पन्थ इंग्लैण्ड में बन गया था, उसे मिल ने नई दिशा में ले जाने का प्रयत्न किया और उसनें आर्थिक विचारों में कुछ समाजवादी सिद्धान्तों का प्रवेश कराया। मगर उसकी सबसे ज्यादा ख्याति उपयोगि-वाद के आचार्य के रूप में है। उपयोगितावाद का सिद्धान्त नया था, जो इंग्लैण्ड में चल तो कुछ समय पहले ही चुका था, मगर उसे अधिक महत्व दिया मिल ने। जैसाकि इसके नाम से पता चता है, इसका निर्देशक तत्वज्ञान 'उपयोग' था। उपयोगितावादियों का मौलिक सिद्धान्त था "अधिकतम लोगों का अधिकतम सुख"। भलाई-बुराई की केवल यही कसौटी थी। जो काम जितना ज्यादा सुख बढ़ानेवाला होता, वह उतना ही अच्छा कहा जाता और जो जितना दुख बढ़ाता, वह उतना ही बुरा माना जाता। समाज और सरकार का संगठन ज्यादा-से-ज्यादा लोगों के सुख में ज्यादा-से-ज्यादा वृद्धि करने की दृष्टि से होना उचित माना गया। यह दृष्टिकोण पहलेवाले सबको बराबर अधिकार के लोकतंत्रवादी सिद्धान्त से भिन्न था। ज्यादा-से-ज्यादा लोगों के ज्यादा-से-ज्यादा सुख के लिए थोड़-से लोगों के बलिदान की या क्लेश की जरूरत हो सकती है। इस तरह लोकतंत्र का अर्थ बहुमत के अधिकार माना जाने लगा।

जॉन स्टुअर्ट मिल व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लोकतंत्री विचार का जोरदार प्रतिपादक था। उसने 'स्वतंत्रता पर' (ऑन लिबर्टी) नामक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी, जो प्रसिद्ध होगई। इस पुस्तक में भाषण की स्वतंत्रता का तथा विचारों की स्वतंत्र अभिव्यक्ति का समर्थन किया गया है।

ऐसे रुख का रूढ़िवादी धर्म या निरंकुशता के साथ समझौता नहीं हो सकता था। यह तो दार्शनिक का, सत्य के खोजी का रवैया था।

मैंने उन्नीसवीं सदी के पश्चिमी यूरोप के कुछ प्रमुख विचारकों के नाम बता दिये हैं, ताकि विचारधाराओं के विकास की दिशा का पता लग जाय और ये नाम विचारों की दुनिया के मार्गदर्शक चिह्न बन जायं। मगर इन लोगों का और आमतौर पर शुरू के लोकतंत्रवादियों का प्रभाव करीब-करीब दिमागी वर्गो तक ही सीमित था। इन दिमागी लोगों से छनकर वह कुछ हद तक अन्य लोगों में भी पहुंच गया था। यद्यपि इस लोकतंत्री विचारधारा का सीधा प्रभाव जनता पर बहुत मामूली पड़ा, लेकिन अप्रत्यक्ष प्रभाव खूब हुआ। मताधिकार की मांग-जैसे कुछ मामलों में तो सीधा प्रभाव भी बहुत पड़ा।

: ३६ :

कार्ल मार्क्स

उन्नीसवीं सदी के बीच के आसपास यूरोप के मजदूर और समाजवादी संसार में एक नये और चित्ताकर्षक व्यक्तित्ववाला आदमी प्रकट हुआ। यह कार्ल मार्क्स था। वह एक जर्मन यहूदी था। उसका जन्म सन १८१८ में हुआ था। उसने कानून, इतिहास और दर्शनशास्त्र का अध्ययन किया। एक अखबार निकालने के कारण उसका जर्मनी के अधिकारियों से झगड़ा हो गया। वह पेरिस चला आया, जहां वह नये-नये लोगों के सम्पर्क में आया। उसने समाजवाद और अराजकतावाद पर नई-नई किताबें पढ़ीं और वह समाजवादी विचारधारा का समर्थक बन गया। वहीं पेरिस में फ्रेडरिक एंजेल्स नामक एक और जर्मन से उसकी मुलाकात हुई। एंजेल्स इंग्लैण्ड से आकर बस गया था और वहां कपड़े के बढ़ते हुए उद्योग में एक धनवान कारखानेदार बन गया था। एंजेल्स भी वर्तमान सामाजिक स्थिति से दुखी और असन्तुष्ट था और उसका दिमाग चारों तरफ दीखनेवाली गरीबी और शोषण के इलाज की तलाश कर रहा था। रॉबर्ट ओवेन के सुधार-सम्बन्धी विचार और प्रयत्न उसे बहुत भाये

और वह ओवेन का अनयायी बन गया। पेरिस की यात्रा ने, जिसके फल-स्वरूप कार्ल मार्क्स से उसकी पहली भेंट हुई, उसके विचारों को भी बदल दिया। तबसे मार्क्स और एंजेल्स गहरे दोस्त और साथी हो गये। दोनों के एक-से विचार थे और दोनों एक ही उद्देश्य के लिए दिलोजान से मिलकर काम करने लगे। आयु भी दोनों की लगभग समान थीं। उनका सहयोग इतना गहरा था कि जो पुस्तकें उन्होंने प्रकाशित कीं, उनमें से ज्यादातर दोनों की सम्मिलित लिखी हुई थीं।

फ्रान्स की तत्कालीन सरकार ने मार्क्स को पेरिस से निकाल दिया। यह लुई फिलिप का जमाना था। मार्क्स लन्दन चला गया और वहां बहुत वर्ष तक रहा। वहां वह ब्रिटिश म्यूजियम की पुस्तकों को पढ़ने में डूबा रहता। उसने कठिन परिश्रम करके अपने मतों को परिपुष्ट किया और फिर उनपर लिखने लगा। मगर वह कोरा अध्यापक या दार्शनिक नहीं था, जो बैठा-बैठा मत गढ़ा करता हो और दुनिया की बातों से सरोकार न रखता हो। जहां उसने समाजवादी आन्दोलन की अस्पष्ट विचारधारा का विकास किया और उसे स्पष्ट किया और उसके सामने निश्चित और साफ-साफ विचार और ध्येय उपस्थित किये, वहां उसने यूरोप में मजदूरों और उनके आन्दोलन को संगठित करने में भी क्रियात्मक और प्रमुख भाग लिया। सन १८४८ में, जो क्रान्तियों का वर्ष कहलाता है, जो घटनाएं हुईं, उनसे मार्क्स का हृदय स्वभावतः ही बहुत द्रवित हुआ। उसी साल उसने और एंजेल्स ने एक सम्मिलित घोषणा-पत्र प्रकाशित किया, जो बहुत प्रसिद्ध हो चुका है। यह 'साम्यवादी घोषणा-पत्र' था, जिसमें उन्होंने उन विचारों की विवेचना की, जो फ्रान्स की महान राज्यक्रान्ति की और बाद में सन १८३० और सन १८४८ के विद्रोहों की जड़ में थे। उन्होंने इस घोषणा-पत्र में यह भी बतलाया कि वे विचार न तो वास्तविक परिस्थितियों के लिए काफी थे और न उनसे मेल खाते थे। उन्होंने उस समय की स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृभाव की लोकतंत्रवादी पुकारों की आलोचना की और यह दिखाया कि जनता के लिए ये कोई अर्थ नहीं रखतीं, केवल मध्यमवर्गी राज्य पर पवित्रता की झूठी परत चढ़ा देती हैं। आगे चलकर उन्होंने संक्षेप में समाजवाद के अपने मत का प्रतिपादन किया और घोषणा-पत्र के अन्त में उन्होंने सारे मजदूरों से इन

शब्दों में अपील की—"संसार के मजदूरो, एक हो जाओ। तुम्हें खोना कुछ नही है, सिवाय अपनी गुलामी की जंजीरों के, और पाने को तुम्हारे लिए संसार पड़ा है !"

यह अपील कार्रवाई करने के लिए आवाहन थी। इसके बाद मार्क्स ने अखबारों और पर्चों के जरिये निरन्तर प्रचार शुरू कर दिया और मजदूर संगठनों को एक करने की दिन-रात कोशिश करने लगा। ऐसा जान पड़ता है कि उसे यूरोप में कोई बड़ा संकट-काल आता दिखाई दे रहा था और वह चाहता था कि मजदूर उसके लिए तैयार रहें, ताकि वे उससे पूरा फायदा उठा सकें। उसके समाजवादी मत के अनुसार पूंजीवादी प्रणाली में सचमुच ऐसा संकट-काल आये बिना रह ही नहीं सकता था। सन १८५४ में न्यूयार्क के एक अखबार में मार्क्स ने लिखा था:

"फिर भी हमें यह न भूलना चाहिए कि यूरोप में छठी शक्ति भी है, जो खास-खास मौकों पर पांचों कथित 'महान शक्तियों' पर अपनी प्रभुता रखती है और उन सबको थर्रा देती है। यह शक्ति क्रान्ति की है। बहुत दिन चुपचाप एकान्तवास करने के बाद अब संकट और भूख इसे फिर लड़ाई के मैदान में बुला रहे हैं। सिर्फ एक इशारे की जरूरत है। फिर तो यूरोप की छठी और सबसे महान शक्ति चमकता हुआ कवच पहने और हाथ में तलवार लिये हुए दुर्गा की तरह निकल पड़ेगी। यह इशारा आनेवाले यूरोप के युद्ध से मिल जायगा।"

यूरोप की अगली क्रान्ति के बारे में मार्क्स की भविष्यवाणी ठीक नहीं निकली। उसके लिखने के साठ साल बाद और एक संसारव्यापी युद्ध के बाद कहीं जाकर यूरोप के एक हिस्से में क्रान्ति हुई। यह तो हम देख ही चुके हैं कि पेरिस के पंचायती राज्य के रूप में सन १८७१ में क्रान्ति की जो कोशिश हुई, वह निर्दयता के साथ कुचल दी गई थी।

सन १८६४ में मार्क्स लन्दन में एक खिचड़ी सभा बुलाने में सफल हुआ। उसमें अनेक दलों के लोग, जो अपनेको मोटे तौर पर समाजवादी कहते थे, इकट्ठे हुए। एक तरफ तो यूरोप के कई पराधीन देशों के लोक-तंत्रवादी और देशभक्त थे, जो समाजवाद में श्रद्धा तो रखते थे, पर उसे बहुत दूर की चीज समझते थे। उनकी ज्यादा दिलचस्पी तो तुरन्त राष्ट्रीय

स्वाधीनता प्राप्त करने में थी। दूसरी तरफ अराजकतावादी लोग थे, जो तुरंत लड़ाई मोल लेना चाहते थे। सभा में मार्क्स के अलावा दूसरा प्रभावशाली व्यक्ति अराजकतावादी नेता बाकुनिन था। वह कई वर्ष साइबेरिया में कैद रहकर तीन साल पहले भागकर निकल आया था। बाकुनिन के अनुयायी खासतौर पर दक्षिण यूरोप के इटली और स्पेन वगैरह से आये थे, जिनमें बड़े उद्योग-धंधों का विकास नहीं हुआ था और वे इस दिशा में पिछड़े हुए थे। वे बेकार दिमागी लोग और तरह-तरह के अन्य क्रान्तिकारी लोग थे, जिनको तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में कोई जगह नहीं मिलती थी। मार्क्स के अनुयायी औद्योगिक देशों से, खासकर जर्मनी से, आये थे, जहां मजदूरों की हालत अच्छी थी। इस तरह मार्क्स तो बढ़ते हुए, संगठित और कुछ खुशहाल मजदूर-वर्ग का प्रतिनिधि था और बाकुनिन गरीब और असंगठित मजदूरों और दिमागी और असंतुष्ट लोगों का। मार्क्स का कहना था कि जबतक कुछ कर गुजरने की घड़ी आये, तबतक धीरज के साथ संगठन किया जाय और मज़दूरों को उसके समाजवादी मतों का ज्ञान कराया जाय। बाकुनिन और उसके अनुयायी तुरंत ही कार्रवाई करने के पक्ष में थे। सब बातों को देखते हुए जीत मार्क्स की हुई। अन्तर्राष्ट्रीय मज़दूर संघ की स्थापना हुई। यह मजदूरों का प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संगठन था।

तीन साल बाद, यानी सन १८६७ मार्क्स का महान ग्रंथ 'कैपिटल' अर्थात 'पूजी' जर्मन भाषा में प्रकाशित हुआ। लंदन में उसने बहुत वर्षों तक जो मेहनत की थी, यह उसीका परिणाम था। इसमें उसने प्रचलित आर्थिक सिद्धान्तों का विश्लेषण करके उनकी आलोचना की और अपना समाजवादी मत विस्तार के साथ समझाया। यह शुद्ध वैज्ञानिक ग्रंथ था। उसने सारी अनिश्चित और आदर्शवाद की बातें छोड़कर निष्पक्ष और वैज्ञानिक ढंग से इतिहास और अर्थशास्त्र के विकास की आलोचना की। उसने खासतौर पर बड़ी मशीनों और औद्योगिक सभ्यता के विकास की चर्चा की, और क्रम-विकास, इतिहास तथा मानव-समाज में वर्गों के संघर्ष के बारे में कुछ दूर तक असर डालनेवाले नतीजे निकाले। मार्क्स का यह नया, पूर्ण, स्पष्ट और अकाट्य तर्कसम्मत समाजवाद इसीलिए 'वैज्ञानिक समाजवाद' कहलाया, क्योंकि यह उस अस्पष्ट, लोकोत्तर या 'आदर्शवादी' समाजवाद से भिन्न था,

जो अबतक प्रचलित था। मार्क्स की 'पूंजी' कोई सरल पुस्तक नहीं है, मन-बहलाव की पुस्तकों में और इसमें कल्पनातीत अन्तर है। फिर भी यह उन थोड़ी-सी चुनी हुई पुस्तकों में से है, जिन्होंने बहुत लोगों के विचार करने के ढंग को प्रभावित किया है, उनकी सारी विचारधारा को ही बदल दिया है और इस प्रकार मानव-विकास पर प्रभाव डाला है।

सन १८७१ में पेरिस कम्यून की दुखद घटना हुई। इरादा करके किया गया शायद यह पहला समाजवादी विद्रोह था। इससे यूरोप की सरकारें भयभीत हो गईं और मजदूर-आन्दोलन के प्रति उनका रुख और भी कड़ा हो गया। दूसरे वर्ष मार्क्स के स्थापित किये हुए अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ की बैठक हुई और मार्क्स उसके प्रधान कार्यालय को न्यूयार्क ले जाने में सफल हुआ। मालूम होता है कि इसमें मार्क्स का मकसद यही था कि बाकुनिन के अराजकतावादी अनुयायियों से पीछा छूटे; और शायद यह भी कि चूंकि पेरिस कम्यून के कारण यूरोप की सरकारों को गुस्सा आ रहा था, इसलिए उसने सोचा कि वहां की अपेक्षा न्यूयार्क में ज्यादा सुरक्षित आश्रय मिलेगा। मगर संघ के लिए अपने क्रियाशील केन्द्रों से इतनी दूर रह सकना सम्भव नहीं था। उसकी सारी ताकत यूरोप में थी और यूरोप में भी मजदूर-आन्दोलन के दिन बुरे बीत रहे थे। इसलिए प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संघ का धीरे-धीरे प्राणान्त हो गया।

मार्क्सवाद या मार्क्स का समाजवाद यूरोप के समाजवादियों में, खासतौर पर जर्मनी और आस्ट्रिया में फैला, जहां यह आमतौर पर 'सामाजिक लोकतंत्र' (सोशल डेमोक्रेसी) के नाम से मशहूर हुआ। लेकिन इंग्लैण्ड ने चाव के साथ इसे नहीं अपनाया। उस समय वह इतना समृद्ध था कि वहां किसी प्रगतिशील सामाजिक सिद्धान्त के लिए गुंजाइश नहीं थी। अंग्रेजी छाप के समाजवाद की प्रतिनिधी फेबियन सोसायटी थी, जिसका दूर भविष्य में परिवर्तन का बड़ा नरम कार्यक्रम था। फेबियन लोगों का मजदूरों से कोई वास्ता नहीं था। ये तो प्रगतिशील उदार विचारोंवाले दिमागी लोग थे।

फ्रान्स में कम्यून के बाद समाजवाद को फिर से धीरे-धीरे पनपकर क्रियाशील ताकत बनने में बारह वर्ष लग गये, मगर वहां इसका स्वरूप नया हो गया। वह अराजकतावाद और समाजवाद दोनों का संकर था। यह 'संघवाद'

कहलाता है। समाजवादी सिद्धान्त यह था कि चूंकि राज्य समूचे समाज का प्रतिनिधि है, इसलिए उत्पादन के साधनों पर, यानी जमीन, कारखानों आदि पर, उसीका स्वामित्व और नियंत्रण होना चाहिए । मतभेद इस बात पर था कि यह किस हद तक हो। यह स्पष्ट है कि औजारों और घरेलू यंत्रों जैसी बहुत-सी निजी चीजों का समाजीकरण बेहूदा-सी बात है। मगर इस बात पर समाजवादियों का एक मत था कि जिस किसी चीज का उपयोग दूसरों की महनत से निजी फायदा उठाने में किया जा सकता हो, उसका समाजीकरण होना चाहिए, यानी वह राष्ट्र की सम्पति बना दी जानी चाहिए। अराजकतावादियों की तरह संघवादी भी राज्य को पसन्द नहीं करते थे और उसके अधिकारों को सीमित कर देने की कोशिश करते थे। वे चाहते थे कि हरएक उद्योग पर उस उद्योग के मजदूरों का अपने संघ के जरिये नियंत्रण रहे। कल्पना यह थी कि अलग-अलग संघ अपने-अपने प्रतिनिधि चुनकर बड़ी परिषद में भेजेंगे। यह परिषद सारे देश के मामलों को सम्हालेगी और व्यापक कामकाज के लिए एक तरह की पार्लमेण्ट होगी, मगर उसे किसी उद्योग की भीतरी व्यवस्था में दखल देने का अधिकार न होगा। यह स्थिति पैदा करने के लिए संघवादी आम हड़ताल का प्रचार करते थे, यानी वे देश के कारोबार को ठप्प करवाकर अपना उद्देश्य पूरा करना चाहते थे। मार्क्स के अनुयायी संघवाद से बिल्कुल सहमत नहीं थे, मगर यह अनोखी बात है कि मार्क्स के मरने के बाद संघवादी उसे अपने दल का ही एक आदमी मानते थे।

कार्ल मार्क्स १८८३ में मरा। उस समय तक इंग्लैण्ड, जर्मनी और अन्य औद्योगिक देशों में ताकतवर मजदूर संघ बन गये थे। ब्रिटिश उद्योगों के अच्छे दिन बीत चुके थे और जर्मनी और अमरीका की बढ़ती हुई प्रतियोगिता के मुकाबले में वे गिरते जा रहे थे। अलबत्ता अमरीका के पास बड़े प्राकृतिक साधन थे, जिनसे वहां तेजी के साथ औद्योगिक विकास होने में मदद मिली। जर्मनी में राजनैतिक निरंकुशता और औद्योगिक प्रगति का अनोखा मेल था। उस निरंकुशता में कमजोर और अधिकार-हीन पार्लमेण्ट का पुट लगा हुआ था। बिस्मार्क के शासन-काल में और बाद में भी जर्मन सरकार ने उद्योग-धंधों की कई तरह से मदद की और मजदूरों की हालत अच्छी करनेवाले सामाजिक सुधार के कानून बनाकर मजदूर-वर्ग को खुश करने की कोशिश

की। इसी तरह अंग्रेजी उदार दल ने कुछ सामाजिक कानून पास करके काम के घंटे घटा दिये और मजदूरों की बुरी हालत कुछ अच्छी कर दी। जबतक खुशहाली रही तबतक इस उपाय से काम चल गया और अंग्रेज मजदूर नरम और शान्त बने रहे और श्रद्धा के साथ उदार दल को वोट देते रहे। मगर सन १८८० के बाद अन्य देशों की प्रतियोगिता ने खुशहाली के लम्बे समय का अन्त कर दिया और इंग्लैण्ड में व्यापार की मंदी शुरू हो गई और मजदूरों की मजदूरी की दर घट गई। इसलिए मजदूरों में फिर जागृति हुई और वायुमण्डल में क्रान्ति की भावना भर गई। इंगलैण्ड में बहुत-से लोगों की निगाहें मार्क्सवाद की तरफ दौड़ने लगीं।

: ३७ :

विक्टोरिया और उसके प्रधान मंत्री

उन्नीसवीं सदी वास्तव में इंग्लैण्ड की महानता की सदी थी। इस सदी के ज्यादातर हिस्से में विक्टोरिया इंग्लैण्ड की महारानी थी। वह जर्मनी के हैनोवर घराने की थी। इस घराने ने अठारहवीं सदी में ब्रिटिश राज-सिंहासन को जार्ज नाम के कई बादशाह दिये। विक्टोरिया सन १८३७ में गद्दी पर बैठी। उस समय वह १८ वर्ष की लड़की थी और उसने सदी के अन्त, यानी सन १९००, तक तिरेसठ वर्ष राज्य किया। इंग्लैण्ड में इस लम्बे जमाने को अक्सर विक्टोरिया-युग के नाम से पुकारते हैं। इसलिए महारानी विक्टोरिया ने यूरोप में और अन्य देशों में अनेक महान परिवर्तन देखे और पुराने मार्ग-चिह्नों को मिटता हुआ तथा नयों को उनकी जगह लेता हुआ देखा। उसने यूरोप की क्रांतियां, फ्रान्स में परिवर्तन और इटली के राज्य तथा जर्मनी के साम्राज्य का उदय देखा। मृत्यु से पहले वह एक तरह से यूरोप की और यूरोप के राजाओं की दादी मानी जाने लगी थी। मगर यूरोप में विक्टोरिया का समकालीन एक और राजा था, उसका भी वैसा ही इतिहास है। वह आस्ट्रिया के हैप्सबर्ग राजघराने का सम्राट फ्रान्सिस जोजेफ था। जब क्रांति के वर्ष सन १८४८ में वह अपने टूटे-फूटे साम्राज्य की गद्दी पर बैठा उस समय उसकी भी उम्र अठारह वर्ष की थी। उसने अड़सठ वर्ष

राज्य किया और किसी तरह आस्ट्रिया, हंगरी और अपने अधीन अन्य हिस्सों को एकसूत्र में बांध रखा। लेकिन महायुद्ध ने उसका और उसके साम्राज्य का अन्त कर दिया।

विक्टोरिया उससे ज्यादा भाग्यवान थी। अपने शासन-काल में उसने इंग्लैण्ड की शक्ति को बढ़ते हुए और उसके साम्राज्य को फैलते हुए देखा। जब वह गद्दी पर बैठी, कनाडा में गड़बड़ थी। इस उपनिवेश में खुली बगावत हो रही थी और वहां के अनेक निवासी इंग्लैण्ड से विलग होकर अपने पड़ोसी अमरीका के संयुक्त राज्य में मिल जाना चाहते थे। मगर इंग्लैण्ड ने अमरीका के युद्ध से सबक सीख लिया था और उसने तुरन्त ही कनाडावालों को स्वशासन का बहुत-कुछ अधिकार देकर संतुष्ट कर दिया। कुछ ही समय में वह बढ़ते-बढ़ते पूर्ण स्वशासित उपनिवेश बन गया। साम्राज्य में यह नये ढंग का प्रयोग था, क्योंकि आजादी और साम्राज्य का साथ नहीं हो सकता। मगर इंग्लैण्ड को परिस्थिति से मजबूर होकर ही ऐसा करना पड़ा, वरना वह कनाडा को खो बैठता। कनाडा के ज्यादातर निवासी अंग्रेज जाति के थे, इसलिए मातृदेश के साथ वे भावना के मजबूत बंधन में बंधे हुए थे। इधर इस नये देश में लम्बी-चौड़ी जमीनें बिना उपयोग पड़ी थीं और उसकी आबादी भी बहुत कम थी। इसलिए उसे अपने विकास के लिए इंग्लैण्ड के बने माल पर और अंग्रेजी पूंजी पर बहुत अधिक निर्भर रहना पड़ता था। इस कारण उस समय दोनों देशों के स्वार्थों में कोई विरोध नहीं था और उनके बीच में जो अजीब और नया रिश्ता कायम हुआ, उसपर कोई जोर नहीं पड़ा।

इसी सदी में आगे चलकर विदेशी अंग्रेजी बस्तियों को स्वराज्य देने का यह तरीका आस्ट्रेलिया में भी काम में लाया गया। सदी के लगभग मध्य तक जहां आस्ट्रेलिया कैदियों के रखने का स्थान था, सदी के अन्त में वह साम्राज्य के अन्तर्गत आजाद उपनिवेश बना दिया गया।

दूसरी तरफ भारत में अंग्रेजी शिकंजा और भी कस दिया गया और देश-विजय के लिए युद्ध-पर-युद्ध करके ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य का विस्तार किया गया। सन १८५७ का विद्रोह कुचल दिया गया और भारत को साम्राज्य के पूरे बल का अनुभव करा दिया गया।

वास्तव में भारत ही ब्रिटेन का साम्राज्य था और मानो संसार के सामने इस तथ्य की घोषणा करने के लिए महारानी विक्टोरिया ने 'भारत की साम्राज्ञी' की उपाधि ग्रहण की। मगर भारत के अलावा दुनिया के अलग-अलग भागों में और भी कई छोटे-छोटे देश इंग्लैण्ड के अधीन थे।

ब्रिटेन की सरकार का रूप वह था, जिसे संवैधानिक एकतंत्री या 'ताजधारी गणतंत्र' कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि ताज धारण करनेवाले के हाथ में असली सत्ता कुछ न थी और वह पार्लमिण्ट के विश्वासपात्र मंत्रियों का केवल प्रवक्ता होता था। राजनैतिक दृष्टि से वह मंत्रियों के हाथ की कठपुतली होता था और कहा जाता था कि वह "राजनीति से परे" है। असल बात यह है कि तेज बुद्धि या मजबूत इरादेवाला कोई भी आदमी सिर्फ कठपुतली बनकर नहीं रह सकता और अंग्रेज बादशाहों या बेगमों को सार्वजनिक मामलों में दखल देने के बहुत अवसर मिलते हैं। आमतौर पर यह चीज परदे के भीतर होती है और जनता को या तो कुछ मालूम ही नहीं हो पाता या होता भी है तो बहुत समय बाद। खुली दस्तन्दाजी पर बहुत असन्तोष फैल सकता है और बादशाहत खतरे में पड़ सकती है। संवैधानिक राजा में जो बड़ा गुण होना आवश्यक है, वह है व्यवहार-कुशलता। यह उसमें है, तो फिर उसका काम चल सकता है और वह अनेक प्रकार से अपना असर डाल सकता है।

इसमें कोई संदेह नहीं कि इंग्लैण्ड में शाही दरबार के अस्तित्व का अंग्रेजों की मनोवृत्ति ढालने में और उनको समाज का वर्ग-भेद स्वीकार कराने में बड़ा असर पड़ा है। या शायद यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि जहां दुनिया के सारे बड़े-बड़े देशों से बादशाहत गायब हो गई है, वहां इंग्लैण्ड में उसके किसी तरह बच रहने का कारण यही है कि वहां लोगों ने ऊंचे और नीचे वर्गों के भेद को मान रखा है।

ब्रिटिश पार्लमिण्ट 'पार्लमिण्टों की जननी' कहलाती है। उसका जीवन लम्बा और सम्मानपूर्ण रहा है और बहुत-सी बातों में बादशाह की स्वेच्छाचारिता से लड़ने में उसने सबसे पहले कदम उठाया था। उस एकतंत्री शासन की जगह पार्लमिण्ट की अल्पतंत्री सत्ता आई, यानी मुट्ठी-भर जमींदार और शासक-वर्ग का शासन हुआ। फिर लोकतंत्रवाद की सवारी गाजे-बाजे के

साथ आई और बड़ी खींचतान के बाद आबादी के बहुमत को पार्लमिण्ट की कामन्स-सभा के सदस्य चुनने का मताधिकार मिला। व्यवहार में इसका नतीजा वास्तविक लोकतंत्री नियंत्रण नहीं हुआ, बल्कि धनवान कारखानेदारों के हाथ में पार्लमिण्ट की बागडोर आ गई। लोक-सत्ता के बजाय धन-सत्ता कायम हो गई।

ब्रिटिश पार्लमिण्ट ने शासन और कानून बनाने का काम-काज करने के लिए एक अजीब प्रणाली का विकास किया। यह दो दलों की प्रणाली कहलाती है। इन दोनों दलों में कोई ज्यादा फर्क नहीं था। उनके कोई परस्पर विरोधी सिद्धान्त न थे। दोनों धनवानों के दल थे और उस समय की सामाजिक व्यवस्था को मानते थे। एक दल में पुराने जमींदार वर्ग के आदमी ज्यादा थे तो दूसरे में धनी कारखानेदारों की बहुतायत थी। मगर यह नागराज और सांपराज का ही भेद था। पहले ये 'टोरी' और 'ह्विग' कहलाते थे। बाद में उन्नीसवीं सदी में उसका नाम 'अनुदार-दल' (कन्जरवेटिव पार्टी) और 'उदार-दल' (लिबरल पार्टी) पड़ गया।

यूरोप के अन्य देशों की अवस्था भिन्न थी। वहां सचमुच अलग-अलग कार्यक्रमों और विचारधाराओंवाले दल पार्लमिण्टों के भीतर और बाहर बड़ी सरगरमी से लड़ते थे। मगर इंग्लैण्ड में तो घर-कुटुम्ब की-सी बात थी, विरोध भी एक प्रकार का सहयोग बन गया था, और दोनों दल बारी-बारी से सत्ताधारी और विरोधी बनते रहते थे। धनवानों और गरीबों की असली मुठभेड़ और वर्ग-युद्ध पार्लमिण्ट में प्रकट नहीं होते थे, क्योंकि दोनों बड़े-बड़े दल धनवानों के दल थे। जनता के जोश को उभाड़नेवाले न तो कोई धार्मिक सवाल थे और न अन्य यूरोपीय देशों के-से जातीय या राष्ट्रीय सवाल थे।

उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैण्ड के राजनैतिक दलों के दो बड़े नेता डिजरायली और ग्लैडस्टन थे। डिजरायली, जो आगे चलकर बीकन्सफील्ड का अर्ल हो गया, अनुदार दल का नेता था और कितनी ही बार प्रधान मंत्री बना। उसके लिए यह मार्के की करामात थी, क्योंकि वह यहूदी था और उसके कोई महत्वपूर्ण सम्बन्ध नहीं थे और यहूदियों को अंग्रेज लोग पसन्द भी नहीं करते। लेकिन सिर्फ योग्यता और लगन के बल पर उसने अपने विरुद्ध तास्सुब की भावना को जीत लिया और वह रास्ता चीरकर,

सबके आगे आ गया। वह बड़ा साम्राज्यवादी था और विक्टोरिया को 'कैसरे हिन्द' इसीने बनाया। ग्लैडस्टन एक पुराने धनी अंग्रेज घराने का था। वह उदार दल का नेता बन गया और वह भी कई बार प्रधान मंत्री रहा। जहांतक साम्राज्यवाद और विदेश-नीति का सम्बन्ध था, ग्लैडस्टन और डिजरायली में कोई मौलिक अन्तर नहीं था। मगर डिजरायली अपने साम्राज्यवाद की बात बेलाग कहता था और ग्लैडस्टन, जो पूरा अंग्रेज था, असलियत को लच्छेदार बातों और नेक उपदेशों से ढक देता था। वह ऐसा प्रकट करता था, मानो जो कुछ भी वह करता था, उसमें परमात्मा ही उसका मुख्य सलाहकार था। बलकान देशों में तुर्कों के अत्याचारों के विरुद्ध उसने बड़ा भारी आन्दोलन मचवाया और डिजरायली ने केवल विरोध की खातिर तुर्कों का पक्ष लिया। असल में दोष तो तुर्कों का, और बलकान में विभिन्न कौमोंवाली उनकी प्रजाओं, दोनों का ही था। वे बारी-बारी से भयंकर हत्याकाण्ड और अत्याचार करते थे।

ग्लैडस्टन ने आयरलैंण्ड के लिए स्वराज्य का भी समर्थन किया। वह सफल नहीं हुआ और अंग्रेजों का विरोध इतना प्रबल था कि खुद उदार दल के ही दो टुकड़े हो गये। एक हिस्सा अनुदार दल में जा मिला, जो अब एकतावादी दल कहलाने लगा, क्योंकि ये लोग आयरलैंण्ड के साथ एकता का रिश्ता बनाये रखना चाहते थे। होमरूल बिल पार्लमिण्ट में गिर गया और उसीके साथ ग्लैडस्टन का पतन हो गया। इसके सात वर्ष बाद, सन १८९३ में, जब ग्लैडस्टन की उम्र चौरासी वर्ष की थी, वह फिर प्रधान मंत्री बना। उसने दूसरी बार होमरूल बिल पेश किया और वह कामन्स-सभा में बहुत कम बहुमत से पास हुआ, लेकिन लार्ड-सभा ने इस बिल को नामन्जूर कर दिया।

: ३८ :

अब्राहम लिंकन

उत्तर अमरीका में गुलामी की प्रथा बिल्कुल उठा देने का जो आन्दोलन खड़ा हुआ, उसके समर्थकों का मुख्य नेता विलियम लायड गैरीसन था। सन १८३१ में गैरीसन ने गुलामी-विरोधी आन्दोलन के समर्थन के लिए

'लिबरेटर' नामक एक पत्र निकाला। इसके पहले ही अंक में उसने स्पष्ट कर दिया कि इस मामले में वह कोई समझौता नहीं करेगा और न मुलायमियत।

लेकिन यह वीर-वृत्ति थोड़े-से लोगों तक ही सीमित थी। जो लोग गुलामी की प्रथा के विरुद्ध थे, उनमें से ज्यादातर यह नही चाहते थे कि जहां गुलामी मौजूद है, वहां उसमें दखल न दिया जाय। फिर भी उत्तर और दक्षिण के बीच तनाव बढ़ता ही गया, क्योंकि उनके आर्थिक स्वार्थ जुदा-जुदा थे और तट-कर के प्रश्नों पर खासतौर पर आपस में टकराते थे।

सन १८६० में अब्राहम लिंकन संयुक्त राज्य अमरीका का राष्ट्रपति चुना गया, उसका चुनाव दक्षिणवालों के लिए विलग हो जाने का संकेत हो गया। लिंकन गुलामी का विरोधी था, मगर फिर भी उसने स्पष्ट कर दिया था कि जहां गुलामी पहले से मौजूद है, वहां उसे नहीं छेड़ा जायगा। पर वह इस बात के लिए तैयार नहीं था कि यह नये राज्यों में भी चालू की जाय या इसे कानूनी रूप दिया जाय। इस आश्वासन से दक्षिण को संतोष नहीं हुआ और एक-एक करके कई राज्य संघ से अलग हो गये। संयुक्त राज्य छिन्न-भिन्न हुआ चाहता था। नये राष्ट्रपति के सामने ऐसी भयंकर स्थिति थी। उसने दक्षिण को राजी करने की और इस अंग-भंग को रोकने की एक और कोशिश की। उसने उन्हें सब तरह के आश्वासन दिये कि गुलामी जारी रहने दी जायगी। उसने यहांतक कह दिया कि वह गुलामी को (जहां मौजूद है) संविधान में शामिल करके उसे स्थायी रूप देने को भी तैयार है। असल में वह शान्ति की खातिर किसी भी हद तक जाने को राजी था, पर वह एक बात को मन्जूर नहीं कर सकता था और वह थी संघ का छिन्न-भिन्न होना। किसी राज्य का संघ से अलग होने का अधिकार वह कतई मानने को तैयार नहीं था।

गृह-युद्ध को टालने की लिंकन की सारी कोशिशें असफल रहीं। दक्षिण ने अलग हो जाने का फैसला कर लिया और ग्यारह राज्य अलग भी हो गये। उनके साथ कुछ अन्य सीमावर्ती राज्यों की भी सहानुभूति थी। अलग होने-वाले राज्य अपनेको 'सम्मिलितराज्य' (कॉनफेडरेटेड स्टेट्स) कहने लगे और उन्होंने जैफर्सन डेविस को अपना अलग राष्ट्रपति चुन लिया। सन १८६१ के अप्रैल में गृह-युद्ध छिड़ गया और पूरे चार वर्ष

तक घिसटता रहा। इस युद्ध में अनेक भाई भाइयों से और मित्र मित्रों से लड़े। जैसे-जैसे युद्ध चला, दोनों तरफ विशाल फौजें खड़ी हो गईं। उत्तर के पास अनेक सहूलियतें थीं। उसकी आबादी भी ज्यादा थी और दौलत भी। वह पक्का माल तैयार करनेवाला और औद्योगिक क्षेत्र था, इसलिए उसके साधन बहुत ज्यादा थे और उसके यहां रेलें भी अधिक थीं। लेकिन दक्षिण के पास उससे अच्छे सैनिक और सेनापति थे, जिनमें जनरल ली खास था। इसलिए शुरू-शुरू में सारी विजयें दक्षिण के ही हाथ रहीं। लेकिन अन्त में दक्षिण लड़ते-लड़ते कमजोर हो गया। उत्तर की समुद्री फौज ने दक्षिण का सम्बन्ध यूरोप में उसकी मंडी से बिल्कुल काट दिया और कपास तथा तम्बाकू का निर्यात रोक दिया। इससे दक्षिण अपंग हो गया। लेकिन इसका लंकाशायर पर भी बहुत विनाशकारी असर हुआ। वहां कपास न पहुंचने से बहुत-सी मिलें बन्द हो गईं। लंकाशायर के मजदूर बेकार हो गये और घोर विपत्ति में पड़ गये।

इस युद्ध के बारे में अंग्रेजी लोकमत की आमतौर पर दक्षिणवालों के साथ सहानुभूति थी, या कम-से-कम धनिक वर्ग की राय दक्षिण के पक्ष में थी। वामपक्षी लोग उत्तर के हिमायती थे।

गृह-युद्ध का मुख्य कारण गुलामी नहीं था। मैं कह चुका हूं, लिंकन अन्त तक आश्वासन देता रहा था कि गुलामी की प्रथा जहां कहीं मौजूद हो, वहां वह उसे मानने को तैयार था। झगड़े की जड़ तो असल में दक्षिण और उत्तर के जुदा-जुदा और कुछ-कुछ परस्पर-विरोधी आर्थिक स्वार्थ थे और अन्त में लिंकन को संघ की रक्षा के लिए लड़ना पड़ा। युद्ध छिड़ जाने के बाद भी लिंकन ने गुलामी-प्रथा के बारे में कोई स्पष्ट घोषणा नहीं की, क्योंकि उसे डर था कि उत्तर में गुलामी के अनेक समर्थक कहीं भड़क न जायं। हां, जैसे-जैसे युद्ध चलता गया, वैसे-वैसे वह अधिक निश्चयात्मक होता गया। पहले उसने यह प्रस्ताव रखा कि कांग्रेस मालिकों को मुआवजा देकर गुलामों को आजाद करदे। बाद में उसने मुआवजा देने का विचार छोड़ दिया और अन्त में सन १८६२ के सितम्बर में उसने जो 'मुक्ति की घोषणा' निकाली, उसमें यह ऐलान कर दिया कि सन १८६३ की पहली जनवरी से सरकार से बगावत करनेवाले सब राज्यों के गुलाम आजाद हो जाने

चाहिए। इस घोषणा के निकालने का मुख्य कारण शायद यह था कि वह युद्ध में दक्षिण को कमजोर कर देना चाहता था। इसका नतीजा यह हुआ कि चालीस लाख गुलाम आजाद हो गये और निस्संदेह यह आशा की गई थी कि सम्मिलित राज्यों में ये लोग बखेड़ा खड़ा कर देंगे।

जब दक्षिणवाले पूरी तरह पस्त हो गये तो सन् १८६५ में गृह-युद्ध समाप्त हुआ। वैसे तो युद्ध कभी भी भयंकर चीज है, मगर गृह-युद्ध तो अक्सर और भी भयानक होता है। चार वर्ष के इस भीषण संघर्ष का बोझ सबसे ज्यादा राष्ट्रपति लिंकन पर पड़ा और उसका जो परिणाम निकला, वह भी बहुत-कुछ उसीकी शान्त दृढ़ता के कारण था कि उसने सारी निराशाओं और आफतों के बावजूद हिम्मत नहीं हारी। उसे सिर्फ जीतने की ही धुन नहीं थी, बल्कि वह चाहता था कि यह यथा-सम्भव कम-से-कम कटुता के साथ हो, ताकि जिस संघ की खातिर वह लड़ रहा था, वह हृदयों का सच्चा सम्मेलन हो और ज़बरदस्ती लादा हुआ मेल न हो। इसलिए युद्ध में विजयी होते ही उसने पराजित दक्षिण के साथ उदारता का बर्ताव शुरू कर दिया। लेकिन युद्ध के बाद कुछ ही दिन बीते थे कि किसी सिर-फिरे ने उसे गोली से मार दिया।

अब्राहम लिंकन की गणना अमरीका के महानतम वीरों में है। उसका स्थान संसार के महान पुरुषों में भी है। उसका जन्म बहुत गरीब घर में हुआ था, उसने पाठशाला में कोई शिक्षा नहीं पाई थी, जो कुछ शिक्षा उसने प्राप्त की, वह ज्यादातर अपनी ही महनत से प्राप्त की थी। फिर भी वह उन्नति करके एक महान राज्य-शास्त्रवेत्ता और वक्ता बन गया और उसने एक महान संकट में से अपने देश की नाव को निकाल लिया।

लिंकन की मृत्यु के बाद अमरीका की कांग्रेस ने दक्षिणी गोरों के प्रति उतनी उदारता नहीं दिखाई, जितनी शायद लिंकन दिखाता। इन दक्षिणी गोरों को कई तरह की सजाएं दी गईं और बहुतों का मताधिकार छीन लिया गया। उधर हब्शियों को नागरिकता के पूरे अधिकार देकर इस चीज को अमरीका के संविधान में शामिल कर दिया गया। यह नियम भी बना दिया गया कि कोई राज्य किसी व्यक्ति को उसकी जाति, वर्ण या पहले की गुलामी के कारण मताधिकार से वंचित नहीं कर सकेगा।

हब्शी लोग अब कानूनी आधार पर आज़ाद हो गये और उन्हें वोट

देने का अधिकार मिल गया। लेकिन इससे उन्हें कोई लाभ नहीं हुआ, क्योंकि उनकी आर्थिक स्थिति वैसी-की-वैसी ही रही। आजाद किये गए हब्शियों के पास कोई सम्पत्ति नहीं थी और उनका क्या किया जाय, यह पता लगाना एक समस्या हो गई। उनमें से कुछ लोग उत्तर के शहरों में जा बसे, लेकिन ज्यादातर जहां थे, वहीं बने रहे और वे दक्षिण में अपने पुराने गोरे दक्षिणी मालिकों की मुट्ठी में वैसे-के-वैसे ही रहे आये। वे पुरानी बाड़ियों में रोजाना मजदूरों की तरह काम करते थे और जो मजूरी उनके गोरे मालिक दे देते, वही उन्हें लेनी पड़ती। दक्षिणी गोरों ने आतंक द्वारा हर तरह हब्शियों को दबाये रखने के लिए अपना संगठन भी कर लिया। उन्होंने 'क्यूक्लक्स-क्लैन' नामक एक अजीब गुप्त-सी संस्था बना ली। इसके सदस्य बुर्के पहन-पहनकर हब्शियों को डराते फिरते थे और उन्हें चुनावों में वोट देने से भी रोकते थे।

पिछले पचास वर्षों में हब्शियों ने कुछ प्रगति की है। बहुतों के पास सम्पत्ति भी हो गई है और उनकी कई बढ़िया शिक्षण-संस्थाएं हैं, फिर भी निश्चित रूप में वे पराधीन जाति हैं। संयुक्त राज्य में उनकी संख्या एक करोड़ बीस लाख के करीब, यानी सारी आबादी का करीब दसवां हिस्सा है। जहां-कहीं उनकी संख्या थोड़ी है, वहां उन्हें बरदाश्त कर लिया जाता है, जैसा उत्तर के कुछ हिस्सों में होता है। मगर ज्योंही उनकी संख्या बढ़ने लगती है त्योंही उनकी मुसीबत आ जाती है और उन्हें यह महसूस करा दिया जाता है कि उनकी हालत पुराने गुलामों से किसी भी तरह अच्छी नहीं है। होटलों, आहार-गृहों, गिरजों, कालेजों, बागों, स्नान करने के समुद्री घाटों, ट्राम गाड़ियों और दूकानों तक में—सभी जगह—उन्हें अछूतों की तरह गोरों से अलग रखा जाता है!

कभी-कभी गोरों और हब्शियों में भयंकर जातिगत दंगे होते हैं। दक्षिण में अक्सर 'लिन्च' करने की भीषण वारदातें होती रहती हैं, यानी किसी आदमी पर मुजरिम होने का सन्देह करके भीड़ उसे पकड़ लेती है और मार डालती है। इन्हीं वर्षों में ऐसी घटनाएं भी हुई हैं कि गोरे लोगों की भीड़ ने हब्शियों को खम्भे से बांधकर जिन्दा जला दिया।

यों तो सारे अमरीका में ही, पर खासतौर पर दक्षिणी राज्यों में, हब्शियों

के लिए अब भी बहुत मुसीबतें हैं। अक्सर जब मज़दूरों का मिलना कठिन हो जाता है, दक्षिण के कुछ राज्यों में निरपराध हब्शियों को किसी बनावटी जुर्म में जेल भेज दिया जाता है और फिर उन कैदी मजदूरों को खानगी ठेकेदारों को किराये पर दे दिया जाता है। यह चीज तो बहुत बुरी है ही, मगर इसके साथ की हालतें तो दिल दहलानेवाली हैं। इस तरह हम देखते हैं कि आखिर कानूनी आजादी ही कोई बहुत बड़ी बात नहीं होती।

: ३८ :

रूसी क्रांति और लेनिन

रूस की सन १९०५ ई० की क्रान्ति पाशविकता से दबा दी गई थी और जार की हुकूमत अबाध निरंकुशता के अपने निश्चित मार्ग पर चलती रही। मार्क्सवादियों को, और खासकर बोल्शेविकों को, कुचल दिया गया और उनके सब प्रधान नर और नारियां या तो साइबेरिया की ताजीरी बस्तियों में थे या विदेशों में निर्वासित थे। लेकिन विदेशवासी इन मुट्ठी-भर लोगों ने भी लेनिन के नेतृत्व में अपना प्रचार और अध्ययन जारी रखा। ये सब-के-सब पक्के मार्क्सवादी थे, लेकिन मार्क्स का सिद्धान्त इंग्लैण्ड या जर्मनी जैसे अत्यन्त उद्योग-प्रधान देशों के लिए सोचकर निकाला गया था। रूस अभीतक मध्यकालीन और कृषि-प्रधान था; उसके बड़े शहरों में उद्योगों का हाशिया मात्र था। इसलिए लेनिन ने मार्क्सवाद की बुनियादी बातों को इसी तरह के रूस के अनुकूल ढालना शुरू किया। इस विषय पर उसने बहुत अधिक लिखा। लेनिन यह मानता था कि कोई काम हो, वह विशेषज्ञों और प्रवीण लोगों के द्वारा किया जाना चाहिए। अगर क्रान्ति का प्रयत्न किया जानेवाला था तो लेनिन की राय थी कि लोगों को इस काम के लिए पूरी तरह तैयार किया जाना भी जरूरी था, ताकि जब कार्रवाई का समय आये तो वे साफ तौर से सोच सकें कि उन्हें क्या करना है। सन १९०५ के दमन के बाद के अंधियारे वर्षों का लेनिन और उसके साथियों ने अपने-आपको भावी कार्रवाई के लिए तैयार करने में उपयोग किया।

सन १९१४ में ही रूस का शहरी मजदूर-वर्ग जागृत होने लगा था

और दुबारा क्रान्तिकारी बन रहा था। बहुत-सी राजनैतिक हड़तालें हुईं। तब युद्ध शुरू हो गया और इसने लोगों का सारा ध्यान खींच लिया और सबसे ज्यादा प्रगतिशील मजदूर सिपाही बनाकर मोर्चों पर भेज दिये गए। लेनिन और उसकी जमात ने शुरू से ही युद्ध का विरोध किया (अधिकतर नेता रूस से निर्वासित थे)।

रण-क्षेत्र में रूसी सेना को भयंकर क्षति उठानी पड़ी, शायद युद्ध में उलझी हुई सब सेनाओं से अधिक। सैनिक लोगों में आमतौर पर चतुरता का प्राकृतिक गुण बहुत कम होता है। रूसी सेनापति अयोग्य थे। रूसी सिपाही, जिनके पास अच्छे और पूरे हथियार न थे, और अक्सर जिन्हें न तो गोली-बारूद मिलती थी और न पीछे से सहायता, लाखों की संख्या में शत्रुदल के आगे धकेल दिये जाते थे और इस प्रकार मौत के मुंह में झोंक दिये जाते थे। इसी बीच पीत्रोग्राद में, तथा अन्य बड़े शहरों में जबरदस्त मुनाफाखोरी चल रही थी और सट्टेबाज लोग मालामाल बन रहे थे। ये 'देश भक्त' सट्टेबाज और मुनाफाखोर इसीलिए जोर-जोर से मांग करते थे कि युद्ध अन्त तक लड़ा जाय। इसमें सन्देह नहीं कि अगर युद्ध चलता रहता तो इनका मनचीता हो जाता! लेकिन सिपाही और मजदूर और किसान वर्ग (जो सिपाही देता था) पस्त, भूखे और असंतोष से भरे हो गये थे।

जार निकोलस बड़ा मूर्ख आदमी था और अपनी पत्नी जारीना के बहुत ज्यादा असर में था। जारीना भी उतनी ही मूर्ख पर उससे ज्यादा जिद्दी थी। इन दोनों ने अपने चारों ओर लफंगों और मूर्खों को जमा कर रखा था और किसीकी मजाल नहीं थी कि इनकी आलोचना करे। मामला यहांतक पहुंचा कि ग्रिगोरी रासपुटिन (रासपुटिन का अर्थ है 'गंदा कुत्ता') नामक एक घृणित गुंडा जारीना का मुख्य कृपापात्र बन गया और जारीना के जरिये से जार का भी। रासपुटिन एक ग़रीब किसान था, जो घोड़ों की चोरी के मामले में झमेले में पड़ गया था। इसने पवित्रता का बाना धारण करने का और फकीरी का लाभदायक पेशा अख्तियार करने का निश्चय किया। भारत की तरह रूस में भी पैसा कमाने का यह आसान तरीका था। उसने अपने बाल बढ़ाने शुरू किये और बालों के साथ उसकी प्रसिद्धि भी बढ़ी, यहांतक कि वह शाही दरबार में जा पहुंची। जार और जारीना का इक-

लौता पुत्र रोग के कारण कुछ अशक्त था और रासपुटिन ने किसी तरह जारीना को यह विश्वास दिला दिया कि वह उसे चंगा कर देगा। बस, उसकी किस्मत खुल गई और कुछ ही समय में वह जार और जारीना पर हावी हो गया और ऊंची-से-ऊंची नियुक्तियां उसीकी सलाह पर की जाने लगीं। उसका जीवन बड़ा ही दुराचारपूर्ण था और वह भारी-भारी रिश्वतें लेता था, लेकिन फिर भी उसने वर्षों तक अपना प्रभुत्व जमाये रखा।

इससे सबके दिलों में नफरत पैदा हो गई, यहांतक कि उदारदली और अमीर-वर्ग के लोग भी बड़बड़ाने लगे और राजमहल की क्रान्ति की, यानी जार को जबरदस्ती बदल डालने की, चर्चा चलने लगी। इसी बीच जार निकोलस ने अपने-आपको अपनी सेना का प्रधान सेनापति बना लिया था और वह हर चीज को चौपट कर रहा था। सन १९१६ के अन्त से कुछ दिन पहले जार के कुटुम्ब के एक व्यक्ति ने रासपुटिन की हत्या कर डाली। लोगों ने इसका एक बला से छुटकारा पाने के रूप में स्वागत किया, लेकिन इसके परिणामस्वरूप जार की खुफिया पुलिस का अत्याचार और भी बढ़ गया।

नाजुक घड़ी पैदा होने लगी। अन्न का अकाल पड़ गया और पीत्रोग्राद में भोजन के लिए दंगे हो गये। फिर मार्च के प्रारम्भ में मजदूरों की घोर पीड़ा में से अप्रत्याशित और अपने-आप क्रान्ति पैदा हो गई। मार्च की ८ तारीख से लगाकर १२ तारीख तक के पांच दिनों में इस क्रान्ति की शानदार विजय हो गई। यह कोई राजमहल का मामला नहीं था, न यह कोई संगठित क्रान्ति ही थी, जिसकी योजना चोटी के नेताओं ने होशियारी से बनाई हो। यह तो मानो नीचे से उठी थी, सबसे अधिक पददलित मजदूरों में से उठी थी और बिना किसी जाहिरा योजना या नेतृत्व के अंधे की तरह टटोलती हुई आगे बढ़ी थी। स्थानीय बोल्शेविकों समेत विभिन्न क्रान्तिकारी दल भौंचक रह गये और यह नहीं सोच सके कि किस तरह का नेतृत्व दें। जनता ने खुद ही पहले कदम उठाया और जिस घड़ी उन्होंने पीत्रोग्राद में पड़े हुए सिपाहियों को अपनी ओर मिला लिया, उन्हें विजय प्राप्त हो गई। इन क्रान्तिकारी जनसमूहों को विनाश पर उतारू अव्यवस्थित भीड़ समझने की गलती नहीं करनी चाहिए।

इस क्रान्ति के बारे में महत्वपूर्ण तथ्य यह था कि इसमें, इतिहास में पहली बार, कारखानों के मजदूर-वर्ग ने, जिसे 'सर्वहारा वर्ग' कहा गया है, नेतृत्व किया था। यद्यपि इन मजदूरों के साथ उस समय कोई ऊंचे दरजे के नेता नहीं थे (लेनिन और अन्य नेता या तो कैदी थे या निर्वासित), फिर भी इनमें लेनिन की जमात द्वारा तैयार किये हुए कितने ही अज्ञात कार्यकर्ता थे। बीसियों कारखानों के इन अज्ञात मजदूरों ने सारे आन्दोलन को सहारा लगाकर बल दिया और उसे निश्चित मार्गों में चलाया। यहां हम औद्योगिक जनसमूहों का वह रूप देखते हैं, जो अमली कार्रवाई में सामने आया, और ऐसा अन्यत्र कहीं भी नहीं हुआ।

८ मार्च को क्रान्ति की पहली गड़गड़ाहट सुनाई देती है। नारियां नेतृत्व करती हैं और कपड़े के कारखानों की मजदूरनियां बाहर निकल आती हैं और बाजारों में प्रदर्शन करती हैं। दूसरे दिन हड़तालों का जोर बढ़ जाता है, अनेक मजदूर भी बाहर निकल आते हैं; रोटी की पुकार मचाई जाती है और 'निरंकुशता का नाश हो' के नारे लगाये जाते हैं। अधिकारी लोग प्रदर्शनकारी मजदूरों को कुचलने के लिए कज्जाकों को भेजते हैं, जो पहले भी सदा जारशाही के मख्य पुश्ते रहे थे। कज्जाक लोग भीड़ को धक्के मारकर तितर-बितर करते हैं, पर गोलियां नहीं चलाते और मजदूर बड़ी प्रसन्नता के साथ देखते हैं कि अपने सरकारी मुखड़ों के पीछे कज्जाक लोग असल में उनके प्रति मैत्री भाव रखते हैं। तुरन्त ही लोगों का उत्साह बढ़ जाता है और वे कज्जाकों से भाईचारा बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। लेकिन पुलिस से घृणा की जाती है और उसपर पत्थर फेंके जाते हैं। तीसरे दिन, १० मार्च को, कज्जाकों के साथ भाईचारे की भावना बढ़ती हुई नजर आती है यहांतक कि यह अफवाह फैल जाती है कि लोगों पर गोलियां चलानेवाली पुलिस पर कज्जाकों ने गोलियां चलाई। पुलिस बाजारों से हट जाती है। मजदूर नारियां सिपाहियों के पास जाती हैं और उनसे मार्मिक अपील करती हैं; सिपाहियों की संगीनें आकाश की ओर उठ जाती हैं।

अगला दिन, ११ मार्च, इतवार होता है। मजदूर लोग शहर के बीच में जमा होते हैं और पुलिस उनपर छिपे स्थानों से गोलियां चलाती है। कुछ

सिपाही भी लोगों पर गोलियां चलाते हैं; इसपर वे उस पलटन की बारकों में जाकर सख्त शिकायत करते हैं। पलटन का दिल पिघल जाता है और वह अपने गैर-कमीशनी अफसरों की मातहती में जनता की रक्षा के लिए निकल पड़ती है; वह पुलिस पर गोलियां चलाती है। पलटन को गिरफ्तार किया जाता है, पर अब मामला हाथ से निकल चका होता है। १२ मार्च को विद्रोह अन्य पलटनों में फैल जाता है और वे अपनी रायफलें और मशीन-गनें लेकर निकल पड़ती हैं। बाजारों में खूब गोलियां चलती हैं; लेकिन यह कहना मुश्किल था कि कौन किसपर गोलियां चला रहा है। फिर सिपाही और मजदूर जाकर कुछ मंत्रियों को (बाकी भाग चुके हैं), पुलिसवालों को और खुफिया विभाग के कर्मचारियों को गिरफ्तार कर लेते हैं। वे जेलों में पड़े हुए पुराने राजनैतिक बन्दियों को रिहा कर देते हैं।

पीत्रोग्राद में क्रान्ति की शानदार विजय हो चुकी थी। शीघ्र ही मास्को ने भी उसका अनुकरण किया। गांवों के लोग इन घटनाओं को गौर से देख रहे थे। धीरे-धीरे किसान-वर्ग ने नई व्यवस्था को स्वीकार कर लिया, पर बिना उत्साह के। उनके लिए तो दो ही महत्वपूर्ण सवाल थे, धरती के स्वामी बनना और शान्ति के साथ रहना।

जार का क्या हुआ? इन घटनापूर्ण दिनों में उसपर क्या बीत रही थी? वह पीत्रोग्राद में नहीं था। वहां से बहुत दूर एक छोटे-से नगर में था, जहां से प्रधान सेनापति की हैसियत से वह सेनाओं का संचालन कर रहा था। लेकिन उसका समय आ गया था और एक अति-पके फल की तरह वह बिना किसीका ध्यान खींचे टूटकर गिर पड़ा। महान बलशाली जार, सारे रूसियों का सबसे बड़ा निरंकुश शासक, जिसके आगे लाखों थर्राते थे, 'पवित्र रूस' का 'नन्हा पिता' 'इतिहास के कचरा-पात्र में' विलीन हो गया। यह अजीब बात है कि जब महान व्यवस्थाओं की नियति पूरी हो जाती है और उनकी जीवन-यात्रा सम्पूर्ण हो जाती है तो वे किस तरह ढह जाती हैं। जब जार ने पीत्रोग्राद में मजदूरों की हड़तालों का और दंगों का हाल सुना, तो उसने फौजी शासन की घोषणा की आज्ञा दी। कमान करनेवाले सेनापति ने इसे बाकायदा घोषित तो कर दिया, पर यह घोषणा न तो शहर में प्रचारित की गई और न चिपकाई गई, क्योंकि इस काम को करनेवाला

ही कोई न मिला ! जार ने अब भी इनसब घटनाओं की ओर से आंखें मूंदकर पीत्रोग्राद वापस जाना चाहा। रेल के मजदूरों ने रास्ते में उसकी गाड़ी रोक ली। जारीना ने, जो उस समय पीत्रोग्राद के बाहर की एक बस्ती में थी, जार को एक तार भेजा। तारघर ने उसपर पेंसिल से यह लिखकर उसे लौटा दिया—"पानेवाले का पता-ठिकाना नामालूम !"

मोर्चे पर लड़नेवाले सेनापतियों ने और पीत्रोग्राद में रहनेवाले उदारदली नेताओं ने इन घटनाओं से भयभीत होकर और इस टूट-फूट में से जो कुछ बच सके, बचाने की आशा करके जार से राजगद्दी छोड़ देने की प्रार्थना की। जार ने ऐसा ही किया और अपने एक कुटुम्बी को अपना उत्तराधिकारी नामजद कर दिया। लेकिन अब कोई जार नहीं होनेवाला था; रोमानोफ का घराना, तीनसौ वर्षों के निरंकुश शासन के बाद, रूसी रंगमंच से सदा के लिए प्रस्थान कर गया।

अमीर वर्ग, जमींदार वर्ग, उच्च मध्यम वर्ग और उदारदली तथा सुधारक लोग तक भी श्रमिक वर्ग के इस विस्फोट को आतंक और दहशत से देख रहे थे। जब उन्होंने देखा कि जिस सेना पर वे भरोसा करते थे, वह भी मजदूरों से जा मिली तो वे उनके सामने अपने-आपको असमर्थ महसूस करने लगे। अभीतक वे यह निश्चय नहीं कर पाये थे कि विजय किस पक्ष की होगी, क्योंकि सम्भव था कि जार मोर्चे पर से सेना लेकर फिर प्रकट हो जाय और उसकी सहायता से बलवे को कुचल दे। इसलिए एक तरफ तो मजदूरों के डर ने, दूसरी तरफ जार के डर ने और साथ ही अपनी चमड़ी बचाने की अत्यधिक चिन्ता ने इनकी दशा बड़ी दयनीय बना दी थी। उस समय एक दूमा (संसद) मौजूद थी, जिसमें जमींदार वर्ग और उच्च मध्यम वर्ग के प्रतिनिधि थे। मजदूर भी कुछ हद तक इसे मानते थे, लेकिन इस नाजुक घड़ी में आगे कदम बढ़ाने या कुछ करने के बजाय उसके अध्यक्ष और सदस्य डर के मारे कांपते हुए बैठे रहे और यह निश्चय न कर सके कि क्या किया जाय।

इसी दरमियान सोवियत का रूप बनने लगा। मजदूरों के प्रतिनिधियों के अलावा सिपाहियों के प्रतिनिधि भी इसमें शामिल कर दिये गए और नई सोवियत ने विशाल तौरीद राजमहल के एक हिस्से पर अधिकार कर लिया, जिसका कुछ भाग दूमा ने घेर रखा था। मजदूरों और सिपाहियों में अपनी

विजय के कारण उत्साह भरा हुआ था। पर अब सवाल यह पैदा हुआ कि इस विजय का वे क्या करें? उन्होंने सत्ता प्राप्त कर ली थी; उसका प्रयोग कौन करे? उन्हें यह नहीं सूझा कि खुद सोवियत ही यह काम कर सकती है। उन्होंने यह मान लिया कि मध्यम वर्ग को ही सत्ता ग्रहण करनी चाहिए। इसलिए सोवियत का एक शिष्ट-मंडल पैर घसीटता डूमा के पास यह कहने के लिए गया कि वह शासन का कार्य सम्हाले। डूमा के अध्यक्ष और सदस्यों ने समझा कि ये लोग उन्हें गिरफ्तार करने आये हैं! वे नहीं चाहते थे कि सत्ता का भार उनपर डाला जाय। वे इससे पैदा होनेवाले खतरों से डरते थे। लेकिन वे करते भी क्या? सोवियत शिष्ट-मंडल ने आग्रह किया और इन लोगों को इन्कार करने में भी डर लगा। इसलिए बड़ी अनिच्छापूर्वक और परिणामों से डरते हुए, डूमा की एक कमेटी ने सत्ता स्वीकार करली और बाहर की दुनिया को यह मालूम पड़ा कि डूमा ही क्रान्ति का नेतृत्व कर रही है! यह अजीब गड़बड़घोटाला था। अगर हम किसी कहानी में इन बातों को पढ़ें तो हमें यकीन नहीं हो सकता कि ऐसी बातें हो सकती हैं। लेकिन सत्य घटनाएं अक्सर कल्पित किस्सों से भी ज्यादा अद्भुत हुआ करती हैं।

डूमा की कमेटी ने जो काम-चलाऊ सरकार नियुक्त की, वह बहुत ही कट्टरपन्थी जमात थी और उसका प्रधान मंत्री एक राजवंशी था। उसी इमारत के दूसरे हिस्से में सोवियत की बैठकें होती थीं और यह काम-चलाऊ सरकार के काम में निरन्तर हस्तक्षेप करती रहती थी। लेकिन खुद सोवियत भी शुरू में मद्धिम विचारों की थी और उसमें बोल्शेविकों की संख्या मुट्ठी-भर थी। इस तरह एक दोहरी हुकूमत चल रही थी—यानी काम-चलाऊ सरकार और सोवियत—और इन दोनों के पीछे वे क्रान्तिकारी जन-समूह थे, जिन्होंने क्रान्ति को सफल बनाया था और उससे बड़ी-बड़ी आशाएं बांध रखी थीं। नई सरकार से भूखी और युद्ध-थकित जनता को जो एक-मात्र मार्ग-प्रदर्शन मिला, वह यह था कि जबतक जर्मनों को परास्त न कर दिया जाय, तबतक उन्हें युद्ध को चलाते रहना चाहिए। उन्हें आश्चर्य था कि क्या इसीके लिए उन्होंने क्रान्ति की मुसीबतें झेली थीं और जार को निकाला था!

ठीक इसी समय, १७ अप्रैल को, लेनिन आकर प्रकट हुआ। युद्ध के शुरू से आखिर तक वह स्वीजरलैण्ड में रहा था, और जैसे ही उसने क्रान्ति का समाचार सुना, वह रूस आने के लिए छटपटाने लगा। पर वह आता कैसे! अंग्रेज और फ्रान्सीसी उसे अपने-अपने प्रदेशों में होकर गुजरने की अनुमति नहीं देते थे, और न जर्मन तथा आस्ट्रियावासी ही। आखिरकार जर्मन सरकार खुद अपने ही मतलब से इस बात पर राजी हो गई कि वह एक मुहरबन्द रेलगाड़ी में बैठकर स्वीजरलैण्ड की सरहद से रूसी सरहद तक जर्मनी में होकर निकल जाय। उन्हें आशा थी, और इसके लिए कारण भी जरूर था कि लेनिन के रूस पहुंचने से काम-चलाऊ सरकार और युद्ध-समर्थक दल कमजोर पड़ जायंगे, क्योंकि लेनिन युद्ध-विरोधी था और वे इसका फायदा उठाना चाहते थे। उन्हें यह कल्पना नहीं हुई कि यह अज्ञात-सा क्रान्तिकारी अन्त में सारे यूरोप को और सारी दुनिया को हिला डालेगा।

लेनिन के दिमाग में न तो कोई शंका थी और न अस्पष्टता। उसकी तीक्ष्ण नजरें जनता के भाव-परिवर्तनों को पकड़ लेती थीं। उसका सुलझा हुआ दिमाग सुविचारपूर्ण सिद्धान्तों को परिवर्तनशील परिस्थितियों में प्रयोग कर सकता था और ढाल सकता था। उसकी अदमनीय इच्छा-शक्ति तात्कालिक परिणामों की परवा न करती हुई उसके सोचे हुए मार्ग को पकड़े रहती थी। जिस दिन वह पहुंचा, उसी दिन उसने बोल्शेविक दल को जोर से झंझोड़ डाला, उनकी अकर्मण्यता की निन्दा की और जोश-भरे वाक्यों में उन्हें बतलाया कि उनका कर्तव्य क्या था। उसका भाषण बिजली की धारा थी, जो दर्द भी पहुंचाती है और साथ ही जान भी डालती है। जो क्रान्ति अभीतक नेतृत्वहीन और बिना मार्गदर्शक के अनिश्चित दिशा में चली जा रही थी, उसे आखिर अपना नेता प्राप्त होगया। उपयुक्त अवसर ने उपयुक्त व्यक्ति पैदा कर दिया था।

लेनिन के आते ही सब बदल गया। उसने तुरन्त स्थिति की नाड़ी पहचान ली और सच्चे नेतृत्व की प्रतिभा से मार्क्स के कार्यक्रम को उसीके मुताबिक ढाल लिया। गरीब किसान-वर्ग के सहयोग से मजदूर-वर्ग का शासन कायम करने के लिए अब खुद पूंजीवाद के विरुद्ध लड़ाई ठानी जानेवाली थी। बोल्शेविकों के तीन तात्कालिक नारे ये थे: (१) लोकतंत्री

गणतंत्र, (२) जमींदारी जागीरों की जब्ती, और (३) मजदूरों से दिन में आठ घंटे काम। इन नारों ने तुरन्त ही किसान और मजदूर वर्गों के लिए संघर्ष में वास्तविकता पैदा कर दी। उनके लिए यह अस्पष्ट और थोथा आदर्श नहीं रहा। वह जीवन और आशा की ज्योति बन गया।

लेनिन की नीति यह थी कि बोल्शेविक लोग मजदूरों के बहुमत को अपनी ओर मिला लें और इस प्रकार सोवियत पर कब्जा कर लें और फिर सोवियत कामचलाऊ सरकार से सत्ता छीन लें। वह तुरन्त दूसरी क्रान्ति के पक्ष में नहीं था। उसका आग्रह था कि कामचलाऊ सरकार को उखाड़ फेंकने का समय आने से पहले मजदूरों और सोवियत के बहुमत को अपनी ओर मिला लेना जरूरी है। जो लोग सरकार के साथ सहयोग करना चाहते थे, उनके प्रति उसका रुख कठोर था। उसका कहना था कि यह क्रान्ति के साथ विश्वासघात करना है। इतना ही कठोर रुख उसका उनके प्रति था, जो उपयुक्त अवसर आने से पहले ही दौड़कर इस सरकार को उलट देना चाहते थे।

बस, धीरज के साथ लेकिन अटल रूप में, अनिवार्य नियति के किसी कर्ता की तरह, बर्फ का यह डला अपने अन्दर धधकती आग लिये हुए अपने निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ा चला जा रहा था।

दोनों पक्षों के समझौतापरस्त लोगों ने कामचलाऊ सरकार और सोवियत के बीच के झगड़े को टालने की चाहे जितनी कोशिशें की हों, परन्तु यह झगड़ा अनिवार्य था। सरकार मित्र-राष्ट्रों को युद्ध जारी रखकर और रूस के सम्पत्तिवान वर्ग को, जहांतक हो सके उनकी मिल्कियतों की रक्षा करके, राजी रखना चाहती थी। जनता से अधिक सम्पर्क में होने के कारण सोवियत ने उनकी सुलह की तथा किसानों के लिए धरती की मांग को और दिन में आठ घंटे काम वगैरह की मजदूरों की अनेक मांगों को, अनुभव कर लिया। इस तरह हुआ यह कि सरकार को तो सोवियत ने बेकार कर दिया और खुद सोवियत जनता द्वारा बेकार कर दी गई, क्योंकि जनता वास्तव में दलों और नेताओं से कहीं अधिक क्रान्तिकारी थी।

यह प्रयत्न किया गया कि सरकार सोवियत के साथ ज्यादा मिलकर चले और केरेन्स्की नामक एक वामपक्षी वकील और प्रभावशाली वक्ता

सरकार का प्रमुख सदस्य बनाया गया। यह एक सर्वदली सरकार बनाने में सफल हुआ और उसमें सोवियत के बहुसंख्यक मेनशेविक दल के भी कुछ प्रतिनिधि सम्मिलित हुए। इसने जर्मनी के विरुद्ध एक जोरदार हमला शुरू करके इंग्लैण्ड और फ्रान्स को खुश करने का भी जी-तोड़ प्रयत्न किया। परन्तु यह धावा असफल रहा, क्योंकि सेना और जनता अब अधिक युद्ध बिल्कुल नहीं चाहते थे।

इसी समय पीत्रोग्राद में अखिल रूसी सोवियत कांग्रेस के अधिवेशन हो रहे थे और हर अधिवेशन अपने पूर्ववर्ती अधिवेशन से अधिक उग्र होता जा रहा था। इनमें दिन-पर-दिन अधिक बोल्शेविक चुनकर आने लगे और दोनों महत्त्वपूर्ण दलों, यानी मेनशेविकों और सामाजिक क्रान्तिकारियों (एक कृषक दल), का बहुमत कम होता गया। बोल्शेविकों का प्रभाव बढ़ गया, खासकर पीत्रोग्राद के मजदूरों में। सारे देश में सोवियतें स्थापित हो गईं और जबतक सरकारी आज्ञाओं पर सोवियत की दस्तखती मन्जूरी न हो जाती, तबतक वे उन्हें नहीं मानती थीं। कामचलाऊ सरकार की कमजोरी का एक कारण यह था कि रूस में कोई मजबूत मध्यमवर्ग नहीं था।

इधर राजधानी में सत्ता के लिए खींचातानी चल रही थी, उधर किसान-वर्ग ने क़ानूनों को तोड़ना शुरू कर दिया। इन किसानों में मार्च की क्रान्ति के प्रति अधिक उत्साह नहीं था, पर वे उसके विरुद्ध भी नहीं थे। वे तो हाथ-पर-हाथ धरे बैठे थे और मौका देख रहे थे। लेकिन बड़ी-बड़ी जागीरों के जमींदारों ने इस डर से कि, कहीं उनकी मिल्कियतें जब्त न कर ली जायं, उन्हें छोटे-छोटे पट्टों में बांट दिया और इन्हें नकली पट्टेदारों को इस गरज से दे दिया कि वे इन्हें इन जमींदारों की अमानत की तरह रखें। उन्होंने अपनी बहुत-सी मिल्कियतें विदेशियों के नाम भी कर दीं। इस तरह उन्होंने अपनी जमींदारियों को बचाने का प्रयत्न किया। किसानों ने इसे बिल्कुल पसन्द नहीं किया और उन्होंने सरकार से कहा कि कानूनी आज्ञा निकालकर इस तरह जमीनों की बिक्रियां रोक दी जायं। सरकार आगा-पीछा करने लगी, वह कर ही क्या सकती थी? वह किसी भी दल को चिढ़ाना नहीं चाहती थी। तब किसानों ने खुद कार्रवाई शुरू कर दी। इसमें मोर्चों से लौटे हुए सिपाहियों ने (जो वास्तव में किसान

ही थे) प्रमुख भाग लिया। यह आन्दोलन बढ़ता गया, यहांतक कि किसानों ने सामूहिक रूप में जमीनों पर कब्जा कर लिया। जून तक इसका प्रभाव साइबेरिया के उपजाऊ मैदानों तक जा पहुंचा। साइबेरिया में बड़े-बड़े जमींदार नहीं थे, इसलिए किसान-वर्ग ने गिरजों और मठों की धरतियों पर कब्जा कर लिया।

ध्यान में रखने की बात यह है कि बड़ी-बड़ी जागीरों की यह जब्ती पूर्णतया किसानों की ही ओर से शुरू हुई और बोल्शेविक क्रान्ति के कई महीने पहले हुई। लेनिन चाहता था कि जमीनें तुरन्त व्यवस्थित तरीके से किसानों के नाम कर दी जायं। वह बेढंगे अराजकतापूर्ण कब्जों का सख्त विरोधी था।

लेनिन के आगमन के ठीक एक महीने बाद एक और प्रमुख निर्वासित व्यक्ति पीत्रोग्राद लौट आया। यह त्रोत्स्की था, जो न्यूयार्क से वापस आया था। रास्ते में अंग्रेजों ने इसे रोक लिया था। त्रोत्स्की न तो पुराना बोल्शेविक था और न अब वह मेनशेविक था। लेकिन वह बहुत जल्दी लेनिन का सहयोगी बन गया और इसने पीत्रोग्राद की सोवियत के एक अगुआ का स्थान प्राप्त कर लिया। यह महान वक्ता था, ऊंचे दरजे का लेखक था और मानो शक्ति से परिपूर्ण बिजली की बैटरी था।

इस तरह पीत्रोग्राद में तथा रूस के अन्य शहरों और गांवों में क्रान्ति का निरंतर परिवर्तनशील नाटक चलता रहा। दुधमुंहा बच्चा युवावस्था को पहुंचा और बड़ा हो गया। युद्ध के भयंकर बोझ के कारण हर जगह आर्थिक व्यवस्था टूटती नजर आ रही थी। लेकिन फिर भी मुनाफाखोर युद्ध के अपने मुनाफे कमाये चले जा रहे थे!

कारखानों में और सोवियतों में बोल्शेविकों की ताकत और उनका प्रभाव दिन-पर-दिन बढ़ रहे थे। इससे चौकन्ना होकर केरेन्स्की ने उन्हें दबा देने का निश्चय किया। पहले तो लेनिन को बदनाम करने के लिए जबरदस्त धावा बोला गया और कहा गया कि वह जर्मनों का एजेण्ट है, जो रूस को मुसीबत में फंसाने के लिए भेजा गया है। क्या वह जर्मन अधिकारियों की रजामन्दी से जर्मनी में होकर स्वीजरलैण्ड से नहीं आया? इससे मध्यम-वर्गों में लेनिन बहुत अधिक बदनाम हो गया और वे उसे देशद्रोही समझने

लगे। केरेन्स्की ने लेनिन की गिरफ़्तारी के लिए वारण्ट निकाला। लेनिन इस आरोप को गलत साबित करने के लिए अदालत के सामने जाने को उत्सुक था; लेकिन उसके साथी राजी नहीं हुए और उन्होंने उसे भूमिगत हो जाने के लिए मजबूर किया। बहुत-से अन्य बोल्शेविक भी गिरफ़्तार कर लिये गए; उनके अखबार बन्द कर दिये गए; जिन मजदूरों को उनका समर्थक समझा जाता था, उनके हथियार छीन लिये गए। कामचलाऊ सरकार के प्रति इन मजदूरों का रुक दिन-पर-दिन अधिक उग्र और डरावना होता जा रहा था और उसके विरुद्ध बार-बार जबरदस्त प्रदर्शन किये जाते थे।

घटनाएं बड़ी तेजी से आगे बढ़ रही थीं। सोवियत निश्चित रूप से सरकार की प्रतिद्वन्द्वी बनती जा रही थी और अक्सर वह या तो सरकारी आज्ञाओं को रद्द कर देती थी या उनसे विपरीत हिदायतें जारी कर देती थी। अब स्मालनी-इन्स्टीट्यूट पीत्रोग्राद में सोवियत का केन्द्र और क्रान्ति का सदर मुकाम था। यह स्थान पहले अमीर-वर्ग की लड़कियों का गैर-सरकारी स्कूल था।

लेनिन पीत्रोग्राद के बाहर की बस्ती में आ गया और बोल्शेविकों ने निश्चय किया कि अब कामचलाऊ सरकार से सत्ता छीन लेने का समय आ गया है। हर बात की योजना सावधानी के साथ बना ली गई कि किन महत्वपूर्ण स्थानों पर किस तरह और कब कब्जा किया जाय। बलवे के लिए नवम्बर की ७ तारीख निश्चित की गई। उस दिन सोवियतों की अखिल रूसी कांग्रेस का अधिवेशन होनेवाला था। यह तारीख लेनिन ने निश्चित की थी।

सात नवम्बर का दिन आया और सोवियत सिपाहियों ने जाकर सरकारी इमारतों पर, खासकर तारघर, टेलीफ़ोन-घर और सरकारी बैंक-जैसे घात और जुगत के स्थानों पर कब्जा कर लिया। किसीने कोई मुकाबला नहीं किया। एक ब्रिटिश एजेण्ट ने इंग्लैण्ड को जो सरकारी रिपोर्ट भेजी थी, उसमें उसने लिखा था, "कामचलाऊ सरकार तो मानो छू-मन्तर हो गई।"

लेनिन इस नई सरकार का सरदार यानी अध्यक्ष बना और त्रोत्स्की विदेश-मंत्री।

एक साल के भीतर यह दूसरी क्रान्ति सफल हो गई थी और अभीतक यह गौर करने लायक शान्तिपूर्ण रही थी। सत्ता के हस्तान्तरित होने में बहुत कम खून-खराबी हुई। मार्च में इससे बहुत ज्यादा लड़ाई और मारकाट हुई थी। मार्च की क्रान्ति अपने-आप उठी थी और असंगठित थी, नवम्बर की क्रान्ति की योजना खूब सोच-विचारकर बनाई गई थी। इतिहास में पहली बार गरीब-से-गरीब वर्ग के, और खासकर मजदूर-वर्ग के, प्रतिनिधि किसी देश के शासक बने थे। लेकिन इनको इतनी आसानी से सफलता मिलनेवाली नहीं थीं। इनके चारों ओर तूफान के बादल जमा हो रहे थे और भयंकर वेग के साथ इनपर फट पड़नेवाले थे।

लेनिन और उसकी नई बोल्शेविक सरकार के सामने क्या स्थिति थी? यद्यपि रूसी सेना छिन्न-भिन्न हो गई थी और उसके लड़ने की कोई सम्भावना नहीं रही थी, फिर भी जर्मनी के साथ युद्ध जारी था; सारे देश में गड़बड़ मची हुई थी और सिपाहियों तथा लुटेरों के गिरोह मनमानी करते हुए घूमते फिर रहे थे; आर्थिक ढांचा टूट चुका था; भोजन-सामग्री की बहुत कमी थी और लोग भूखों मर रहे थे; चारों ओर पुरानी व्यवस्था के ठेकेदार क्रान्ति को पीस डालने की घात लगाये बैठे थे; राज्य का संगठन पूंजीवादी था और अधिकतर पुराने सरकारी कर्मचारियों ने नई सरकार को सहयोग देने से इन्कार कर दिया; साहूकार लोगों ने रुपया देना बन्द कर दिया, यहांतक कि तारघर भी तार नहीं भेजता था। यह ऐसी कठिन परिस्थिति थी, जो बहादुर-से-बहादुर का दिल दहलाने के लिए काफी थी।

लेनिन और उसके साथियों ने इस गाड़ी को चलाने के लिए मिलकर जोर लगाया। सबसे पहली चिन्ता उन्हें जर्मनी के साथ सुलह की थी और उन्होंने तुरन्त युद्ध बन्द किये जाने का प्रबन्ध किया। दोनों देशों के प्रतिनिधि ब्रैस्त लितोवस्क में मिले। जर्मन लोग खूब अच्छी तरह जानते थे कि बोल्शेविकों में लड़ने की शक्ति नहीं रही है, इसलिए उन्होंने घमंड और मूर्खतावश जबरदस्त और अपमानपूर्ण मांगें रखीं। सुलह के लिए बहुत उत्सुक होते हुए भी बोल्शेविक लोग इससे भौंचक्के रह गये और उनमें से बहुतों ने इन शर्तों को ठुकरा देने की सलाह दी। लेकिन लेनिन किसी भी कीमत पर सुलह के पक्ष में था।

इधर तो सोवियत सुलह् की शर्तों पर वाद-विवाद कर रही थी, उधर जर्मनी ने पीत्रोग्राद की ओर बढ़ना शरू कर दिया और उन्होंने अपना सुलह का प्रस्ताव पहले से भी ज्यादा सख्त कर दिया। अन्त में सोवियत ने लेनिन की सलाह मान ली और मार्च सन १९१८ में, ब्रेस्त लितोवस्क की सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये, हालांकि वह इसे बहुत नापसन्द करती थी। इस सन्धि के द्वारा रूसी प्रदेश का एक बड़ा टकड़ा जर्मनी ने हथिया लिया, लेकिन सोवियत को तो किसी भी कीमत पर सुलह् मन्जूर करनी थी, क्योंकि लेनिन ने कह दिया था कि "सेना ने तो अपनी टांगों से (यानी यद्धक्षेत्र से भागकर) सुलह् के पक्ष में राय दे दी है।"

सोवियत ने पहले तो महायुद्ध में फंसी हुई तमाम शक्तियों में एक व्यापक सुलह् कराने का प्रयत्न किया। सत्ता पर अधिकार करने के दूसरे ही दिन उन्होंने एक सरकारी घोषणा निकाली, जिसमें दुनिया भर के सामने सुलह् का प्रस्ताव रखा था, और उन्होंने यह बिल्कुल स्पष्ट कर दिया था कि वे जारशाही की तमाम गुप्त सन्धियों के अन्तर्गत दावों को छोड़ने के लिए तैयार हैं। उन्होंने कहा कि कुस्तुन्तुनिया तुर्कों के ही कब्जे में रहना चाहिए और इसके अलावा भी कोई देश किसी दूसरे देश के हिस्सों को नहीं हथियाये। सोवियत के प्रस्ताव का किसीने जवाब नहीं दिया, क्योंकि दोनों युद्ध-रत दलों को अभी अपनी-अपनी जीत की आशा थी और दोनों युद्ध की लूट में हाथ मारना चाहते थे। इसमें शक नहीं कि यह प्रस्ताव करने में सोवियत का उद्देश्य कुछ हद तक केवल बाहरी प्रचार था। वे हर देश की जनता पर और युद्ध से थके हुए सिपाही-वर्ग पर असर डालना चाहते थे और दूसरे देशों में सामाजिक क्रान्तियां भड़काना चाहते थे, क्योंकि उनका उद्देश्य संसार-व्यापी क्रान्ति था; वे समझते थे कि इसी तरीके से वे खुद अपनी क्रान्ति की रक्षा कर सकते हैं। सोवियत के इस प्रचार का फ्रान्सीसी और जर्मन सेनाओं पर बड़ा भारी असर पड़ा।

ब्रेस्त लितोव्स्क की सन्धि को लेनिन एक अस्थायी चीज समझता था, जो ज्यादा दिन टिकनेवाली नहीं थी। हुआ यह कि नौ महीने बाद, ज्योंही मित्र-राष्ट्रों ने पश्चिमी मोर्चे पर जर्मनी के दांत खट्टे किये, सोवियत ने इस सन्धि को रद्द कर दिया। लेनिन तो केवल यह चाहता था

कि सेना के थके हुए मजदूरों और किसानों को जरा आराम और दम लेने का मौका मिल जाय, ताकि वे अपने-अपने घरों को वापस जाकर खुद अपनी आंखों से देख सकें कि क्रान्ति ने क्या बात पैदा कर दी है। वह चाहता था कि किसान लोग महसूस करें कि जमींदार खत्म हो गये ह और वे धरती के मालिक हैं। इससे वे क्रान्ति का मूल्य समझने लगेंगे और उसकी रक्षा के लिए उत्सुक होंगे। बस, लेनिन का यही विचार था, क्योंकि वह खूब जानता था कि गृह-यद्ध आनेवाला है। उसकी यह नीति बाद में बड़ी शानदार सफलता के साथ सही साबित हुई। ये किसान और मजदूर मोर्चों से अपने-अपने खेतों और कारखानों को वापस लौटे; वे बोल्शेविक या समाजवादी नहीं थे लेकिन वे क्रान्ति के सबसे कट्टर समर्थक बन गये, क्योंकि वे उस चीज को नहीं छोड़ना चाहते थे, जो उन्हें क्रान्ति के द्वारा मिली थी।

बोल्शेविक नेता इधर तो जर्मनी से किसी-न-किसी तरह समझौते का प्रयत्न कर रहे थे, उधर उन्होंने अन्दरूनी परिस्थितियों पर भी ध्यान देना शुरू किया। मशीनगनों और युद्ध के सामान से लैस बहुत-से भूतपूर्व सैनिक अफसर और ले-भग्गू लूटेरों का धन्धा कर रहे थे और बड़े-बड़े शहरों के ठेठ बीच में मारकाट और लूटपाट मचा रहे थे। पुराने अराजकतावादी दलों के भी कुछ सदस्य थे, जो सोवियतों को पसंद नहीं करते थे और बहुत गड़बड़ मचा रहे थे। सोवियत अधिकारियों ने इन धाड़ैतियों वगैरह का जोरों से दमन किया और उन्हें खत्म कर दिया।

सोवियत शासन को इससे भी बड़ा खतरा विभिन्न मुल्की विभागों के कर्मचारियों की ओर से पैदा हुआ, जिनमें से बहुतों ने बोल्शेविकों के मातहत काम करने से या उन्हें किसी तरह का सहयोग देने से इन्कार कर दिया। लेनिन ने यह नियम बनाया कि "जो काम नहीं करेगा, वह खाना भी नहीं खायेगा"—काम नहीं तो खाना भी नहीं। इसलिए सहयोग न देनेवाले सरकारी नौकरों को तुरन्त बरखास्त कर दिया गया। साहूकारों ने अपनी तिजोरियां खोलने से इन्कार कर किया तो वे डाइनामाइट से उड़ा दी गईं। लेकिन पुरानी व्यवस्था का सहयोग देनेवाले नौकरों के द्वारा लेनिन की अवज्ञा का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण तब देखने में आया, जब प्रधान सेनापति ने आज्ञापालन से इन्कार किया। उसे तुरन्त बरखास्त किया गया और पांच मिनट

के अन्दर क्राइलैन्को नामक एक नौजवान बोल्शेविक लेफ्टिनेन्ट प्रधान सेनापति बना दिया गया !

सोवियत शासन के पहले नौ महीनों में रूस के लोगों के जीवन में कुछ ज्यादा अन्तर नहीं पड़ा। बोल्शेविकों ने आक्षेपों और गालियों तक को भी बरदाश्त किया और बोल्शेविक-विरोधी अखबार निकलते रहे। जनता आमतौर पर भूखी मर रही थी, लेकिन धनवानों के पास अब भी शान-शौकत और विलास के लिए खब पैसा था। बड़े-बड़े नगरों में उच्चवर्गीय लोग सोवियत सरकार के पतन की आशा में खुल्लम-खल्ला खुशियां मनाते थे। ये लोग, जो पहले देशभक्ति की दुहाई देकर जर्मनी के विरुद्ध युद्ध जारी रखने के लिए उत्सुक थे, अब अपनी राजधानी पर जर्मनों का अधिकार हो जाने की सम्भावना पर बहुत खश नजर आते थे। सामाजिक क्रान्ति इन्हें जितनी अधिक बुरी चीज मालूम होती थी, उतना विदेशी प्रभुत्व नहीं। करीब-करीब हमेशा ऐसा ही हुआ करता है, खासकर जब वर्गों का मामला होता है।

इस प्रकार जनता का जीवन बहुत करके हस्ब-मामूल चल रहा था। जब पीत्रोग्राद पर जर्मनों का खतरा बढ़ गया था, तब सोवियत सरकार मास्को चली गई थी और तब से मास्को ही उसकी राजधानी चला आ रहा था। मित्र-राष्ट्रों के राजदूत अभीतक रूस में ही थे।

मगर इस जाहिरा शान्ति के नीचे अनेक अनुकूल और प्रतिकूल धाराएं बह रही थीं। किसीको भी, यहांतक कि खुद बोल्शेविकों को भी, यह आशा नहीं थी कि बोल्शेविक ज्यादा दिन टिक जायंगे। हर आदमी साजिशों में लगा था। जर्मनों ने दक्षिण रूस के यूक्रेन में एक कठपुतली राज्य स्थापित कर दिया था और सुलह के बावजूद उनकी ओर से सोवियत को अन्देशा बना हुआ था। मित्र-राष्ट्र अलबत्ता जर्मनों से घृणा करते थे, पर बोल्शेविकों से वे उससे भी अधिक घृणा करते थे। हां, अमरीका के राष्ट्रपति विल्सन ने सन १९१८ के शुरू में सोवियत कांग्रेस को हार्दिक शुभकामनाएं जरूर भेजी थीं। पर बाद में मालूम होता है, वह पछताया और उसने अपने विचार बदल दिये। मतलब यह कि मित्र-राष्ट्र प्रति-क्रान्ति की कार्रवाइयों को चुपचाप धन से तथा अन्य

प्रकार से सहायता दे रहे थे और खुद भी गुप्त रूप से उनमें भाग ले रहे थे। मास्को विदेशी जासूसों से भरा पड़ा था। ब्रिटिश गुप्तचर-विभाग का प्रधान कार्यकर्ता, जो इंग्लैंड का उस्ताद जासूस माना जाता था, सोवियत सरकार को झमेले में डालने के लिए वहां भेजा गया था। जिन अमीरों और उच्चवर्गीय लोगों की जमीन-जायदाद छीन ली गई थी, वे मित्र-राष्ट्रों के पैसे की मदद से जनता को निरन्तर प्रतिक्रान्ति के लिए भड़का रहे थे।

सन १९१८ के जुलाई मास में रूस की स्थिति म चौंका देनेवाली घटनाएं सामने आईं। बोल्शेविकों के चारों ओर फैला हुआ जाल धीरे-धीरे उन्हें जकड़ता आ रहा था। दक्षिण में यूक्रेन की तरफ से जर्मन चढ़े आ रहे थे और इधर रूस में चेकोस्लोवाकिया के अनेक पुराने युद्ध-बन्दियों को मित्र-राष्ट्र मास्को पर धावा बोलने के लिए उकसा रहे थे। फ्रान्स में सारे पश्चिमी मोर्चे पर महायुद्ध अभीतक चल रहा था, लेकिन रूस में यह अजीब दृश्य नजर आ रहा था कि मित्र-राष्ट्र और जर्मन शक्तियां दोनों अलग-अलग, बोल्शेविकों को कुचलने के एक-समान उद्देश्य को पूरा करने में जुटी हुई थीं। इन शक्तियों ने रूस के विरुद्ध बाकायदा युद्ध की घोषणा नहीं की थी; उन्होंने तो सोवियत को परेशान करने के लिए बहुत-से अन्य तरीके निकाल लिये थे, खासकर प्रतिक्रान्ति के नेताओं को उकसाना और उन्हें हथियारों की तथा पैसे की मदद देना। कई पुराने जारशाही सेनापति भी सोवियत के विरुद्ध रण-क्षेत्र में लड़ रहे थे।

जार और उसके कुटुम्बी पूर्वी रूस में यूराल पर्वत-श्रेणी के पास स्थानीय सोवियत की निगरानी में कैदी बनाकर रखे गये थे। इस प्रदेश में चेक सैनिकों के चढ़ आने से यह स्थानीय सोवियत डर गई और इस सम्भावना ने कि कहीं भूतपूर्व जार कैद से छूटकर प्रतिक्रान्ति का जबरदस्त केन्द्र न बन जाय, उसे एकदम भयभीत कर दिया। इसलिए उन्होंने कायदे-कानून को ताक में रखकर जार के सारे कुटुम्ब को मौत के घाट उतार दिया। मालूम होता है कि सोवियत की केन्द्रीय कमेटी इसके लिए जिम्मेवार नहीं थी और लेनिन, अन्तर्राष्ट्रीय नीति के कारणों से भूतपूर्व जार की, और मानवता के नाते उसके कुटुम्ब की, हत्या के विरुद्ध था। लेकिन जब यह काम

हो ही गया तो केन्द्रीय सरकार न उसे न्यायोचित ठहराया। शायद इस घटना ने मित्र-राष्ट्रीय सरकारों को और भी ज्यादा बौखला दिया और उन्हें पहले से भी अधिक उग्र बना दिया।

अगस्त में स्थिति और भी बिगड़ गई और दो घटनाओं के फलस्वरूप क्रोध, निराशा और आतंक पैदा हो गये। इनमें से एक तो थी लेनिन की हत्या का प्रयत्न, और दूसरी थी उत्तरी रूस में आर्खेंउल पर मित्र-राष्ट्रों की फौज का उतरना। मास्को में बेतहाशा सनसनी फैल गई और सोवियत के अस्तित्व का अन्त सामने नजर आने लगा। खुद मास्को भी एक प्रकार से जर्मनों, चेकों, प्रतिक्रान्तिकारी तत्वों आदि शत्रुओं से घिरा हुआ था। मास्को के इर्द-गिर्द कुछ ही जिले सोवियत के शासन में रह गये थे और मित्र-राष्ट्रीय सेना के उतरने से अन्त बिल्कुल निश्चित दिखाई दे रहा था। बोल्शेविकों के पास कुछ अधिक सेना नहीं थी; ब्रैस्त लितोवस्क की सन्धि को पांच ही महीने हुए थे, और पुरानी सेना के अधिकतर सिपाही सेना छोड़-छोड़कर खेती में जा लगे थे। खुद मास्को में ही षड़यन्त्रों की भरमार थी और उच्च वर्ग के लोग सोवियतों के सम्भावित पतन पर खुले आम खुशियां मना रहे थे।

नौ महीने की आयुवाले इस सोवियत गणतंत्र की ऐसी भयंकर मुसीबतभरी दशा थी। बोल्शेविकों को निराशा और भय ने घेर लिया, और जब उन्होंने देखा कि हर हालत में मरना ही है तो निश्चय कर लिया कि लड़ते-लड़ते ही मरना चाहिए। वे चारों ओर से घिरे हुए जंगली जानवर की तरह अपने शत्रुओं पर टूट पड़े। उन्होंने सहनशीलता और दया दोनों को तिलांजलि दे दी। सारे देश में फौजी कानून जारी कर दिया गया और सितम्बर के शुरू में केन्द्रीय सोवियत कमेटी ने 'लाल आतंक' का ऐलान कर दिया—"तमाम देशद्रोहियों के लिए मौत, विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध निर्मम युद्ध।" सोवियत सारी दुनिया के मुकाबले में और खुद अपने प्रतिगामियों के मुकाबले में डटकर खड़ी हो गई। सारा देश मानो शत्रुओं से घिरी हुई छावनी बना दिया गया। लाल सेना को संगठित करने का पूरा प्रयत्न किया गया।

यह सितम्बर और अक्तूबर, १९१८ के लगभग की बात है, जब

पश्चिम में जर्मनी की युद्ध-व्यवस्था टूट रही थी और युद्ध-विराम की चर्चा चल रही थी।

११ नवम्बर, १९१८ को मित्र-राष्ट्रों और जर्मन-शक्तियों के बीच सुलह हो गई और युद्ध-विराम पर हस्ताक्षर हो गये। लेकिन रूस में १९१९ और १९२० में गृह-युद्ध जोर-शोर से लगातार चलता रहा। सोवियत ने अकेले दम शत्रुओं के झुंड-के-झुंड का मुकाबला किया। एक वक्त तो ऐसा था जब सोवियत सेना पर सत्रह विभिन्न मोर्चों पर एक साथ हमले हुए। इंग्लैंड, अमरीका, फ्रान्स, जापान, इटली, सर्बिया, चेको-स्लोवाकिया, रूमानिया, बाल्टिक तटवर्ती राज्य, पोलैंड और ढेरों प्रति-क्रान्तिकारी रूसी सेनापति, सब-के-सब सोवियत के विरुद्ध लड़ रहे थे। यह लड़ाई ठेठ साइबेरिया से लगाकर बाल्टिक समुद्र और क्रीमिया तक फैली हुई थी। बार-बार ऐसा मालूम होता था कि सोवियत का अन्त होनेवाला है; मास्को भी खतरे में पड़ गया था; पीत्रोग्राद का शत्रु के आगे पतन होने ही वाला था; परन्तु सोवियत हर संकट को पार कर गई और हर सफलता के साथ उसका आत्म-विश्वास और बल बढ़ते गये।

प्रतिक्रान्तिकारी नेताओं में एक एडमिरल कोलचक था। वह अपने-आपको रूस का शासक कहने लगा और मित्र-राष्ट्रों ने सचमुच उसे ऐसा मान भी लिया और बहुत सहायता दी। साइबेरिया में इसने जो हरकत की उसका वर्णन उसके युद्ध-साथी जनरल ग्रेव्ज ने किया है, जो कोलचक को मदद देनेवाली अमरीकी सेना का सेनापति था—"बड़ी भयंकर हत्याएं हुईं; लेकिन जैसा दुनिया का विश्वास है, वे बोल्शेविकों ने नहीं की थीं। जब मैं यह कहता हूं कि बोल्शेविकों द्वारा एक-एक मनुष्य की हत्या के मुकाबले में बोल्शेविक-विरोधियों ने पूर्वी साइबेरिया में सौ-सौ मनुष्यों को मौत के घाट उतारा तो मेरे इस कथन में जरा भी अतिशयोक्ति नहीं है।"

मित्र-राष्ट्रों ने रूस की नाकाबन्दी भी कर दी और यह इतनी कारगर हुई कि १९१९ के पूरे वर्ष में रूस न तो बाहर से कुछ भी खरीद सका और न बाहर कुछ बेच सका।

इन जबरदस्त कठिनाइयों तथा अनेक शक्तिशाली दुश्मनों के बावजूद सोवियत रूस सही-सलामत रह गया और उसने शानदार विजय प्राप्त

की। यह बात इतिहास की सबसे अधिक आश्चर्यकारक करतूतों में गिनी जाती है। सोवियत यह कैसे कर पाई ? इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि मित्र-राष्ट्रीय शक्तियां एक हो जातीं और बोल्शेविकों का नाश करने पर तुल जातीं तो वे शुरू के दिनों में ऐसा कर सकती थीं। जर्मनी से निबट लेने के बाद उनके पास मनमाना उपयोग करने के लिए विशाल सेनाएं थीं। परन्तु इन सेनाओं का हरकहीं उपयोग करना आसान नहीं था, खासकर सोवियतों के विरुद्ध। ये सब सेनाएं युद्ध से थक चुकी थीं और अगर इनसे विदेशों में युद्ध करने की फिर मांग की जाती तो ये इन्कार कर देतीं। इसके अलावा मजदूरों में नवीन रूस के प्रति काफी सहानुभूति थी और मित्र-राष्ट्रीय सरकारों को डर था कि अगर वे सोवियतों के विरुद्ध युद्ध का खुला ऐलान कर देंगे तो उन्हें अपने-अपने देशों में मुसीबत का सामना करना पड़ेगा। सच तो यह है कि यूरोप विद्रोह के किनारे पर खड़ा मालूम दे रहा था। तीसरे, मित्र-राष्ट्रीय शक्तियों की आपसी लाग-डांट चल रही थी। सुलह होते ही उन्होंने आपस में लड़ना-झगड़ना शुरू कर दिया था। इन सब कारणों से वे बोल्शेविकों का अन्त करने के लिए कोई दृढ़ प्रयत्न नहीं कर सकीं। इसलिए उन्होंने इस काम को द्राविड़ी प्राणायाम के तरीके से यथा-शक्ति पूरा करने के लिए यह कोशिश की कि अपने लिए दूसरों को लड़-वाया और उन्हें रुपये, हथियारों और विशेषज्ञों की सलाह की मदद दी। उन्हें विश्वास था कि सोवियतें टिक नहीं सकेंगी।

इन सब बातों से सोवियतों को निस्संदेह मदद मिली और उन्हें अपना बल बढ़ाने का समय मिल गया। लेकिन यह समझ लेना उनके साथ अन्याय करना होगा कि उनकी विजय बाहरी परिस्थितियों के कारण हुई। जड़ में यह रूसी जनता के आत्म-विश्वास, श्रद्धा, आत्म-त्याग और अविचल दृढ़ निश्चय की विजय थी और इसमें चमत्कार यह था कि इन लोगों को हर जगह सुस्त, जाहिल, साहसहीन और महान प्रयत्न के अयोग्य समझा जाता था। कोल्चक और उसके संगी-साथी पराजित हो गये, केवल बोल्शेविक नेताओं की योग्यता और दृढ़ संकल्प के कारण नहीं, बल्कि इसलिए भी कि रूसी किसानों ने उन्हें बरदाश्त करने से इन्कार कर दिया। उसके लिए वे पुरानी व्यवस्था के प्रतिनिधि थे, जो उसकी नई प्राप्त की हुई धरती को

और अन्य रियायतों को छीनने के लिए आये थे। इसलिए उसने मरते दम तक इनकी रक्षा करने का निश्चय कर लिया।

मीनार की तरह अन्य सबसे ऊंचा और निर्विरोध प्रभुत्व जमानेवाला—ऐसा था लेनिन। रूसी जनता के लिए तो वह मानो देवता था, जो आशा और श्रद्धा का प्रतीक था, जो इतना बुद्धिमान था कि हर कठिनाई में मार्ग निकाल सकता था, और जिसे कोई भी चीज विचलित या विकल नहीं कर सकती थी।

सन १९१९ के अन्त तक गृह-युद्ध में सोवियतें निश्चय ही अपने विरोधियों के ऊपर हावी हो चुकी थी। परन्तु युद्ध एक साल तक और चलता रहा और इस बीच अनेक नाजुक घड़ियां आईं। सन १९२० में पोलैंड की रूस से खटक गई और दोनों में युद्ध छिड़ गया। सन १९२० के अन्त तक ये सब युद्ध लगभग समाप्त हो चुके थे और रूस को आखिर कुछ शान्ति प्राप्त हुई थी।

इसी बीच अन्दरूनी कठिनाइयां बढ़ गई थी। युद्ध, नाकेबन्दी, महामारी और अकाल ने देश की हालत बहुत बुरी कर डाली थी। उत्पादन बहुत कम हो गया था, क्योंकि जब प्रतिद्वन्द्वी सेनाएं निरन्तर देश को रौंद रही हों तो न तो किसान खेत बो सकते हैं और न मजदूर कारखाने चला सकते हैं। युद्धकाल में साम्यवादी तरीका अपनाने से देश किसी तरह मुसीबतों से पार हो गया था, लेकिन हरएक व्यक्ति को अपने पेट पर कसकर पट्टी बांधनी पड़ी थी और अब इस सिलसिले को सहन करना कठिन हो रहा था। खेतिहर लोग अधिक उत्पादन में दिलचस्पी नहीं ले रहे थे, क्योंकि उनका कहना था कि सैनिक साम्यवाद के अन्तर्गत उनकी पैदा की हुई सारी फालतू फसल को राज्य छीन लेगा, इसलिए वे महनत क्यों करें? एक अत्यन्त कठिन और खतरनाक परिस्थिति पैदा हो रही थी। पीत्रोग्राद के निकट क्रोंसतांत में नाविकों का विद्रोह तक भी हो गया था और खुद पीत्रोग्राद (या लेनिनग्राद) में हड़तालें हो रही थीं।

लेनिन ने, जिसमें मूलभूत सिद्धान्तों को तत्कालीन परिस्थितियों में ढालने की असाधारण प्रतिभा थी, तुरन्त कार्रवाई की। उसने युद्धकालीन साम्यवाद का अन्त कर दिया और 'नवीन आर्थिक नीति' नामक एक नई

नीति चलाई। इसके द्वारा किसान को उत्पादन करने की और अपनी उपज को बेचने की अधिक आजादी मिल गई और कुछ खानगी व्यापार भी खोल दिया गया। कुछ हद तक यह ठेठ साम्यवादी सिद्धान्तों से परे हटना था, लेकिन लेनिन ने इसे अस्थायी तदबीर कहकर उचित ठहराया। इससे जनता को अवश्य ही राहत मिली। लेकिन शीघ्र ही रूस को एक और आफत का सामना करना पड़ा। यह अनावृष्टि के कारण, और उसके फलस्वरूप दक्षिण-पूर्वी रूस के लम्बे-चौड़े प्रदेश में फसल की हानि के कारण, पड़ने-वाला अकाल था। यह भयंकर अकाल था। इतिहास में इससे बड़ा अकाल पहले कभी नहीं पड़ा था, और इसमें लाखों जनता भूखी मर गई। इस अकाल से सरकार का सारा ढांचा ही टूट जाने की सम्भावना थी, क्योंकि एक तो यह वर्षों के युद्ध और नाकेबन्दी और आर्थिक व्यवस्था की गड़बड़ी के बाद ही आ पड़ा था, और दूसरे तबतक सोवियत सरकार को शान्ति के समय निश्चिन्त होकर काम करने का मौका नहीं मिला था। पर फिर भी, जिस प्रकार सोवियत पहले की आफतों को पार कर गई थी, उसी प्रकार इसे भी सही-सलामत पार कर गई। यूरोपीय सरकारों का एक सम्मेलन यह विचार करने के लिए हुआ कि अकाल का कष्ट दूर करने के लिए क्या सहायता देनी चाहिए। उन्होंने घोषणा की कि वे तबतक कोई सहायता नहीं देंगे, जबतक कि सोवियत सरकार जारशाही के उन पुराने कर्जों को चुकाने का वादा न करे, जिन्हें उसने रद कर दिया था। साहूकारी की भावना मानवता की भावना से ज्यादा जोरदार साबित हुई! और रूसी माताओं की अपने मृतप्राय बच्चों के लिए मर्मस्पर्शी अपील पर भी कोई ध्यान नहीं दिया गया।

जब इंग्लैंड तथा अन्य यूरोपीय देशों ने रूस के अकाल में सहायता देने से इन्कार किया तो इसका यह मतलब नहीं था कि वे अन्य मामलों में सोवियत का बहिष्कार कर रहे थे। सन १९२१ के शुरू में ही एक आंग्ल-रूसी व्यापारिक संधि पर हस्ताक्षर हो चुके थे और अन्य देशों ने भी इसका अनुकरण करके सोवियत के साथ व्यापारिक संधियां कर ली थीं।

चीन, तुर्की, ईरान, अफगानिस्तान आदि पूर्वी देशों के प्रति सोवियत

ने बड़ी उदार नीति का पालन किया। उन्होंने पुराने जारशाही विशेषाधिकार छोड़ दिये और बहुत मित्रतापूर्ण व्यवहार करने का प्रयत्न किया। यह चीज तमाम पराधीन और शोषित कौमों के लिए आजादी के उनके सिद्धान्तों के अनुसार थी, लेकिन उनके लिए इससे भी अधिक महत्वपूर्ण अभिप्राय था अपनी स्थिति मजबूत बनाना। सोवियत रूस की इस उदारता से इंग्लैंड जैसी साम्राज्यशाही शक्तियां अक्सर खोटी स्थिति में पड़ जाती थीं, क्योंकि पूर्वी देश जब तुलनाएं करते थे तो उन्हें इंग्लैंड तथा अन्य शक्तियां हेच मालूम पड़ती थीं।

सन १९१९ में एक और घटना हुई, जिसका जिक्र यहां करना जरूरी है। यह थी साम्यवादी दल द्वारा मास्को में तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ की स्थापना। बोल्शेविकों की धारणा थी कि द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ को स्थापित करनेवाले पुराने मजदूर तथा साम्यवादी दलों ने श्रमजीवी वर्ग को धोखा दिया। इसलिए इन्होंने स्पष्ट क्रान्तिकारी दृष्टिकोणवाला तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ बनाया, ताकि पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध और उन अवसरवादी साम्राज्यवादियों के विरुद्ध भी युद्ध लड़ा जाय, जो 'मध्यम-मार्ग' की नीति के अनुगामी थे। इस अन्तर्राष्ट्रीय संघ को अक्सर 'कामिन्टर्न' भी कहा जाता है और अनेक देशों में प्रचार-कार्य में इसने बड़ा भारी भाग लिया है।

युद्ध के बाद पश्चिमी यूरोप में द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ (श्रमजीवी और साम्यवादी अन्तर्राष्ट्रीय संघ) भी पुनर्जीवित किया गया। बहुत हद तक द्वितीय तथा तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय संघों का, कम-से-कम सिद्धान्त-रूप में, एक ही ध्येय है। परन्तु दोनों की विचारधाराएं और तरीके बिल्कुल अलग-अलग हैं और दोनों एक दूसरे के कट्टर विरोधी हैं। ये आपस में लड़ते-झगड़ते रहते हैं और एक-दूसरे पर ऐसे आक्रमण करते हैं, जैसे अपने आपसी शत्रु पूंजीवाद पर भी नहीं करते। द्वितीय अन्तर्राष्ट्रीय संघ अब एक प्रतिष्ठित संगठन बन गया है और इसके सदस्य अक्सर यूरोपीय सरकारों के मंत्रिमंडलों में शामिल होते रहते हैं। तृतीय संघ क्रान्तिकारी संगठन चला आ रहा है, इसलिए यह प्रतिष्ठित नहीं माना जाता।

रूस के गृह-युद्ध में शुरू से आखिर तक 'लाल आतंक' और 'श्वेत

आतंक' क्रूर निर्दयता में एक-दूसरे से होड़ लगाते रहे, और इसमें शायद श्वेत आतंक लाल आतंक से जबरदस्त बाजी ले गया। साइबेरिया में कोलचक के अत्याचारों के बारे में अमरीकी सेनापति के वर्णन से तथा अन्य वर्णनों से यही परिणाम निकलता है। लेकिन इसमें भी कोई सन्देह नहीं हो सकता कि लाल आतंक भी कठोर था और इसका फल अनेक निर्दोष व्यक्तियों को भोगना पड़ा होगा। बोल्शेविकों पर सब तरफ़ से आक्रमण हो रहे थे और वे चारों ओर षड़यन्त्रों तथा जासूसों से घिरे हुए थे, इसलिए उनकी मानसिक स्थिरता नष्ट हो गई और जरा भी सन्देह होने पर वे बड़ी कठोर सजाएं देने लगे, खासकर उनकी राजनैतिक पुलिस, जो "चेका" कहलाती थी, इस आतंक के लिए बहुत बदनाम थी। यह भारत में 'सी० आई० डी०' के समकक्ष थी, परन्तु इसके अधिकार बहुत बढ़े-चढ़े थे।

लेनिन के बारे में कुछ और बातें बतलाना चाहता हूं। अगस्त, १९१८ में, जब उसकी हत्या का प्रयत्न किया गया था, तब उसे गहरे घाव लगे थे। परन्तु इनके बावजूद उसने कुछ विश्राम नहीं लिया था। वह काम के जबरदस्त बोझ को निबटाता रहा और इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि मई, १९२२ में उसकी हालत गिर गई। कुछ विश्राम के बाद वह फिर काम में लग गया, पर ज्यादा दिन के लिए नहीं। सन १९२३ में उसकी हालत पहले से भी अधिक बिगड़ गई और वह फिर नहीं सम्हल सका। २१ जनवरी, सन १९२४ ई० को, मास्को के निकट उसकी मृत्यु हो गई।

कई दिनों तक उसका शव मास्को में रखा रहा—सरदी का मौसम था और रासायनिक मसाले लगाकर शव को वर्षों तक के लिए टिकाऊ बना दिया गया था। जनसाधारण के प्रतिनिधि, किसान और मजदूर, नर और नारियां और बच्चे, सारे रूस से तथा साइबेरिया के दूरवत मैदानों से, अपने उस परमप्रिय साथी पर श्रद्धा की अन्तिम भेंट चढ़ाने आये, जिसने उन्हें गहरे गर्त में से खींचकर बाहर निकाला था और परिपूर्ण जीवन का मार्ग दिखाया था। उन्होंने मास्को के मनोहर 'लाल चौक' में उसके लिए एक सादा और सजावट-रहित मकबरा बनाया। उसका शव एक कांच के सन्दूक में अभीतक वहां रखा हुआ है और हर शाम को लोगों की एक बहुत

लम्बी कतार खामोशी के साथ उसके पास से गुजरती है। लेनिन को मरे बहुत वर्ष नहीं बीते हैं, लेकिन इतने थोड़े समय में ही वह न केवल अपने रूस में, बल्कि सारे संसार में, एक प्रबल परम्परा का संस्थापक बन गया है। जैसे-जैसे समय बीतता है, उसकी महानता को चार चांद लगते जाते हैं; वह संसार के अमर-जनों की सर्वोत्कृष्ट श्रेणी में गिना जाने लगा है। पीत्रोग्राद अब लेनिनग्राद हो गया है, और करीब-करीब हर रूसी घर में एक लेनिन कोष्ठ होता है, या लेनिन का चित्र होता है। परन्तु लेनिन जीवित है, यादगारों में या तस्वीरों में नहीं, बल्कि अपने किये हुए जबरदस्त कार्यों में, और करोड़ों श्रम-जीवियों के हृदयों में, जो उसके उदाहरण से स्फूर्ति और अच्छे दिनों की आशा का सन्देश प्राप्त करते हैं।

यह न समझना चाहिए कि लेनिन कोई मानवताहीन यंत्र था, जो अपने कार्य में डूबा रहता था और इसके सिवा और कोई बात नहीं सोचता था। वह अपने कार्य का और जीवन के उद्देश्य का अनन्य पुजारी अवश्य था, लेकिन साथ ही उसमें यह भावना लेशमात्र भी नहीं थी कि लोग उसकी ओर आंखें लगाये हुए हैं। वह तो एक मूर्तिमान विचार था। और इसपर भी उसमें बहुत मनुष्यता थी, और मनुष्योचित गुणों में सर्वश्रेष्ठ गुण था—दिल खोल-कर हँसने की क्षमता। मास्को-स्थित ब्रिटिश एजेण्ट लाकहार्ट, जो सोवियत के खतरे के दिनों में वहां था, लिखता है कि चाहे जो हो जाय, लेनिन हमेशा खुशमिजाज रहता था। अपनी बातचीत में और अपने कार्य में सीधा और सच्चा, तथा लम्बी-चौड़ी बातों से और ढोंग से घृणा करनेवाला। वह संगीत-प्रेमी था, यहांतक कि उसे डर लगा रहता था कि इस संगीतप्रेम का उसपर इतना अधिक असर न हो जाय कि वह कार्य-शिथिल बन जाय।

स्त्रियों के बारे में लेनिन ने एक बार कहा था—"जबतक आधी आबादी रसोईघर में गुलामी करती रहेगी तबतक कोई राष्ट्र आजाद नहीं हो सकता।" एक दिन जब वह कुछ बच्चों को दुलार रहा था, उसने बड़े भेद की बात कही थी। उसका पुराना मित्र मैक्सिम गोर्की लिखता है कि उसने कहा था, "इनके जीवन हमारे जीवन से अधिक आनन्दमय होंगे। इन्हें उन बहुत-सी मुसीबतों का अनुभव नहीं करना पड़ेगा, जिन्हें हम लोगों ने पार किया है। इन्हें अपने जीवन में इतनी अधिक क्रूरता नहीं देखनी पड़ेगी।"

अन्त में मैं पूरे वाद्य-वृंद के लिए तथा लोगों के सम्मिलित गान के लिए लिखी गई एक रचना की शब्दावली दूंगा। जिन लोगों ने इसे सुना ह, उनका कहना है कि इसके संगीत में सजीवता और शक्ति है और यह गीत मानो विद्रोही जनता की भावना का प्रतीक है। इस गीत का जो हिन्दी अनुवाद यहां दिया जा रहा है, उसमें भी इस भावना का कुछ अंश आ जाता है। यह गीत 'अक्तूबर' कहलाता है और इसका अर्थ है नवम्बर, सन १९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति। उन दिनों रूस में वह पंचांग प्रचलित था, जो असंशोधित पंचांग कहलाता है और इसमें तथा प्रचलित पश्चिमी पंचांग में तेरह दिन का अन्तर था। इस पंचांग के अनुसार मार्च, १९१७ की क्रान्ति फरवरी में हुई और इस कारण वह "फरवरी की क्रान्ति' कहलाती है। इसी प्रकार नवम्बर, १९१७ के प्रारम्भ में होनेवाली बोल्शेविक क्रान्ति 'अक्तूबर की क्रान्ति' कहलाती है। अब रूस ने अपना पंचांग बदल दिया है और संशोधित पंचांग ग्रहण कर लिया है। पर ये पुराने नाम अभीतक उपयोग में आते हैं।

हम काम और रोटी की भीख मांगने के लिए गये,
हमारे हृदय पीड़ा से दबे हुए थे,
कारखानों की चिमनियां आकाश की ओर इशारा कर रही थीं,
मानो मुट्ठी बांधने की शक्ति से रहित थके हुए हाथ हों।
हमारे दुख और हमारी पीड़ा के तोपों की आवाज से भी अधिक घोर
शब्दों ने खामोशी को भंग कर दिया।
ऐ लेनिन! तू हमारे गांठों पड़े हाथों की आकांक्षा है।
हमने समझ लिया है, लेनिन, हमने समझ लिया है कि हमारे
भाग्य में है संघर्ष!
संघर्ष! संघर्ष!
तूने अन्तिम लड़ाई में हमारा नेतृत्व किया। संघर्ष!
तूने हमें श्रमजीवियों की विजय दी।
अज्ञान और जुल्म के ऊपर इस विजय को हमसे कोई नहीं
छीन सकेगा।
कोई नहीं! कोई नहीं! कभी नहीं! कभी नहीं!

आओ, इस संघर्ष में हर जवान और वीर बन जाओ,
क्योंकि हमारी विजय का नाम अक्तूबर है।
अक्तूबर ! अक्तूबर !
अक्तूबर सूर्य का संदेशवाहक है।
अक्तूबर विद्रोही सदियों का संकल्प है।
अक्तूबर ! यह श्रम है, यह खुशी है, यह गीत है।
अक्तूबर ! यह खेतों और यंत्रों के लिए शुभ शकुन है !
यह है नई सन्तति और लेनिन के झंडे पर लिखा हुआ नाम।

: ४० :

आयरलैण्ड की लड़ाई और डि वेलेरा

आयरलैण्ड के बारे में होमरूल बिल को ब्रिटिश पार्लमेंट ने महायुद्ध शुरू होने के ठीक पहले पास किया था। अल्स्टर के प्रोटेस्टैण्ट नेताओं ने तथा इंग्लैंड के अनुदार-दल ने इसका विरोध किया था और इसके विरुद्ध बाकायदा बगावत का संगठन किया गया था। इसपर, जरूरत पड़े तो अल्स्टर के विरुद्ध लड़ने को, दक्षिणी आयरवासियों ने भी अपने 'राष्ट्रीय स्वयं-सेवकों' का संगठन किया था। ऐसा मालूम हो रहा था कि आयरलैण्ड में गृह-युद्ध टल नहीं सकता। ठीक इसी समय महायुद्ध शुरू हो गया और लोगों का सारा ध्यान बेल्जियम और उत्तरी फ्रान्स के रण-क्षेत्रों की तरफ हो गया। पार्लमेंट में आयरी नेताओं ने युद्ध में सहायता देने की अपनी तैयारी प्रकट की, किन्तु देश इस ओर से उदासीन था और वह सहायता देने को जरा भी उत्सुक नहीं था। इधर अल्स्टर के 'बागियों' को ब्रिटिश सरकार में ऊंचे-ऊंचे ओहदे दे दिये गए, जिससे आयरनिवासी और भी अधिक नाराज हो गये।

आयरलैण्ड में नाराजी बढ़ने लगी और यह भावना जोर पकड़ने लगी कि इंग्लैंड के युद्ध में यहां के लोगों को बलिदान का बकरा न बनाया जाय। जब यह प्रस्ताव किया गया कि इंग्लैंड की तरह आयरलैंड में भी लामबन्दी जारी की जाय और स्वस्थ शरीरवाले तमाम नौजवानों को सेना में जबरन

भरती किया जाय तो सारे देश में विरोध की क्रोधाग्नि भड़क उठी। जरूरत पड़ने पर आयरलैण्ड बलपूर्वक भी इसे रोकने के लिए तैयार हो गया।

सन १९१६ के ईस्टर सप्ताह में डबलिन में उपद्रव हुआ और आयरी गणराज्य की घोषणा की गई। कुछ दिन की लड़ाई के बाद ब्रिटिश सरकार ने इसे कुचल दिया और बाद में इस अल्पकालिक बगावत में भाग लेनेवाले आयरलैण्ड के कुछ एक-से-एक वीर और होनहार नवयुवकों को गोलियों से उड़ा दिया गया। यह उपद्रव, जो 'ईस्टर उपद्रव' के नाम से मशहूर है, ब्रिटिश सत्ता को चुनौती देनेवाला कोई गंभीर प्रयत्न नहीं गिना जा सकता। यह तो दुनिया को केवल यह जतलाने का एक वीरतापूर्ण संकेत था कि आयरलैण्ड अब भी गणराज्य का स्वप्न देखता है और इच्छा से ब्रिटिश प्रभुत्व स्वीकार करने को कभी तैयार नहीं है। दुनिया को यह संकेत देने के लिए इस उपद्रव का आयोजन करनेवाले नवयुवकों ने जान-बूझकर अपने प्राणों की आहुति चढ़ा दी। वे अच्छी तरह जानते थे कि इस बार असफल होंगे, पर उन्हें आशा थी कि उनकी कुरबानी बाद में फल देगी और आयरलैण्ड को आजादी के नजदीक ले जायगी।

इसी उपद्रव के दिनों के आस-पास जर्मनी से आयरलैण्ड को हथियार लाने का प्रयत्न करनेवाले एक आयरवासी को अंग्रेजों ने गिरफ्तार कर लिया। यह व्यक्ति सर रोजर केसमेंट था, जो बहुत वर्षो तक इंग्लैंड के व्यापारिक राजदूत-विभाग में रह चुका था। केसमेंट पर लंदन में मुकदमा चलाया चलाया गया और उसे मृत्यु-दंड दिया गया। अदालत में अपराधी के कटघरे में खड़े होकर उसने जो बयान पढ़ा था, वह विशेष रूप से मर्मस्पर्शी और प्रभावशाली था और उसमें आयरी आत्मा के उत्कृष्ट देश-प्रेम को खोल-कर रख दिया गया था।

उपद्रव तो असफल रहा, पर उसकी असफलता में ही उसकी शानदार विजय थी। इसके बाद ब्रिटिश सरकार ने जो दमन किया, उसका आयर-वासी जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा। ऊपर-ऊपर तो आयरलैण्ड शान्त नजर आता था, लेकिन नीचे क्रोधाग्नि दहक रही थी और शीघ्र ही यह 'शिन फेन' के रूप में प्रकट हो गई। शिन फेन की विचारधारा बड़ी तेजी से फैलने लगी।

महायुद्ध समाप्त होने के बाद लंदन की पार्लमेंट के लिए सारे ब्रिटिश द्वीप-समूह में चुनाव हुए। आयरलैण्ड में, शिन फेन दल ने, अंग्रेजों के साथ कुछ सहयोग का समर्थन करनेवाले पुराने राष्ट्रवादियों को हराकर, पार्लमेंट के बहुत अधिक स्थानों पर कब्जा कर लिया। परन्तु शिन फेन दल के लोगों ने चुनाव इसलिए नहीं जीता था कि ब्रिटिश पार्लमेंट के अधिवेशनों में भाग लें। उनकी नीति बिल्कुल भिन्न थी। वे तो असहयोग और बहिष्कार में विश्वास रखते थे। इसलिए ये निर्वाचित शिन फेन लोग लंदन की पार्लमेंट में नहीं गये, और उन्होंने सन १९१९ में डबलिन में अपना खुद का गणतंत्री विधानमंडल बना डाला। उन्होंने आयरी गणराज्य की घोषणा कर दी और अपने विधानमंडल का नाम 'डॉइल आरन' रखा। वे लोग यह मानकर चले थे कि यह अल्स्टर समेत समूचे आयरलैण्ड के लिए है, पर अल्स्टरवालों का इससे अलग रहना स्वाभाविक ही था। कैथलिक आयरलैण्ड से उन्हें कोई प्रेम नहीं था। डॉइल आरन ने डि वेलेरा को अपना अध्यक्ष और ग्रिफिथ को उपाध्यक्ष चुना। उस समय संयोग से नवजात गणराज्य के ये दोनों सरदार ब्रिटिश जेलों में थे।

फिर एक बहुत ही निराला संघर्ष शुरू हुआ। यह लड़ाई अपूर्व थी और आयरलैण्ड तथा इंग्लैंड के बीच पिछली अनेक लड़ाइयों से बिल्कुल भिन्न थी। शिन फेन का संघर्ष एक प्रकार का असहयोग था, जिसमें हिंसा का कुछ पुट था। उन्होंने ब्रिटिश संस्थाओं के बहिष्कार का प्रचार किया और जहां सम्भव हुआ, वहां अपनी संस्थाएं स्थापित कर दीं, जैसे मामूली अदालतों के स्थान पर पंचायती अदालतें। देहात में पुलिस की चौकियों के विरुद्ध छापामार युद्ध का अवलम्बन किया गया। जेलों में भूख-हड़तालें करके शिन फेन कैदियों ने ब्रिटिश सरकार को बहुत परेशान किया। सबसे मशहूर भूख-हड़ताल, जिसने आयरलैण्ड को थर्रा दिया, कॉर्क नगर के लॉर्ड मेयर टैरेन्स मैकस्विनी की हुई। जब उसे जेल में डाला गया तो उसने विश्वास के साथ कहा कि वह जेल से जरूर छूटेगा, जिन्दा नहीं छूटा तो मरकर छूटेगा, और उसने अनशन कर दिया। पचहत्तर दिन के अनशन के बाद उसका मृतक शरीर जेल से बाहर निकाला गया।

माइकल कॉलिन्स शिन फेन बगावत के बहुत प्रमुख संगठनकर्ताओं

में गिना जाता है। शिन फेन की चतुर जुगतों ने आयरलैण्ड में ब्रिटिश सरकार को बहुत-कुछ अशक्त बना दिया और देहात में तो उसकी हस्ती ही मिटा दी। धीरे-धीरे दोनों ओर हिंसा का जोर बढ़ने लगा और कई बार अदले के बदले लिये गए। आयरलैण्ड में लड़ने के लिए विशेष ब्रिटिश फौजी दल भरती किया गया। अपनी वर्दियों के रंग के कारण यह दल 'काला और भूरा' के नाम से मशहूर हो गया। इस काले और भूरे दल ने निर्मम हत्याओं का ताण्डव नृत्य शुरू कर दिया। ये लोग शिन फेनों को आतंकित करके सिर झुकाने को मजबूर करने के इरादे से सोते हुए लोगों को गोलियों से मार देते थे। पर शिन फ़ेनों ने सिर नहीं झुकाया और अपना छापामार युद्ध जारी रखा। इसपर काले और भूरे दल ने भीषण प्रतिशोध का सहारा लिया और समूचे गांव-के-गांव तथा शहरों के बड़े भाग जलाकर राख कर डाले। आयरलैण्ड लड़ाई का विशाल मैदान बन गया, जिसमें दोनों पक्ष खून-खराबी और बरबादी में एक-दूसरे से होड़ लगाने लगे। एक पक्ष की ओर तो साम्राज्य का संगठित बल था, दूसरे की ओर मुट्ठीभर लोगों का लौह निश्चय था। सन १९१९ अक्तूबर से, १९२१ तक, दो वर्ष यह आंग्ल-आयरी युद्ध चला।

इसी दरमियान, १९२० में, ब्रिटिश पार्लमेंट ने फुर्ती से नया होमरूल बिल पास कर दिया। युद्ध से पूर्व पास किया गया पुराना संविधान, जिसके कारण अल्स्टर में विद्रोह की नौबत पहुंच गई थी, चुपचाप मन्सूख कर दिया गया। नये बिल के अनुसार आयरलैण्ड के दो टुकड़े कर दिये गए, एक तो अल्स्टर अथवा उत्तरी आयरलैण्ड और दूसरा देश का बाकी भाग, और दोनों के लिए अलग-अलग पार्लमेंटें रखी गईं। आयरलैण्ड वैसे ही छोटा-सा देश है, इसलिए विभाजन होने पर ये दोनों भाग एक छोटे-से टापू के नन्हें-नन्हें क्षेत्र हो गये। उत्तरी भाग के लिए अल्स्टर में नई पार्लमेंट बना दी गई, पर दक्षिण में, यानी आयरलैण्ड के बाकी भाग में, होमरूल कानून पर किसीने ध्यान ही नहीं दिया। वे सब तो शिन फेन विद्रोह में संलग्न थे।

अक्तूबर, १९२१ में ब्रिटिश प्रधान मंत्री लॉयड जार्ज ने शिन फेनों से विराम-सन्धि की अपील की, ताकि समझौते की सम्भावना पर चर्चा की जा सके और उसकी बात मान ली गई। इसमें सन्देह नहीं कि अपने

विशाल साधनों द्वारा तथा सारे आयरलैण्ड को वीरान बनाकर इंग्लैंड अन्त में शिन फेनों को कुचल ही डालता, परन्तु आयरलैण्ड में इस नीति के कारण वह अमरीका तथा अन्य देशों में बहुत बदनाम होता जा रहा था। संघर्ष जारी रखने के लिए अमरीका में रहनेवाले तथा ब्रिटिश उपनिवेशों तक में रहनेवाले आयरी लोगों ने आयरलैण्ड को खूब धन भेजा। परन्तु शिन फेन लोग भी थक चुके थे, क्योंकि उनपर बड़ा भारी बोझ पड़ा था।

अंग्रेज तथा आयरी प्रतिनिधि लंदन में मिले और दो महीने की चर्चा तथा तर्क-वितर्क के बाद दिसम्बर, १९२१ में एक अस्थायी समझौते पर दोनों के हस्ताक्षर हो गये। इसमें आयरी जनता के गणराज्य को तो मान्यता नहीं दी गई, परन्तु दो-एक मामलों को छोड़कर इसमें आयरलैण्ड को उससे कहीं अधिक आजादी मिल गई, जितनी किसी उपनिवेश को अभीतक प्राप्त थी। इतने पर भी आयरी प्रतिनिधि इसे स्वीकार करने को राजी नहीं थे, और उन्होंने तभी अपनी स्वीकृति दी, जब इंग्लैंड ने तात्कालिक और भयंकर युद्ध की धमकी की तलवार उनके सर पर चमकाई।

इस सन्धि के ऊपर आयरलैण्ड में जबरदस्त खींच-तान हुई—कुछ लोग इसके समर्थक थे, अन्य लोग घोर विरोधी थे। इस सवाल पर शिन फेन दल के दो टुकड़े हो गये। अन्त में जाकर दॉइल आरन ने इस सन्धि को स्वीकार कर लिया, और 'आयरिश आजाद राज्य' की स्थापना हुई, जो आयरलैण्ड में सरकारी तौर पर 'साओर-स्टाथ आरन' कहलाता है। परन्तु इसके फलस्वरूप शिन फेन दल के पुराने साथियों के बीच गृह-युद्ध छिड़ गया। दॉइल आरन का अध्यक्ष डि वेलेरा इंग्लैंड के साथ सन्धि के विरुद्ध था तथा अन्य बहुत-से लोग भी विरुद्ध थे; उधर माइकल कॉलिन्स तथा दूसरे लोग पक्ष में थे। देश में कई महीनों तक गृह-युद्ध जोरों के साथ चलता रहा और विपक्षियों को दबाने के लिए सन्धि तथा आजाद राज्य के समर्थकों को ब्रिटिश फौजों ने सहायता दी। गणराज्यवादियों ने माइकल कॉलिन्स को गोली से मार दिया और इसी प्रकार गणतंत्री नेताओं को आजाद राज्य के हामियों ने गोलियों से मार दिया। सारी जेलें गणतंत्रियों से भर गईं। यह सारा गृह-युद्ध और आपसी विद्वेष आयरलैण्ड के वीरतापूर्ण स्वातंत्र्य-संग्राम का बहुत ही दुखान्त परिणाम था।

गृह-युद्ध धीरे-धीरे ठंडा पड़ गया, पर गणतंत्री फिर भी आजाद राज्य को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हुए। यहांतक कि वे गणतंत्री भी, जो डॉइल (आजाद राज्य की पार्लामेंट) में चुने गये थे, उसके अधिवेशनों में उपस्थित होने से मुकर गये, क्योंकि वफादारी की जिस शपथ में बादशाह का नाम आता था, उसे ग्रहण करने में उन्हें आपत्ति थी। इसलिए डि वैलेरा तथा उसका दल डॉइल से दूर रहे और दूसरे आजाद राज्य दल ने, जिसका नेता आजाद राज्य का अध्यक्ष कॉस्ग्रेव था, उनको अनेक प्रकार से कुचलने का प्रयत्न किया।

आयरी आजाद राज्य के निर्माण से इंग्लैंड की साम्राज्य-संबंधी नीति में दूर तक असर डालनेवाले परिणाम पैदा हो गये। आयरी सन्धि के द्वारा आयरलैण्ड को उससे कहीं अधिक परिमाण में स्वाधीनता मिल गई थी, जितनी उस समय क़ानूनन अन्य उपनिवेशों को प्राप्त थी। ज्योंही आयरलैण्ड को यह मिली, अन्य उपनिवेशों ने भी उसे आपसे-आप प्राप्त कर लिया, और औपनिवेशिक दरजे की कल्पना में परिवर्तन पैदा हो गया। इंग्लैंड तथा उपनिवेशों के जो कई साम्राज्य-सम्मेलन हुए, उनके फलस्वरूप उपनिवेशों की अधिकाधिक स्वाधीनता की दिशा में और भी परिवर्तन हुए। इस प्रकार उपनिवेशों की स्थिति बदलती और सुधरती चली गई तथा वे ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल में इंग्लैंड के समकक्ष राष्ट्र माने जाने लगे।

पर यह समानता जितनी कल्पना में है, उतनी व्यवहार में नहीं। आर्थिक दृष्टि से उपनिवेश इंग्लैंड तथा ब्रिटिश पूंजी के साथ बंधे हुए हैं और उनपर आर्थिक दबाव डालने के बहुत-से रास्ते हैं। साथ-ही-साथ, ज्यों-ज्यों उपनिवेशों का विकास होता जाता है, उनके आर्थिक स्वार्थ इंग्लैंड के आर्थिक स्वार्थों से टकराने के कारण बनने लगते हैं। इस प्रकार साम्राज्य धीरे-धीरे कमजोर पड़ता जाता है।

आयरी संधि का अर्थ था ब्रिटिश पूंजी द्वारा कुछ हद तक आयरलैंड के शोषण का जारी रहना, और गणराज्य के आन्दोलन के पीछे असली झगड़ा यही था। डि वैलेरा तथा गणतंत्री लोग ज्यादा गरीब किसानों के, निम्न मध्य-वर्गों के, और गरीब दिमागी लोगों के, प्रतीक थे। कास्ग्रेव तथा आजाद राज्यवाले सम्पन्न मध्यम-वर्ग के तथा सम्पन्न किसानों के

प्रतिनिधि थे, और इन दोनों वर्गों के हित अंग्रेजी व्यापार में थे और अंग्रेजी पंजी का हित इनमें था।

कुछ समय बाद डि वेलेरा ने अपने दांव-पेच बदलने का निश्चय किया। वह तथा उसका दल डॉइल आरन में गये और उन्होंने वफादारी की शपथ भी ले ली, पर साथ ही यह जाहिर कर दिया कि यह शपथ उन्होंने सिर्फ़ रस्म पूरी करने के लिए ली है, और अपना बहुमत होते ही वे उसे हटा देंगे। सन १९३२ के शुरू में होनेवाले अगले चुनावों में डि वेलेरा को आज़ाद राज्य की पार्लमिण्ट में यह बहुमत प्राप्त भी हो गया और उसने तुरन्त अपने कार्यक्रम पर अमल करना शुरू कर दिया। गणराज्य के लिए लड़ाई तो अब भी चल रही थी, पर लड़ाई का ढंग बदल गया था। डि वेलेरा ने वफ़ादारी की शपथ को मिटा देने का इरादा जाहिर किया और ब्रिटिश सरकार को यह भी सूचित कर दिया कि आगे से वह जमीन की वार्षिक किस्तें नहीं देगा। जब आयरलैण्ड की जमीनें बड़े-बड़े जमीदारों से ले ली गई थीं, उन्हें इनका भरपूर मुआवजा दिया गया था और इसका रुपया हर साल उन किसानों से वसूल किया जाता था, जिन्हें ये जमीनें दी गई थीं। यह सिलसिला अभीतक जारी था। डि वेलेरा ने कह दिया कि आगे से वह पाई भी न देगा।

इसपर इंग्लैण्ड में फौरन ही बावेला मच गया और ब्रिटिश सरकार से झगड़ा ठन गया। अव्वल तो ब्रिटिश सरकार ने यह आपत्ति की कि डि वेलेरा द्वारा वफादारी की शपथ का उठाया जाना सन १९२१ ई० की आयरी सन्धि का भंग है। डि वेलेरा ने कहा कि उपनिवेशों के सम्बन्ध में की गई घोषणा के अनुसार अगर आयरलैण्ड और इंग्लैण्ड समकक्ष राष्ट्र हैं और अगर हरएक को अपना संविधान बदलने की आजादी है तो यह स्पष्ट है कि आयरलैण्ड को संविधान में से वफादारी की शपथ को बदलने या निकाल देने का अधिकार है। इसलिए अब सन १९२१की सन्धि का प्रश्न ही नहीं उठता।

दूसरे, वार्षिक किस्तों के बन्द किये जाने पर तो ब्रिटिश सरकार ने और भी जोर-शोर से आपत्ति की और कहा कि यह अहदनामे का और कर्ज की जिम्मेदारी का बहुत बेहूदा प्रतिज्ञा-भंग है। डि वेलेरा ने इस बात को नहीं माना। जब वार्षिक क़िस्तें चुकाने का समय आया और वे

नहीं दी गई तो इंग्लैण्ड ने आयरलैण्ड के विरुद्ध एक नया युद्ध छेड़ दिया। यह आर्थिक युद्ध था। इंग्लैण्ड में आनेवाले आयरी माल पर भारी संरक्षण चुंगियां लगा दी गई, ताकि इंग्लैण्ड को अपनी उपज भेजनेवाले आयरी किसान बरबाद हो जायं और आयरी सरकार समझौता करने पर मजबूर हो जाय। आयरी सरकार ने इसके जवाब में आयरलैण्ड आनेवाले ब्रिटिश माल पर चुंगियां लगा दीं। इस आर्थिक युद्ध ने दोनों ओर के किसानों और उद्योगों को भारी क्षति पहुंचाई। परन्तु अपमानित राष्ट्रीयता और शान का खयाल दोनों में से किसी भी पक्ष के झुकने के मार्ग में बाधक बन गये।

सन १९३३ के प्रारम्भ में आयरलैण्ड में नये चुनाव हुए और इनमें जब डि वेलेरा पहले से भी ज्यादा सफल रहा और उसका पहले से भी ज्यादा बहुमत हो गया तो ब्रिटिश सरकार को बहुत खीज हुई। इसका अर्थ यह था कि आर्थिक शिकंजा कसने की ब्रिटिश नीति सफल नहीं हुई।

बस, आज डि वेलेरा आयरी सरकार का प्रमुख है, वफादारी की शपथ कभी की खत्म हो गई; वार्षिक किस्तों का भुगतान सदा के लिए बन्द कर दिया है; गवर्नर जनरल का पुराना पद भी तोड़ दिया गया है, और इस पद पर, जिसका अब कोई महत्व नहीं रह गया है, डि वेलेरा ने अपने दल के एक सदस्य को नियुक्त कर दिया है।

पर एक बड़ी बाधा है। डि वेलेरा तथा उसके दल की सबसे बड़ी इच्छा यह है कि अल्स्टर समेत एकीकृत आयरलैण्ड की एक केन्द्रीय सरकार हो। आयरलैण्ड इतना छोटा है कि उसके दो टुकड़े नहीं किये जा सकते। जबरदस्ती से यह काम नहीं हो सकता। सन १९१४ में ब्रिटिश सरकार के ऐसे प्रयत्न के कारण बगावत होते-होते रह गई थी। और आजाद राज्य तो अल्स्टर को मजबूर कर ही नहीं सकता, न ऐसा करने का उसका स्वप्न में भी कोई इरादा है। डि वेलेरा को आशा है कि वह अल्स्टर की सद्भावना प्राप्त कर लेगा और इस प्रकार दोनों को एक कर देगा। पर इस आशा में अव्यावहारिक आशावाद ज्यादा है, क्योंकि प्रोटैस्टेण्ट अल्स्टर का कैथलिक आयरलैण्ड के प्रति घोर अविश्वास अभीतक चला आ रहा है।

टिप्पणी (सन् १९३८) : कुछ वर्ष चलने के बाद दोनों देशों के

बीच यह आर्थिक युद्ध दोनों देशों के एक आपसी राजीनामे के द्वारा खत्म कर दिया गया। यह राजीनामा, जिससे सालाना किस्तों की समस्या का और रुपये-पैसे के अन्य देने-पावने का निपटारा हो गया, आयरी आजाद राज्य के लिए बहुत फायदेमन्द रहा। डि वेलेरा ने ब्रिटिश सरकार और ताज से अनेक सम्बन्ध विच्छेद कर लिये हैं। आयरलैण्ड का नाम अब 'आयर' रख दिया गया है। आयर के सामने सबसे ज्यादा जरूरी प्रश्न देश की एकता है, जिसमें अल्स्टर भी शामिल हो। पर अल्स्टर अभी राजी नहीं है।

: ४१ :

कमालपाशा

सन १९१८ के अन्त में तथा १९१९ के शुरू में तुर्क लोग बिल्कुल बेदम हो गये थे और उनके हौसले बिल्कुल पस्त हो चुके थे। उन्हें बहुत भीषण मुसीबतें सहनी पड़ी थीं। महायुद्ध के पहले बलकान युद्ध हुआ था और उससे भी पहले इटली के साथ युद्ध हुआ था। तुर्कों ने हमेशा अद्भुत सहनशक्ति का परिचय दिया है, मगर लगभग आठ साल के लगातार युद्ध ने उनकी कमर तोड़ दी—ऐसी हालत में किसी भी कौम की कमर टूट जाती। वे सारी आशाएं छोड़ बैठे और अपने-आपको बदनसीबी के हवाले करके मित्र-राष्ट्रों के फैसले का इन्तजार करने लगे।

दो वर्ष पूर्व, युद्ध के दौरान में, मित्र-राष्ट्रों ने इटली के साथ एक गुप्त समझौता कर लिया था, जिसमें उसे स्मर्ना तथा एशिया कोचक का पश्चिमी भाग देने का वादा था। इससे पहले कागजी तौर पर कुस्तुन्तुनिया रूस को भेंट कर दिया गया था और अरबी देशों का मित्र-राष्ट्रों ने आपस में बंटवारा करना तय कर लिया था। एशिया कोचक इटली को दिये जाने के बारे में इस अन्तिम गुप्त इकरारनामे पर रूस की रजामन्दी आवश्यक थी। पर इटली के दुर्भाग्य से, ऐसा होने के पहले ही, बोल्शेविकों के हाथ में सत्ता आ गई। इसलिए यह इकरारनामा मन्जूर नहीं हो पाया, जिसके कारण इटली मित्र-राष्ट्रों से बहुत कुढ़ा और नाराज हुआ।

उस समय यह परिस्थिति थी। मालूम होता था कि सुल्तान से लगाकर नीचे तक सारे तुर्क लोग बीत चुके हैं। 'यूरोप का रोगी' आखिर दम तोड़ चुका था, कम-से-कम नजर यही आता था। लेकिन कुछ तुर्क ऐसे भी थे, जो किस्मत या परिस्थिति के आगे सिर झुकाने को तैयार नहीं थे, भले ही उनका मुकाबला करना चाहे जितना निराशाजनक क्यों न दिखाई देता हो। कुछ समय तक तो वे चुपचाप और गुप्त रूप से अपना काम करते रहे। वे उन्हीं शस्त्रागारों से हथियार और युद्ध-सामग्री इकट्ठी करते रहे, जो सचमुच मित्र-राष्ट्रों के कब्जे में थे, और इन्हें जहाजों में भरकर काला सागर के मार्ग से अनातोलिया (एशिया कोचक) के भीतरी भाग को रवाना करते रहे। इन गुप्त कार्यकर्त्ताओं में मुस्तफा कमालपाशा प्रधान था।

अंग्रेज लोग मुस्तफा कमाल को फूटी आंख भी नहीं देख सकते थे। वे उसपर सन्देह करते थे और उसे गिरफ्तार करना चाहते थे। सुल्तान भी, जो पूरी तरह अंग्रेजों के अंगूठे के नीचे दबा हुआ था, उसे नहीं चाहता था। मगर उसने सोचा कि कमाल को भीतर की ओर बहुत दूर भेज देना निरापद चाल होगी, इसलिए कमालपाशा को पूर्वी अनातोलिया की सेना का इंस्पेक्टर-जनरल नियुक्त कर दिया गया। सच पूछो तो वहां देख-भाल करने के लिए कोई सेना ही नहीं थी, और असल में कमालपाशा से यह चाहा गया था कि वह तुर्क सिपाहियों से हथियार रखवाने का काम करे। कमाल के लिए यह बड़ा ही उपयुक्त अवसर था। उसने तपाक से इसे स्वीकार कर लिया और वह तुरन्त रवाना हो गया। उसका चला जाना अच्छा ही हुआ, क्योंकि उसके रवाना होने के कुछ ही घंटे बाद सुल्तान की मति पलट गई। कमाल के भय ने यकायक उसे दबा दिया और आधी रात गये उसने अंग्रेजों के पास खबर भेजी कि वे कमाल को रोक लें। पर चिड़िया तो उड़ चुकी थी!

कमालपाशा तथा कुछ गिने-चुने अन्य तुर्क अनातोलिया में राष्ट्रीय विरोध का संगठन करने लगे। शुरू-शुरू में वे चुपचाप और चौकस होकर चले और वहां पड़े हुए सैनिक अफसरों को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न करने लगे। जाहिरा तौर पर तो वे सुल्तान के कारकुनों की तरह काम करते

थे, पर कुस्तुन्तुनिया से आनेवाले आदेशों पर वे कोई ध्यान नहीं देते थे। घटनाचक्र उनकी सहायता कर रहा था। काकेशिया में अंग्रेजों ने आर्मीनिया का गणराज्य बनाया था और तुर्की के पूर्वी प्रान्त उसमें मिला देने का वादा किया था। (आजकल आर्मीनिया का गणराज्य सोवियत संघ का भाग है)। आर्मीनियाइयों और तुर्कों में कट्टर शत्रुता थी और बीते वर्षों में कभी एक ने और कभी दूसरे ने अनेक हत्याकांड किये थे। जबतक तुर्कों का प्रभुत्व था, तबतक तो इस खूनी खेल में उनकी ही जीत होती रही, खासकर अब्दुल हमीद के राज्य में। इसलिए अब तुर्कों को आर्मीनियाइयों के अधीन रखे जाने का अर्थ था उनका सर्वनाश। इस तरह मरने से उन्होंने लड़ना अच्छा समझा। इसलिए अनातोलिया के पूर्वी प्रान्तों के तुर्क कमाल-पाशा की अपीलों और जोश दिलानेवाली बातों के लिए तैयार थे।

इसी बीच एक दूसरी तथा बहुत महत्वपूर्ण घटना ने तुर्कों को जगा दिया। सन १९१९ के शुरू में इटालवी लोगों ने एशिया कोचक में अपने सैनिक उतारकर फ्रान्स तथा इंग्लैण्ड के साथ किये गए उस गुप्त समझौते को पूरा करना चाहा, जो अमल में नहीं आ पाया था। इंग्लैण्ड और फ्रान्स ने इसे बिल्कुल पसंद नहीं किया। उस समय वे इटालवी लोगों को बढ़ावा नहीं देना चाहते थे। जब उन्हें और कुछ न सूझा तो वे इसपर राजी हो गये कि स्मर्ना पर यूनानी सैनिक कब्ज़ा कर लें, ताकि इटालवी लोगों की पेशबन्दी हो जाय।

इस काम के लिए यूनान को क्यों पसन्द किया गया? फ्रान्सीसी तथा अंग्रेज सैनिक युद्ध-क्लान्त थे और बगावत पर उतारू थे। वे सैनिक सेवा से छुटकारा पाना चाहते थे और जितनी जल्दी हो सके, घर लौट जाना चाहते थे। इधर यूनानी लोग सुप्राप्य थे और यूनानी सरकार एशिया कोचक तथा कुस्तुन्तुनिया दोनों को अपने राज्य में मिलाने का और इस प्रकार पुराने बाइजेण्टाइन साम्राज्य को पुनर्जीवित करने का स्वप्न देख रही थी। दो बड़े योग्य यूनानी लायड जार्ज के, जो उस समय इंग्लैण्ड का प्रधान मंत्री था और मित्र-राष्ट्रों की मंडली में जिसका बहुत जोर था, मित्र थे। इनमें से एक तो यूनान का प्रधान मंत्री वेनिजेलोस था। दूसरा सर बेसील जहराफ के नाम से प्रसिद्ध एक बड़ा रहस्यमय व्यक्ति था, हालांकि उसका मूल नाम

बेसीलिओस जकरियास था। सन १८७७ में ही, जबकि यह नौजवान था, यह हथियार बनानेवाली एक अंग्रेजी कम्पनी का बलकान राज्यों में एजेण्ट बन गया था। जब महायुद्ध खत्म हुआ, यह सारे यूरोप में, और शायद सारे संसार में, सबसे धनी व्यक्ति था, और बड़े-बड़े राजनीतिज्ञ तथा सरकारें इसका आदर करने में गौरव अनुभव करते थे। इसे ऊंची-ऊंची अंग्रेजी तथा फ्रान्सीसी उपाधियां दी गईं; यह अनेक अखबारों का स्वामी था; और मालूम होता था कि यह परदे के पीछे से सरकारों पर खूब प्रभाव डालता था। अनेक लोगों का विश्वास है कि शुरू से ही वह ब्रिटिश खुफिया विभाग का आदमी था। इससे उसे धंधे में और राजनीति में बहुत मदद मिली और बार-बार होने वाले युद्धों में उसने करोड़ों का मुनाफा बटोरा।

इस कल्पनातीत धनी रहस्यमय व्यक्ति ने और वेनिजेलोस ने लायड जार्ज को इस बात पर राजी करा लिया कि यूनानी सैनिक एशिया कोचक में भेज दिये जायं। जहराफ इस कार्रवाई का पूरा खर्चा उठाने को तैयार हो गया।

यूनानी सैनिक अंग्रेजी जहाजों में समुद्र पार करके एशिया कोचक पहुंचे और मई, १९१९ में अंग्रेजी, फ्रान्सीसी और अमरीकी जंगी जहाजों की हिफाजत में स्मर्ना पर उतरे। इन सैनिकों ने, जो तुर्की को मित्र-राष्ट्रों की 'भेंट' थे, तुरन्त ही जबरदस्त पैमाने पर नर-संहार और अत्याचार शुरू कर दिये। वहां आतंक का ऐसा राज फैला कि युद्ध-क्लान्त संसार का कुंठित अन्तःकरण भी थर्रा उठा। खुद तुर्की में तो इसका बड़ा ही बुरा असर पड़ा, क्योंकि तुर्कों को पता लग गया कि मित्र-राष्ट्रों के हाथों उनकी कैसी बुरी हालत होती दिखाई देती है। और फिर अपने पुराने शत्रु तथा प्रजावर्ग यूनानियों द्वारा इस प्रकार मारा-काटा जाना और बर्ताव किया जाना! तुर्कों के हृदय में क्रोधाग्नि धधकने लगी और राष्ट्रीय आन्दोलन जोर पकड़ने लगा। यहांतक कहा जाता है कि यद्यपि कमालपाशा इस आन्दोलन का नेता था, परन्तु स्मर्ना पर यूनानियों का कब्जा इसका जन्मदाता था। अनेक तुर्की अफसर, जो उस समय तक डांवाडोल थे, इस आन्दोलन में शामिल हो गये।

सितम्बर, १९१९ में अनातोलिया के सिवास नामक स्थान में चुने हुए प्रतिनिधियों की एक कांग्रेस हुई। इसने विरोध के नये आन्दोलन पर स्वीकृति की मोहर लगा दी और कमाल की अध्यक्षता में एक कार्य-कारिणी कमेटी नियुक्त कर दी गई। मित्र-राष्ट्रों के साथ सुलह की न्यूनतम शर्तों का एक 'राष्ट्रीय करार' भी स्वीकार किया गया। इन शर्तों का आधार पूर्ण स्वाधीनता रखा गया। कुस्तुन्तुनिया में सुल्तान पर इसका असर पड़ा और वह कुछ डरा भी। उसने पार्लमेण्ट का नया अधिवेशन बुलाने का वादा किया और चुनावों की आज्ञा दी। इन चुनावों में सिवास कांग्रेस के लोगों को भारी बहुमत प्राप्त हुआ। कमालपाशा को कुस्तुन्तुनिया के लोगों पर विश्वास नहीं था और उसने नव-निर्वाचित डिपुटियों को वहां न जाने की सलाह दी। पर वे इसपर राजी नहीं हुए और रऊफबेग के नेतृत्व में वे इस्तम्बूल चले गये (कुस्तुन्तुनिया को अब मैं इसी नाम से पुकारूंगा)। उनके वहां जाने का एक कारण यह था कि मित्र-राष्ट्रों ने घोषित कर दिया था कि अगर नई पार्लमेण्ट इस्तम्बूल में सुल्तान की अध्यक्षता में बैठेगी तो वे उसे मान्यता दे देंगे। कमाल भी एक डिपुटी था, पर वह खुद नहीं गया।

नई पार्लमेण्ट जनवरी, १९२० में इस्तम्बूल में बैठी और उसने तुरन्त उस 'राष्ट्रीय करार' को स्वीकार कर लिया, जो सिवास कांग्रेस में रचा गया था। मित्र-राष्ट्रों के इस्तम्बूल-स्थित प्रतिनिधियों को यह बात अच्छी नहीं लगी और पार्लमेण्ट ने और भी जो बहुत-से काम किये, वे भी उन्हें अच्छे नहीं लगे। इसलिए छः सप्ताह बाद उन्होंने अपनी वही हस्ब-मामूल और जरा भौंड़ी चालबाजियां शुरू कर दीं, जिनका मिस्र में तथा अन्यत्र कई बार प्रयोग कर चुके थे। अंग्रेजी सेनापति अपनी सेना लेकर इस्तम्बूल में घुस आया, उसने शहर पर कब्जा कर लिया, फौजी कानून की घोषणा कर दी, रऊफबेग सहित चालीस राष्ट्रीय डिपुटियों को गिरफ्तार कर लिया और उन्हें देश-निकाला देकर माल्टा भेज दिया। अंग्रेजों के इस 'नरम' उपाय का अभिप्राय दुनिया को केवल यह जाहिर करना था कि मित्र-राष्ट्रों ने 'राष्ट्रीय करार' को नहीं माना था।

तुर्की में फिर उत्तेजना फैल गई। अब यह काफी स्पष्ट हो गया कि सुल्तान

अंग्रेजों के हाथों की कठपुतली है। अनेक तुर्की डिपुटी लोग भागकर अंगोरा चले गये, वहां पार्लमेण्ट की बैठक हुई और उसने अपना नाम 'तुर्की की महान राष्ट्रीय विधान सभा' रखा। उसने अपनेको देश की सरकार घोषित कर दिया और ऐलान कर दिया कि जिस दिन से अंग्रेजों ने इस्तम्बूल पर कब्जा किया, उसी दिन से इस्तम्बूल की सरकार का अस्तित्व जाता रहा।

इसके जवाब में सुल्तान ने कमालपाशा को तथा अन्य लोगों को बागी घोषित कर दिया और उन्हें मौत की सजा का हुक्म दे दिया। इसके अलावा उसने डोंड़ी पिटवा दी कि अगर कोई व्यक्ति कमालपाशा तथा उसके साथियों की हत्या कर देगा तो वह धार्मिक कर्तव्य का पालन करेगा और उसे लोक तथा परलोक दोनों में पुण्य प्राप्त होगा। याद रहे कि सुल्तान खलीफा, यानी अमीरउल-मोमिनीन, भी था और हत्या के खुले निमन्त्रण का उसका यह फतवा बड़ी भयंकर चीज था। कमालपाशा न सिर्फ ऐसा बागी था, जिसके पीछे सरकारी भेड़िये लगे हुए थे, बल्कि वह दीन से पथभ्रष्ट भी करार दिया गया था, जिसे कोई भी कट्टर या धर्मान्ध व्यक्ति कत्ल कर सकता था। सुल्तान ने राष्ट्रवादियों के विरुद्ध जिहाद बोल दिया और उनसे लड़ने के लिए गैर-सैनिकों की 'खलीफा की सेना' तैयार करवाई। मुल्लाओं वगैरह को उपद्रवों का आयोजन करने के लिए भेजा गया। जगह-जगह उपद्रव हुए और कुछ दिन तुर्की में गृह-युद्ध की आग धधकती रही। नगर-नगर के बीच, भाई-भाई के बीच, यह बड़ा कटुतापूर्ण संग्राम था और दोनों ओर निर्दय क्रूरता का परिचय दिया गया।

इधर स्मर्ना में यूनानी लोग ऐसा व्यवहार कर रहे थे, मानो वे ही देश के स्थायी स्वामी हों, और स्वामी भी बिल्कुल वहशियाना तौर के। उन्होंने उपजाऊ घाटियों को वीरान कर दिया और हजारों बेघर तुर्कों को वहां से खदेड़ दिया। तुर्कों की ओर से कोई कारगर मुकाबला न होने के कारण वे आगे बढ़ते चले गये।

राष्ट्रवादियों को एक दुखदायी स्थिति का सामना करना पड़ रहा था—घर में उनके विरुद्ध धार्मिक व्यवस्थावाला गृह-युद्ध, उधर विदेशी हमलावरों

की उनपर चढ़ाई, और सुल्तान तथा यूनानी दोनों की पीठ ठोकनेवाली महान मित्र-राष्ट्रीय शक्तियां, जो जर्मनी पर विजय प्राप्त करने के बाद सारी दुनिया पर हावी हो रही थीं। लेकिन कमालपाशा ने अपने लोगों को यह नारा दिया कि "जीतो या मर मिटो।" एक अमरीकी ने जब उससे पूछा कि अगर राष्ट्रवादी असफल रहे तो क्या होगा तो उसने जवाब दिया, "जो राष्ट्र जीवन और स्वाधीनता के लिए आखिरी कुरबानियां करता है, वह कभी असफल नहीं होता। असफलता का अर्थ है कि राष्ट्र मर चुका है।"

मित्र-राष्ट्रों ने कम्बख्त तुर्की के लिए जो संधि-पत्र तैयार किया था, वह अगस्त, १९२० में प्रकाशित कर दिया गया। यह 'सेवर की सन्धि' कहलाई। इसने तुर्की की आजादी का अन्त कर दिया; स्वाधीन राष्ट्र की हैसियत से तुर्की को मौत की सजा सुना दी गई। इसके अनुसार तुर्की के सिर्फ टुकड़े-टुकड़े ही नहीं कर दिये गए, बल्कि खुद इस्तम्बूल तक में धरना देने और कब्जा बनाये रखनेवाला एक मित्र-राष्ट्रीय कमीशन नियुक्त कर दिया गया। सारे देश में विषाद छा गया और प्रार्थनाओं तथा हड़ताल के साथ राष्ट्रीय मातम का दिन मनाया गया। उस दिन अखबारों के पृष्ठों पर चारों ओर काली किनारियां छापी गईं। पर इससे क्या होता था, क्योंकि सुलतान के प्रतिनिधि सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर कर चुके थे। हां, राष्ट्रवादियों ने उसे घृणा के साथ ठुकरा दिया, और सन्धि-पत्र के प्रकाशन का यह परिणाम हुआ कि उनका बल बढ़ने लगा और अपने देश की मिट्टी बिल्कुल खराब होने से बचाने के लिए दिन-पर-दिन अधिक तुर्क उनके दल में शामिल होने लगे।

परन्तु बगावत से भरे तुर्की पर इस सन्धि का अमल कौन कराता? मित्र-राष्ट्र खुद यह काम नहीं करना चाहते थे। उन्होंने अपनी सेनाओं को विघटित कर दिया था और घर में उन्हें सेना से निकले हुए सिपाहियों तथा मजदूरों के बिगड़े हुए मिजाज का सामना करना पड़ रहा था। पश्चिमी यूरोप के देशों में अभीतक वातावरण में विद्रोह की भावना मौजूद थी। उधर मित्र-राष्ट्रों में आपस में ही नाइत्तफाकी पैदा हो रही थी और वे युद्ध की लूट के बंटवारे पर लड़-झगड़ रहे थे। पूर्व में इंग्लैण्ड को तथा कुछ हद तक फ्रान्स को एक खतरनाक स्थिति का सामना करना पड़ रहा था।

फ्रान्सीसी 'आदेश' के अधीन सीरिया में असन्तोष की आग फैल रही थी और वहां गड़बड़ की सम्भावना थी। मिस्र में खूनी उखाड़-पछाड़ हो ही चुकी थी, जिसे अंग्रेजों ने कुचल दिया था। भारत में १८५७ के विद्रोह के बाद बगावत का पहला महान आन्दोलन तैयार हो रहा था, यद्यपि यह शान्तिपूर्ण था। यह गांधीजी के नेतृत्व में असहयोग का आन्दोलन था और खिलाफत का सवाल तथा तुर्की के साथ किया गया बर्त्ताव इस आन्दोलन के मुख्य मुद्दों में था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मित्र-राष्ट्र इस स्थिति में नहीं थे कि खुद अपनी ही सन्धि तुर्की पर लाद सकें। न वे तुर्क राष्ट्रवादियों द्वारा इसकी खुल्लमखुल्ला अवहेलना ही सहने को तैयार थे। इसलिए उन्होंने अपने दोस्त वैनिजेलोस तथा जहराफ का सहारा ढूढ़ा और ये दोनों यूनान की ओर से इस काम को अंजाम देने के लिए पूरी तरह तैयार हो गये। किसीको यह आशा नहीं थी कि पस्त-हिम्मत तुर्क लोग कुछ ज्यादा परेशान करेंगे, और एशिया कोचक की लूट हथियाने लायक थी। इसलिए और भी ज्यादा यूनानी सैनिक भेजे गये, और यूनानी-तुर्की-युद्ध बड़े पैमाने पर छिड़ गया। १९२० के ग्रीष्म तथा शरद भर में विजय-लक्ष्मी ने यूनानियों का साथ दिया और उन्होंने सामना करनेवाले तुर्कों को खदेड़ दिया। कमालपाशा और उसके साथियों के हाथ में सेना के जो बचे-खुचे टुकड़े रह गये थे, उन्हींमें से एक कारगर सेना तैयार करने के लिए उन्होंने जी-तोड़ परिश्रम किया। जिस समय उन्हें सहायता की अत्यन्त आवश्यकता पड़ी, तभी उन्हें सहायता मिल गई, और ठीक मौके पर मिल गई—यानी सोवियत रूस ने हथियारों तथा धन से उन्हें मदद पहुंचाई, क्योंकि इंग्लैण्ड को दोनों ही अपना एक-समान शत्रु मानते थे।

ज्यों-ज्यों कमाल का बल बढ़ने लगा, मित्र-राष्ट्रों के दिलों में इस संघर्ष के परिणाम के बारे में कुछ-कुछ शंका होने लगी और उन्होंने पहले से अच्छी शर्तें पेश कीं। पर कमालियों के लिए अब भी वे स्वीकार करने योग्य न थीं और उन्होंने इन्हें ठुकरा दिया। इसपर मित्र-राष्ट्रों ने यूनानी-तुर्की संघर्ष से अपना पिंड छुड़ाया और अपनी तटस्थता की घोषणा कर दी। यूनानियों को जंजाल में फंसवाकर उन्होंने उन्हें मंझधार में छोड़

दिया। यही नहीं, फ्रान्स ने और कुछ हद तक इटली ने भी, तुर्कों को दोस्त बनाने के गुप्त प्रयत्न किये, पर अंग्रेज अभीतक थोड़े-बहुत यूनानियों की ओर थे, लेकिन थे गैर-सरकारी तौर पर।

१९२१ की गरमियों में यूनानियों ने तुर्की की राजधानी अंगोरा पर कब्जा करने का जबरदस्त प्रयास किया। वे नगर के बाद नगर पर अधिकार करते हुए अंगोरा के पास तक आ पहुंचे, पर अन्त में सकरिया नदी पर उन्हें रोक दिया गया। इस नदी के पास तीन सप्ताह तक दोनों सेनाएं आपस में जूझती रहीं, सदियों पुराने सारे जातीय विद्वेष को लेकर निरन्तर लड़ती रहीं और एक ने दूसरे के साथ जरा भी रहम नहीं किया। सहनशक्ति की यह भीषण कसौटी बन गई। तुर्क तो बस किसी तरह डटे रहे, पर यूनानियों ने घुटने टेक दिये और वे पीछे हट गये। जैसाकि उसका ढंग रहा था, यूनानी सेना हर चीज को जलाती तथा नष्ट करती हुई पीछे लौटी और उसने दोसौ मील के उपजाऊ प्रदेश को वीरान बना दिया।

सकरिया नदी के संग्राम में तुर्कों की बस बाल-बाल जीत हुई थी। यह अन्तिम विजय किसी तरह भी नहीं थी, पर फिर भी इसकी गणना आधुनिक इतिहास के निर्णयात्मक संग्रामों में की जाती है। इसके फलस्वरूप धारा का रुख ही पलट गया। पूर्व तथा पश्चिम के बीच जिन बड़ी-बड़ी टक्करों ने पिछले दोसौ से भी अधिक वर्षों में एशिया कोचक की चप्पा-चप्पा जमीन को मनुष्यों के खून से तर कर दिया है, यह संग्राम उन्हींमें एक और था।

दोनों ओर की सेनाएं बेदम हो गई थीं और वे फिर शक्ति प्राप्त करने के लिए तथा दुबारा संगठित होने के लिए सुस्ताने लगी थीं, पर कमालपाशा का सितारा निस्सन्देह बुलन्दी पर था। फ्रान्सीसी सरकार ने अंगोरा से सन्धि कर ली। अंगोरा तथा सोवियत के बीच भी सन्धि हो गई। फ्रान्स द्वारा मान्यता दिये जाने से मुस्तफा कमाल को बहुत बड़ा नैतिक तथा भौतिक लाभ हुआ। इससे सीरिया की सरहद के तुर्की सैनिक यूनान के विरुद्ध लड़ने के लिए खाली हो गये। ब्रिटिश सरकार अभीतक कठपुतली सुल्तान को और इस्तम्बूल की निकम्मी सरकार को सहारा दे रही थी। इसलिए इस फ्रान्सीसी सन्धि से उसे धक्का पहुंचा।

अगस्त, १९२२ में, तुर्की सेना ने यकायक, पर पूरी सावधानी से तैयारी के बाद, यूनानियों पर हमला बोल दिया और उन्हें आसानी से समुद्र तक धकेल दिया। आठ दिनों में यूनानी लोग १६० मील पीछे हटे, लेकिन हटते-हटते भी उन्होंने जो भी तुर्की पुरुष, स्त्री या बच्चा रास्ते में पड़ा, उसे मारकर खूनी बदला लिया। तुर्कों ने भी कम निर्दयता नहीं दिखाई और वे यूनानियों को कैदी बनाने की झंझट में नहीं पड़े। जो थोड़े-से कैदी उन्होंने पकड़े, उनमें यूनानी सेना का सेनापति तथा अफसर थे। यूनानी सेना का अधिक भाग स्मर्ना से समुद्र के रास्ते निकल भागा, पर खुद स्मर्ना शहर का बड़ा भाग जला डाला गया।

इस विजय के बाद कमालपाशा ने दम नहीं लिया और अपनी सेनाओं को लेकर इस्तम्बूल की ओर कूच कर दिया। नगर के पास चनक नामक स्थान पर अंग्रेज सैनिकों ने उसे रोका और सितम्बर, १९२२ में कुछ दिनों तुर्की तथा इंग्लैण्ड के बीच युद्ध छिड़ जाने की सम्भावना रही। पर अंग्रेजों ने तुर्की की लगभग सभी मांगों को स्वीकार कर लिया और दोनों ने युद्ध-विराम सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिये, जिसमें अंग्रेजों ने यह वादा तक कर लिया कि वे थ्रेस में तबतक पड़ी हुई यूनानी फौजों को तुर्की से हटवा देंगे। तुर्की के पीछे सोवियत का भूत हमेशा खड़ा दिखाई दे रहा था, इसलिए मित्र-राष्ट्र ऐसा युद्ध नहीं छेड़ना चाहते थे, जिसमें रूस तुर्की की मदद पर आ जाय।

मुस्तफा कमाल न शानदार विजय प्राप्त की और सन् १९१९ के मट्ठी-भर बागी अब बड़ी-बड़ी शक्तियों के प्रतिनिधियों से बराबरी की हैसियत में बात करने लगे। इस वीर दल को अनेक परिस्थितियों ने सहायता पहुंचाई थी—जैसे युद्धोत्तर प्रतिक्रिया, मित्र-राष्ट्रों में आपसी फूट, भारत तथा मिस्र में होनेवाली गड़बड़ों में इंग्लैण्ड की व्यस्तता, सोवियत रूस की सहायता, अंग्रेजों द्वारा तुर्क का अपमानित किया जाना, इत्यादि। मगर इन सब के अलावा तुर्कों की शानदार विजय के कारण थे खुद उन्हींके दृढ़ संकल्प और आजाद होने की बलवती इच्छा और तुर्की किसानों तथा सिपाहियों की अद्भुत सैनिक क्षमता।

लोजान में एक शान्ति-सम्मेलन हुआ और यह कई महीनों तक खिंचता

रहा। इंग्लैण्ड के अहंकारी और रोबदार प्रतिनिधि लार्ड कर्जन तथा कुछ-कुछ बहरे और कूढ़-मग्ज इस्मत पाशा के बीच अजीब कुश्ती हुई। इस्मत पाशा चुपचाप मुस्कराता रहता था और जिस बात को वह नहीं सुनना चाहता था उसे अनसुनी कर देता था, जिससे कर्जन को तीव्र झुंझलाहट होती थी। भारत के वाइसरायी ढंगों के आदी और वैसे भी बहुत घमंडी कर्जन ने गर्जन-तर्जन के तरीकों का प्रयोग किया, पर बहरे और मुस्कराते इस्मत पर जूं तक नहीं रेंगी। आखिर तंग आकर कर्जन लौट गया और सम्मेलन भंग हो गया। सम्मेलन की बैठक बाद में फिर हुई, पर इस बार कर्जन के बजाय दूसरा ब्रिटिश प्रतिनिधि आया। 'राष्ट्रीय करार' में लिखित तमाम तुर्की मांगें, सिवा एक मांग के, मान ली गईं और जुलाई, १९२३ में लोजान के सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर हो गये। इस बार भी सोवियत रूस के सहारे ने और मित्र-राष्ट्रों के आपसी वैमनस्य ने तुर्की की मदद की।

गाजी, यानी विजयी, कमालपाशा को वे सब चीजें मिल गईं, जिन्हें प्राप्त करना उसका उद्देश्य था। लेकिन शुरू से ही उसने यह बुद्धिमानी की थी कि अपनी मांगें कम-से-कम रखी थीं और विजय की घड़ी में भी वह उन्हीं-पर जमा रहा। अरब देश, इराक, फिलस्तीन, सीरिया, वगैरह गैर-तुर्क प्रदेशों पर तुर्क प्रभुत्व स्थापित करने का विचार उसने बिल्कुल छोड़ दिया था। वह तो यही चाहता था कि तुर्क कौम का निवास-स्थान खास तुर्की आज़ाद हो जाय। वह नहीं चाहता था कि तुर्क लोग अन्य कौमों के मामलों में टांग अड़ायें, पर वह तुर्की में विदेशियों की भी कोई दस्तन्दाजी सहन करने को तैयार नहीं था। इस प्रकार तुर्की सघन और समान-जातिवाला देश बन गया। कुछ वर्ष बाद, यूनानियों के सुझाव पर, आबादी की अभूतपूर्व अदला-बदली हुई। अनातोलिया में बाकी बचे हुए यूनानी यूनान भेज दिये गए और उनके बदले में यूनान में रहनेवाले तुर्क बुला लिये गए। इस प्रकार लगभग पन्द्रह लाख की अदला-बदली हुई, और इनमें से अधिकांश कुटुम्ब पीढ़ियों से और सदियों से अनातोलिया या यूनान में रहते आये थे। यह कौमों की अजीब उखाड़-पछाड़ थी और इसने तुर्की के आर्थिक जीवन को बिल्कुल उलट-पलट दिया, क्योंकि यूनानी लोगों का वहां के व्यवसाय में खासतौर पर बड़ा भारी भाग था। लेकिन इससे तुर्की और भी अधिक एकजातीय

देश बन गया और आज शायद इसके जैसा एकजातीय देश यूरोप या एशिया में दूसरा कोई नहीं है।

लोजान की सन्धि के द्वारा तुर्की की एक के सिवा सारी मांगें पूरी हो गईं। यह अपवाद इराक की सरहद के पास विलायत यानी मोसूल प्रान्त था। चूंकि दोनों पक्ष इसके बारे में सहमत नहीं हो सके, इसलिए यह मामला राष्ट्र-संघ के सुपुर्द कर दिया गया। कुछ तो तेल के सोतों के कारण, पर ज्यादातर सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के कारण, मोसूल महत्व का प्रदेश था। मोसूल के पर्वतों पर अधिकार का अर्थ था कुछ हद तक तुर्की, इराक तथा ईरान पर, और रूस में काकेशिया पर भी, प्रभुत्व करना। इसलिए तुर्की के लिए इसका महत्व स्पष्ट था। इंग्लैण्ड के लिए भी यह उतना ही महत्वपूर्ण था, एक तो भारत जानेवाले खुश्की और हवाई रास्तों की रक्षा के लिए, दूसरे सोवियत रूस के विरुद्ध आक्रमण या बचाव की पंक्ति के के तौर पर। नकशा देखने से पता लग जायगा कि मोसूल की स्थिति कितनी महत्वपूर्ण है। इस प्रश्न पर राष्ट्र-संघ ने इंग्लैण्ड के पक्ष में फैसला दिया। तुर्कों ने इसे मानने से इन्कार कर दिया,और युद्ध की चर्चा फिर शुरू हो गई। पर अन्त में अंगोरा की सरकार झुक गई और मोसूल इराक के नये राज्य को दे दिया गया।

मुस्तफा कमाल और उसके साथियों को जो विजय प्राप्त हुई, उसका उन्होंने क्या किया? कमालपाशा पुरानी लकीर का फकीर बने रहने का कायल नहीं था। वह तुर्की को बाहर-भीतर पूरी तरह बदल देना चाहता था। लेकिन विजय के बाद असीम लोकप्रियता प्राप्त कर लेने पर भी उसे बड़ी सावधानी से आगे बढ़ना जरूरी था, क्योंकि किसी कौम को लम्बी परम्परा तथा धर्म की नींव पर खड़े हुए उसके प्राचीन रिवाजों से जबरदस्ती हटा देना कोई आसान काम नहीं होता। वह सुल्तानियत और खिलाफत दोनों का अन्त करना चाहता था, पर उसके अनेक साथी उससे सहमत नहीं थे और व्यापक तुर्क भावना भी शायद ऐसे परिवर्तन के विरुद्ध थी। कोई नहीं चाहता था कि कठपुतली सुल्तान वहीदुद्दीन एक दिन भी बना रहे। उससे लोग देशद्रोही के समान घृणा करते थे, जिसने अपने देश को विदेशियों के हाथ बेच देने का प्रयत्न किया था। परन्तु बहुत-से लोग एक तरह की

संवैधानिक सुल्तानियत और खिलाफत चाहते थे, जिसम वास्तविक सत्ता राष्ट्रीय विधान-सभा के हाथों में हो। पर कमालपाशा अपने उद्देश्य के साथ ऐसा कोई समझौता नहीं करना चाहता था, इसलिए वह अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

हमेशा की तरह इस बार भी अंग्रेजों ने यह अवसर दे दिया। जिस समय लोजान के शान्ति-सम्मेलन की व्यवस्था की जा रही थी, ब्रिटिश सरकार ने इस्तम्बूल में सुल्तान के पास उसका निमंत्रण भेजा, जिसमें सुल्तान से कहा गया कि शान्ति की शर्तों पर बातचीत करने के लिए प्रतिनिधि भेजे। साथ ही उससे यह भी प्रार्थना की गई थी कि इस निमंत्रण की खबर अंगोरा पहुंचा दे। अंगोरा की युद्ध जीतनेवाली राष्ट्रीय सरकार के प्रति इस उपेक्षा-पूर्ण व्यवहार ने, और कठपुतली सुल्तान को फिर आगे ढकेलने के इस इरादी प्रयत्न ने, तुर्की में सनसनी पैदा कर दी और तुर्कों को आग-बबूला कर दिया। उन्हें शंका हो गई कि अंग्रेज तथा धोखेबाज सुल्तान मिलकर कोई और षड्यंत्र रच रहे हैं। मुस्तफा कमाल ने इस भावना का तुरन्त फायदा उठाया और नवम्बर, १९२२ में राष्ट्रीय विधान-सभा से सुल्तानियत को मन्सूख करा डाला। पर सिर्फ खिलाफत के रूप में खिलाफत अब भी बाकी रह गई और यह घोषणा कर दी गई कि उसका उत्तराधिकार उस्मानी खान्दान में रहेगा। इसके थोड़े ही दिन बाद भूतपूर्व सुल्तान वहीदुद्दीन के विरुद्ध घोर देशद्रोह का आरोप लगाया गया। उसने खुली अदालत के सामने जाने की अपेक्षा भाग जाना बेहतर समझा और वह एक अंग्रेजी ऐम्बुलेन्स गाड़ी में बैठकर चोरी-छिपे भाग गया और इसने उसे एक अंग्रेजी जंगी जहाज तक पहुंचा दिया। राष्ट्रीय विधान-सभा ने उसके चचेरे भाई अब्दुल मजीद अफंदी को नया खलीफा चुन लिया, जो अब सिर्फ रस्म के लिए अमीर-उल-मोमिनीन था, राजनैतिक सत्ता उसके हाथ में कुछ नहीं थी।

अगले साल, १९२३ में, तुर्की गणराज्य की बाकायदा घोषणा होगई और उसकी राजधानी अंगोरा रखी गई। मुस्तफा कमाल राष्ट्रपति चुना गया और उसने सारी सत्ता अपनी मुट्ठी में कर ली, जिससे वह अधिनायक बन गया। विधान-सभा उसके आदेशों का पालन करने लगी। अब उसने अनेक पुराने रिवाजों पर हथौड़ा चलाना शुरू किया। धर्म के प्रति उसके

व्यवहार में ज्यादा शिष्टता नहीं थी। अनेक लोग, खासकर धार्मिक वृत्ति-वाले भोले लोग, उसके तरीकों से और अधिनायकत्व से असन्तुष्ट हो उठे, और वे नये खलीफा के चारों ओर जमा हो गये। कमालपाशा को यह बात जरा भी अच्छी नहीं लगी और वह अगला बड़ा कदम उठाने के लिए अवसर की प्रतीक्षा करने लगा।

उसे यह अवसर फिर जल्दी ही मिल गया और मिला भी बड़े अजीब ढंग से। आगा खां तथा भारत के भूतपूर्व न्यायाधीश अमीर अली ने लन्दन से उसके पास एक संयुक्त पत्र भेजा। उन्होंने भारत के करोड़ों मुसलमानों की वकालत का दावा किया और खलीफा के साथ किये गए दुर्व्यवहार का विरोध किया। उन्होंने अनुरोध किया कि खलीफा की प्रतिष्ठा कायम रखी जाय और उसके साथ अच्छा व्यवहार किया जाय। इस पत्र की नकलें उन्होंने इस्तम्बूल के कुछ अखबारों को भेज दीं। हुआ यह कि मूल पत्र के अंगोरा पहुंचने से पहले ही उसकी नकल इस्तम्बूल में प्रकाशित हो गई। इस पत्र में भड़कानेवाली कोई बात नहीं थी, पर कमालपाशा ने तुरन्त इसे धर दबाया और जबरदस्त हो-हल्ला मचा दिया। जिस अवसर की वह तलाश में था, वह उसे मिल गया था और वह इससे पूरा फ़ायदा उठाना चाहता था। बस, यह बात फैला दी गई कि तुर्कों में फूट डालने का यह एक और अंग्रेजी षड़यंत्र है। कहा गया कि आग़ा खां अंग्रेजों का ख़ास एजेण्ट है।

इस प्रकार कमालपाशा ने इस संयुक्त पत्र और आगा खां को लोगों की निगाह में गिरा दिया। पत्र-लेखकों को यह गुमान नहीं था कि इसके ये परिणाम निकलेंगे। पत्र को प्रकाशित करनेवाले बेचारे इस्तम्बूली सम्पादकों पर देशद्रोही तथा इंग्लैण्ड का एजेण्ट होने का इलजाम लगा दिया गया और उन्हें कठोर दंड दिये गए। इस प्रकार भावनाओं को खूब भड़काने के बाद मार्च, १९२४ में खिलाफत को उन्मलन करने का बिल राष्ट्रीय विधान-सभा में पेश किया गया और उसी दिन पास कर दिया गया। इस प्रकार आधुनिक रंगमंच से एक ऐसी संस्था का प्रस्थान हो गया, जिसने इतिहास में महान अभिनय किया था।

बतलाया जा चुका है कि तुर्की अब पूरा एकजातीय देश हो गया था, जिसमें विदेशी तत्व नहीं के बराबर थे। पर इराक तथा ईरान की

सीमाओं के आसपास पूर्वी तुर्की में अब भी एक गैर-तुर्क जाति थी। यह प्राचीन कुर्द जाति थी, जो ईरानी भाषा बोलती थी। ये लोग जिस कुर्दिस्तान के निवासी थे, उसके टुकड़े तुर्की, इराक, ईरान तथा मोसूल प्रदेश में बांट दिये गए थे। कुल तीस लाख कुर्दों में से आधे के लगभग अब भी खास तुर्की में बसे हुए थे। १९०८ के नौजवान तुर्क आन्दोलन के बाद यहां आधुनिक राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू हो गया था। वर्साई-सम्मेलन में भी कुर्दों के प्रतिनिधियों ने राष्ट्रीय स्वाधीनता की मांग रखी थी।

सन १९२५ में तुर्की के कुर्द क्षेत्र में बगावत फूट पड़ी। यह ठीक वही समय था, जब मोसूल का झगड़ा इंग्लैंड तथा तुर्की के बीच नाचाकी पैदा कर रहा था। मोसूल खुद एक कुर्द क्षेत्र था, जो तुर्की के उस भाग से मिला हुआ था, जहां बगावत हो रही थी। तुर्कों के लिए इस नतीजे पर पहुंचना स्वाभाविक था कि इस बगावत के पीछे इंग्लैंड का हाथ है और ब्रिटिश एजेंटों ने अधिक कट्टर कुर्दों को कमालपाशा के सुधारों के विरुद्ध भड़का दिया है। यह बतलाना सम्भव नहीं कि इस बगावत से ब्रिटिश एजेण्टों का कोई ताल्लुक था या नहीं, हालांकि यह तो जाहिर था कि उस मौके पर तुर्की में इस कुर्द गड़बड़ पर ब्रिटिश सरकार को खुशी हुई थी। अलबत्ता यह साफ दिखाई देता है कि इस उपद्रव में धार्मिक कट्टरता का बहुत बड़ा हाथ था और यह भी उतना ही स्पष्ट है कि कुर्द राष्ट्रीयता का भी इसमें बड़ा हाथ था। राष्ट्रीयता का भाव शायद सबसे जोरदार था।

कमालपाशा ने तुरन्त यह हल्ला मचा दिया कि तुर्क राष्ट्र खतरे में है, क्योंकि कुर्दों की पीठ पर इंग्लैंड है। उसने राष्ट्रीय विधान-सभा से एक कानून पास करा लिया कि भाषणों द्वारा या छपे साहित्य के द्वारा जनता की भावनाओं को भड़काने के लिए धर्म का उपयोग घोर देशद्रोह माना जाना चाहिए और उसके लिए कठोर-से-कठोर दंड दिये जाने चाहिए। मस्जिदों में ऐसे धार्मिक मतवादों का पढ़ाया जाना भी रोक दिया गया, जिनसे गणतंत्र के प्रति वफादारी की भावनाओं के गुमराह होने की संभावना हो। इसके बाद उसने बिना किसी दया-माया के कुर्दों को कुचलना शुरू किया और उनका फैसला करने के लिए हजारों की संख्या में 'स्वाधीनता की विशेष अदालतें' स्थापित कर दीं।

अनेक कुर्द नेता फांसी पर लटका दिये गए। वे अपने होठों पर कुर्दिस्तान की स्वाधीनता की प्रार्थना के साथ मरे।

मतलब यह कि जो तुर्क कुछ ही दिन पहले अपनी आजादी के लिए लड़ रहे थे, उन्होंने अपनी आजादी चाहनेवाले कुर्दों को कुचल दिया। यह अजीब बात है कि रक्षात्मक राष्ट्रीयता किस प्रकार आक्रमणकारी राष्ट्रीयता बन जाती है और आजादी के लिए लड़ाई दूसरों पर प्रभुत्व जमाने की लड़ाई बन जाती है। सन १९२९ में कुर्दों ने दूसरी बार विद्रोह किया और कम-से-कम उस समय तो इसे भी फिर कुचल दिया गया। लेकिन जो कौम आजादी प्राप्त करने पर तुली हो और उसकी कीमत चुकाने को तैयार हो, उसे हमेशा के लिए कोई किस प्रकार कुचल सकता है!

इसके बाद कमालपाशा ने उन सब लोगों पर गुस्सा उतारना शुरू किया, जिन्होंने राष्ट्रीय विधान-सभा में या बाहर उसकी नीति का विरोध किया था। अधिनायक की सत्ता की भूख हमेशा उसके प्रयोग के साथ बढ़ती है, वह कभी नहीं बुझती, वह किसी तरह का विरोध सहन नहीं कर सकती। बस, कमालपाशा ने भी हर तरह के विरोध पर सख्त नाराजी जाहिर की और जब एक धर्मान्ध व्यक्ति ने उसकी हत्या का प्रयत्न किया, तब तो मामला बिल्कुल ही बिगड़ गया। अब 'स्वाधीनता की अदालतें' गाजी पाशा का विरोध करनेवाले सब लोगों का फैसला करती हुई और उन्हें सख्त सजाएं देती हुई सारे तुर्की में दौरा करने लगीं, यहांतक कि अगर विधान-सभा के बड़े-से-बड़े व्यक्तियों और कमाल के पुराने राष्ट्रवादी साथियों ने भी विरोध किया तो उन्हें भी नहीं बख्शा गया। रऊफ बेग को, जिसे ब्रिटिश सरकार ने माल्टा में निर्वासित कर दिया था और जो बाद में तुर्की का प्रधान मंत्री हुआ, उसकी अनपस्थिति में ही सजा दे दी गई। स्वाधीनता के युद्ध में भाग लेनेवाले अन्य अनेक प्रमुख नेताओं तथा सेनापतियों को अपमानित किया गया और सजाएं दी गईं और कुछको तो फांसी पर लटका दिया गया।

तमाम विरोध का सफाया करके मुस्तफा कमाल अब एकछत्र अधिनायक बन गया। इस्मत पाशा उसका दाहिना हाथ था। उसके दिमाग में जो विचार भरे हुए थे, उनमें से अब बहुतों को उसने व्यवहार में

लाना शुरू किया। उसने बहुत छोटी-सी, पर नमूनेदार, चीज से शुरुआत की। उसने 'फैज' टोपी पर हमला किया, जो तुर्क की और कुछ हद तक मुसलमान की प्रतीक बन गई थी। पहले उसने होशियारी के साथ सेना से शुरुआत की। इसके बाद वह खुद हैट पहनकर बाहर निकला, जिससे लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ और अन्त में जाकर उसने फैज टोपी पहनना फौजदारी जुर्म ही क़रार दिया! सिर्फ टोपी को इतना ज्यादा महत्व देना जरा नादानी की बात लगती है। बहुत अधिक महत्व की बात तो यह है कि सिर के अन्दर क्या है, न कि सिर के ऊपर क्या रखा है। पर कभी-कभी छोटी-छोटी चीजें बड़ी-बड़ी चीजों की प्रतीक बन जाती हैं और सीधी-सादी फैज टोपी के द्वारा कमालपाशा ने पुराने रिवाजों और कट्टरवाद पर आक्रमण किया था। इस प्रश्न को लेकर दंगे हो गये। इन्हें दबा दिया गया और दंगाइयों को कठोर दंड दिये गए।

इस पहली बाजी को जीतकर मुस्तफा कमाल ने एक कदम और आगे बढ़ाया। उसने तमाम मठों और धर्म-स्थानों को बन्द कर दिया और तोड़ दिया और उनकी सारी सम्पत्ति जब्त कर ली। जो दरवेश इनमें रहते थे, उनसे कह दिया गया कि अपनी जीविका के लिए मजूरी करें। दरवेशों की खास पोशाक पर भी पाबन्दी लगा दी गई।

इससे भी पहले मुस्लिम मकतब तोड़ दिये गए थे और उनके स्थान पर राज्य के निरपेक्ष स्कूल खोल दिये गए थे। तुर्की में अनेक विदेशी स्कूल और कालिज थे। इनमें दी जानेवाली धार्मिक शिक्षा भी बन्द करा दी गई और किसीने ऐसा करने से इन्कार किया तो उसे बन्द करा दिया गया।

कानून में आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया गया। अभीतक अनेक बातों में कानून का आधार शरीअत था। अब स्वीजरलैंड का जाब्ता दीवानी और इटली का जाब्ता फौजदारी और जर्मनी का जाब्ता व्यापारी लागू कर दिये गए। इन मामलों से संबंध रखनेवाला पुराना इस्लामी कानून बदल गया। बहु-विवाह की प्रथा भी बन्द कर दी गई।

पुराने धार्मिक रिवाज के विरुद्ध जानेवाला दूसरा परिवर्तन था मानव-रूप के आलेखों, चित्रों और मूर्तियों की रचना को प्रोत्साहन दिया

जाना। इस्लाम में यह व्यवहार शरीअत के खिलाफ माना जाता है। मुस्तफा कमाल ने ये काम सिखाने के लिए कला-शालाएं खोल दीं।

कमालपाशा की हार्दिक इच्छा थी कि तुर्क स्त्रियां सब बन्धनों से मुक्त हो जायं। एक 'नारी अधिकार रक्षा समिति' बनाई गई और नौकरियों तथा धन्धों के दरवाजे स्त्रियों के लिए खोल दिये गए। सबसे पहले बुरके पर जोरदार धावा बोला गया। स्त्रियों को तो इस बुरके को फाड़ फेंकने का मौका मिलने की देर थी। कमालपाशा ने उन्हें यह मौका दिया और वे दौड़ी-दौड़ी चली आईं। उसने यूरोपीय ढंग के नृत्य को खूब प्रोत्साहन दिया। वह खुद तो इसका शौकीन था ही, साथ ही उसके मन में यह नारियों की मुक्ति का तथा पश्चिमी सभ्यता का प्रतीक बन गया। हैट और नाच प्रगति और सभ्यता के नारे बन गये। ये पश्चिम के कोई अच्छे प्रतीक नहीं थे, पर कम-से-कम ऊपरी सतह पर उनका असर पड़ा। तुर्की ने अपने जीवन का ढंग बदल दिया। परदे में पाली-पोसी हुई स्त्रियों की सारी पीढ़ी ने कुछ ही वर्षों में एकदम बदलकर वकीलों, अध्यापकों, डाक्टरों और न्यायाधीशों का काम सम्हाल लिया। लातीनी वर्णमाला के ग्रहण से तुर्की में टाइप-राइटरों का उपयोग बहुत बढ़ गया। इससे शीघ्र-लिपि जाननेवाले टाइपिस्टों की जरूरत बढ़ गई और इसका परिणाम हुआ स्त्रियों को और भी ज्यादा नौकरियां मिलना।

बच्चों को भी विविध प्रकार से प्रोत्साहन दिया गया कि वे पूरा विकास करके आत्म-निर्भर तथा सुयोग्य नागरिक बन जायं। एक बड़ी निराली संस्था 'बच्चों का सप्ताह' थी। कहा जाता है कि हर साल एक हफ्ते के लिए हर सरकारी कर्मचारी के स्थान पर नाममात्र के लिए एक-एक बच्चे को बैठा दिया जाता था और सारे राज्य का शासन बच्चे करते थे। मैं नहीं कह सकता कि यह व्यवस्था कैसे चलती होगी, पर यह सूझ बड़ी चित्ताकर्षक है, और मुझे यकीन है कि कुछ बच्चे चाहे जितने नादान और अनुभवहीन क्यों न हों, उनका व्यवहार हमारे बड़ी उम्रवाले और गंभीर और मोहर्रमी सूरत-वाले शासकों तथा सरकारी कर्मचारियों के व्यवहार से ज्यादा मूर्खतापूर्ण नहीं हो सकता।

एक छोटा-सा परिवर्तन, पर तुर्की के शासकों के नये दृष्टिकोण का

महत्वपूर्ण द्योतक, था सलाम करने के रिवाज का हटाया जाना। उसने स्पष्ट कह दिया कि हाथ मिलाना अभिवादन का ज्यादा सभ्य तरीका है और भविष्य में इसीका प्रयोग किया जाना चाहिए।

इसके बाद कमालपाशा ने तुर्की भाषा पर, या यूं कहो कि उसमें जिन्हें वह विदेशी तत्व मानता था, उनपर, जबरदस्त हमला बोल दिया। तुर्की भाषा अरबी लिपि में लिखी जाती थी और कमालपाशा इसे कठिन भी समझता था और विदेशी भी। मध्य-एशिया में सोवियतों के सामने भी इसी प्रकार की समस्या आई थी, क्योंकि अनेक तातारी कौमों की लिपियां अरबी या फारसी लिपियों से निकली हुई थीं। सन १९२४ में सोवियतों ने इस प्रश्न पर विचार करने के लिए बाकू में एक सम्मेलन बुलाया और इसमें यह निश्चय किया गया कि मध्य-एशिया की विभिन्न तातारी भाषाओं के लिए लातीनी लिपि काम में ली जाय। मुस्तफा कमाल इस प्रणाली की ओर आकर्षित हुआ और उसने इसे सीख लिया। उसने इसका प्रयोग तुर्की भाषा पर किया और इसके पक्ष में उसने खुद जोरदार कार्रवाई शुरू कर दी। लगभग दो वर्ष के प्रचार और सिखाई के बाद कानून के द्वारा एक तिथि निश्चित कर दी गई, जिसके बाद अरबी लिपि का प्रयोग वर्जित कर दिया गया और लातीनी लिपि अनिवार्य कर दी गई।

इस प्रकार तुर्की में लातीनी लिपि की जड़ जम गई, पर इसके बाद शीघ्र ही दूसरा परिवर्तन हो गया। यह देखा गया कि अरबी तथा फारसी शब्द इस लिपि में आसानी से नहीं लिखे जा सकते थे, उनके विशेष उच्चारण और ध्वनि-भेद इसमें व्यक्त नहीं किये जा सकते थे। विशुद्ध तुर्की शब्द इतने उम्दा नहीं थे, वे अधिक भौंड़े, अधिक सीधे और जोरदार थे और नई लिपि में आसानी से लिखे जा सकते थे। इसलिए यह फैसला किया गया कि तुर्की भाषा में से अरबी तथा फारसी शब्दों को निकाल दिया जाय और उनकी जगह विशुद्ध तुर्की शब्द रखे जायं। जैसाकि मैं बतला चुका हूं, कमालपाशा चाहता था कि जहांतक संभव हो, तुर्की को अरबी तथा अन्य पूर्वी प्रभावों से विलग कर दिया जाय।

भाषा में इन परिवर्तनों के कारण नगरों और व्यक्तियों के नामों में भी परिवर्तन हो गये हैं। कुस्तुन्तुनिया अब इस्तम्बूल हो गया है, अंगोरा अब

अंकारा है, और स्मर्ना अब इस्मीर है। तुर्की में व्यक्तियों के नाम आमतौर पर अरबी से लिये गए हैं—मुस्तफा कमाल भी अरबी नाम है। नवीन प्रवृत्ति शुद्ध तुर्की नाम रखने की हो गई है।

एक परिवर्तन, जिसके कारण बखेड़ा पैदा हो गया है, ऐसे कानून का बनाया जाना है कि इस्लामी नमाज और अजान भी तुर्की भाषा में हो। मुसलमान लोग हमेशा से मूल अरबी में नमाज पढ़ते आये हैं। इसलिए अनेक मौलवियों और मस्जिदों के मुल्लाओं ने महसूस किया कि यह अनुचित नवीनता है और उन्होंने अपनी नमाज अरबी में जारी रखी। पर तुर्की सरकार ने इस विरोध को भी अन्य विरोधों की भांति कुचल दिया है।

इन तमाम लम्बी-चौड़ी सामाजिक उलट-फेरों ने जनता के जीवन को बिल्कुल बदल दिया है और पुराने रिवाजों तथा धार्मिक लगावों से विलग एक नई पीढ़ी तैयार हो रही है। मगर महत्वपूर्ण होते हुए भी इन परिवर्तनों का देश के आर्थिक जीवन पर बहुत अधिक प्रभाव नहीं पड़ा है। शीर्ष पर कुछ छोटे-मोटे परिवर्तनों के सिवा इसका आधार वही बना हुआ है, जो पहले था।

खेती में कमालपाशा की ज्यादा दिलचस्पी थी, क्योंकि तुर्की किसान तुर्की राष्ट्र तथा सेना की रीढ़ रहा है। आदर्श फार्म बनाये गए, यांत्रिक हल जारी कर दिये गए और सहकारी समितियों को प्रोत्साहन दिया गया।

बाकी दुनिया की तरह तुर्की भी युद्ध के बाद की महामंदी में फंस गया था और उसे अपना जमा-खर्च बराबर करना मुश्किल हो गया था। पर वह तो मुस्तफा कमाल के नेतृत्व में धीरे-धीरे तथा दृढ़ता के साथ आगे बढ़ता रहा और मुस्तफा कमाल देश का सर्वोपरि नेता तथा अधिनायक बना रहा। उसे 'अता तुर्क' यानी देश-पिता की उपाधि दी गई।

इस प्रकार कमाल अतातुर्क की बुद्धिमत्तापूर्ण रहनमाई में तुर्की अपनी जातीय तथा अन्य समस्याओं से पिंड छुड़ाकर अंदरूनी विकास के कार्य में संलग्न हो गया। अतातुर्क नें अपने देशवासियों की उत्तम सेवा की थी, और जब नवम्बर, सन १९३८ में, उसकी मृत्यु हुई तो उसने इस संतोष के साथ प्राण त्याग किये कि उसे अपने कार्य में अपूर्व सफलता प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। इसके बाद इसका पुराना साथी सेनापति इस्मत इन्येनू तुर्की के राष्ट्रपति के पद पर आसीन हुआ।

कमाल अतातुर्क ने मध्य-पूर्व में इस्लाम के जानदार प्रेरक-बल को एक नई दिशा मे मोड दिया, इस्लाम ने नया वेश धारण कर लिया, मध्यकालीन विचारो का परित्याग कर दिया और इस प्रकार अपनेको आज के ससार की पक्ति मे ला खडा किया। मध्य-पूर्व के सारे इस्लामी देशो पर अतातुर्क के उदाहरण का जबरदस्त असर पडा है। यहा आधुनिक राष्ट्रीय राज्य स्थापित हो गये है, जिन्होने धर्म के बजाय राष्ट्रीयता को ही अपना आधार बनाया है।